आशीर्वचन

- शान्ति और समाधि की खोज हर मनुष्य की मंजिल है।
- समाधि की खोज में बढ़ते हुए आश्वस्त चरण मंजिल की दूरी को कम करते जाते हैं।
- मंजिल तक पहुंचने के लिए परम सत्य का साक्षात्कार आवश्यक है।
- अन्तश्चेतना में परम सत्य की सम्पूर्ण सत्ता का आकलन करने के लिए **भगवद्गीता** के कृष्ण ने कहा—**मामेकं शरणं व्रज**—मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुझे सत्य से मिला दूंगा।
- त्रिपिटकों के बुद्ध ने अभिप्सित को पाने के लिए त्रिशरण का सूत्र देते हुए कहा—

बुद्धं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि

- आगमों के उत्स महावीर ने चारों ओर से त्राण की संभावना व्यक्त करते हुए कहा—

अरहंते सरणं पवज्जामि
सिद्धे सरणं पवज्जामि
साहू सरणं पवज्जामि
केवलि पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।

- साधारण व्यक्ति स्वयं अपने जीवन-रथ का सारथ्य नहीं कर सकता, इसलिए उसके लिए किसी शक्तिशाली सत्ता की शरण स्वीकार करना आवश्यक हो गया।
- हमारे युवाचार्य महाप्रज्ञ इन सब शरणों से ऊपर उठकर कहते हैं—अप्पाणं सरणं गच्छामि—मैं अपनी आत्मा की शरण स्वीकार करता हूं।
- यह अद्वैत की भाषा है। इसमें व्यक्ति स्वयं ही स्वयं का त्राता बनता है।
- यहां शरण देने वाला परिसर में नहीं, व्यक्ति के अभ्यन्तर में है। यहां किसी

परमसत्ता और आत्मसत्ता के बीच का द्वैत समाप्त हो जाता है।

- वास्तव में गीता, त्रिपिटक और आगमों के शरण आत्मा से भिन्न नहीं है, इसलिए शान्ति और समाधि की राह अपनी शरण में जाने से ही खुल सकती है।
- जो व्यक्ति अपनी शरण को नहीं खोज पाया है, वह दूसरे की शरण में जाकर भी निश्चिन्त नहीं हो सकता।
- यह तथ्य मात्र काल्पनिक उपज नहीं है, शाश्वत सत्य है। पारम्परिक नहीं है, जीवन में प्रयुक्त है। श्रुतानुश्रुत नहीं है, अनुभव-पूत है इसलिए मैं इसका मूल्यांकन करता हूँ।
- **'अप्पाणं सरणं गच्छामि'** महाप्रज्ञ की उस अनुभव-पूत वाणी का संकलन है, जो आत्म-समाधि के क्षणों में उद्गीत हुई है।
- समाधि की खोज में निकले हुए यायावरों के लिए यह कभी नहीं चुकने वाला पाथेय है। इसका पठन, मनन और निदिध्यासन समाधान की नई दिशाओं का उद्घाटन करेगा और व्यक्ति को अपनी शरण में पहुँचा देगा, ऐसा विश्वास है।

आचार्य तुलसी

८-१२-८०
दशाणी गेस्ट हाऊस,
सुजानगढ़

प्रस्तुति

मनुष्य का जीवन व्याधि, आधि और उपाधि—इन तीन दिशाओं में चल रहा है। कभी शारीरिक कष्ट, कभी मानसिक कष्ट और कभी भावनात्मक कष्ट। कभी-कभी तीनों एक साथ। कष्ट होना अस्वाभाविक नहीं है। प्राकृतिक और सामाजिक प्रभावों के बीच जीने वाला व्यक्ति कष्ट से मुक्त नहीं रह सकता। पर मनुष्य नहीं चाहता कि कष्ट हो। वह ऐसी अवस्था में रहना चाहता है जो कष्टों से अतीत हो। वह अवस्था है समाधि। उस अवस्था में मानसिक और भावनात्मक कष्ट नहीं होते, शारीरिक कष्ट प्रायः नहीं होता और कभी हो भी जाता है तो उसे शान्तभाव से सहने की शक्ति जाग जाती है।

चिकित्सा शास्त्र में व्याधि-शामक उपाय बतलाए गये हैं। मानसिक चिकित्सा में आधि-शामक उपाय मिलते हैं। उपाधि-शामक उपाय केवल अध्यात्म में मिलते हैं। उपाधि (भावनात्मक, आवेश, कषाय) का शमन होता है, तब शारीरिक और मानसिक कष्ट अपने आप कम हो जाते हैं। समाधि उपाधि की विपरीत अवस्था है। जैसे-जैसे उपाधि कम होती है, वैसे-वैसे समाधि की घटना घटती है। समाधि की साधना से उपाधि शान्त होती है। उसके शान्त होने का अर्थ है—समाधि।

प्रस्तुत पुस्तक में समाधि और उसकी साधना का निदर्शन है। साधना का एक मुख्य सूत्र है—प्रेक्षा। वह समाधि का आदि-बिन्दु भी है और चरम-बिन्दु भी। आदि-बिन्दु में चित्त की निर्मलता का दर्शन होता है और चरम-बिन्दु में चेतना सभी प्राणियों से मुक्त हो जाती है। मध्य-बिन्दु में वह प्रभावित और अ-प्रभावित—दोनों अवस्थाओं में रहती है।

वर्षों पहले मेरी यह धारणा थी कि जैन साधना-पद्धति में समाधि के तत्त्व अल्पमात्रा में उपलब्ध हैं। अब धारणा बदल चुकी है। महर्षि पतंजलि ने धारणा, ध्यान और समाधि का भाग किया है। जैन दर्शन में ऐसा विभाग नहीं है। समाधि ध्यान के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों में उसका प्रयोग मिलता है। इसके तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। उत्तराध्ययन (२९वां और ३२वां अध्ययन), भगवई (शतक ९), समवाओ (३२), ठाणं, दशाश्रुतस्कंध आदि अनेक आगमों में इसके तत्त्व विद्यमान हैं।

प्रस्तुत कृति में समाधि का शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के सन्दर्भ में अध्ययन किया गया है। मैं मानता हूं कि शरीर-शास्त्र के सन्दर्भ में समाधि के रहस्यों की बहुत स्पष्ट जानकारी मिल जाती है। विज्ञान प्रायोगिक दर्शन है, इसलिए धर्म और दर्शन के बीच में अभेद्य दीवार नहीं होनी चाहिए। वर्तमान में साधना-ग्रन्थों में सूत्र उपलब्ध हैं। उनके रहस्य और चाभियाँ उपलब्ध नहीं हैं। विज्ञान के द्वारा वे उपलब्ध हो जाते हैं। धर्म से विज्ञान और विज्ञान से धर्म कितना लाभान्वित होता है, यह अध्ययन की नई शाखा हो सकती है, किन्तु धर्म अनेक समस्याओं को सुलझाने और अनेक रहस्यों को उद्‌घाटित करने के लिए बहुत उपयोगी है। अध्यात्म के आचार्यों ने अनुभव के आधार पर रहस्यों की खोज की थी। उन्होंने अपने अनुभवों को शास्त्रों में संकलित किया था। अनुभव की वाणी को साधना के द्वारा ही समझा जा सकता है। उसे समझने का दूसरा उपाय है—प्रयोग। धर्म भी प्रायोगिक होना चाहिए। प्रस्तुत कृति से यही दृष्टि विकसित होती है।

मानसिक समस्याओं और तनावों के युग में समाधि का अनुभव सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य के सामने अनेक समस्याएं हैं। उसके जीवन में अनेक दुःख हैं और वह दुःख मुक्ति चाहता है। ज्ञान और आचरण में दूरी है। वह मनुष्य के व्यक्तित्त्व को विखंडित करती है। प्राकृतिक और अर्जित आदतें उसे सताती हैं। समाधि का अनुभव इन समस्याओं का स्थायी समाधान है।

दिल्ली के दो तथा लुधियाना के दो—इन चार शिविरों मे समाधि की जो चर्चा की गई, वह इसमें संकलित है। आचार्यश्री तुलसी ने प्रेक्षा-ध्यान, उसके प्रयोग और चर्चा को सदा प्रोत्साहित किया है, इसलिए प्रेक्षा-ध्यान के नए-नए आयाम प्रस्तुत हुए हैं।

प्रस्तुत कृति के संपादन में मुनि दुलहराजजी ने अपना श्रम और शक्ति का नियोजन किया है। मेरी मंगल भावना है कि मनुष्य मात्र को समाधि का बीज मिले।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

१०-११-८०
जैन विश्व भारती
लाडनूं

अनुक्रम

समाधि की दिशा में प्रस्थान

समाधि की खोज

समाधि की निष्पत्ति

समाधि की दिशा में प्रस्थान

शिविर १

महरौली, नयी दिल्ली

१८-३-७१ से २८-३-७१

१. अनुभव जागे

१. अहंकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
उदिते परमानन्दे, न त्वं नाहं न वै जगत्॥

२. ममकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
उदिते परमानन्दे, न त्वं नाहं न वै जगत्॥

—अहंकार और ममकार ने बुद्धि से कहा—तू आनन्द को सोया रहने दे, उसे मत जगा। क्योंकि जब वह जाग जाएगा तब न हम रहेंगे, न तू रहेगी और न यह जगत् रहेगा।

३. समाधि के विघ्न—

- अज्ञान।
- व्याधि—शारीरिक रोग।
- आधि—दूसरों के सुख से दुःखी : संयोग से दुःखी।
  दूसरों के दुःख से सुखी : संयोग से सुखी।
  वियोग से दुःखी : वियोग से सुखी।
- उपाधि—भावनात्मक आवेग।

४. अनुभव—व्यवहार-सिद्ध ज्ञान, प्रयोग-सिद्ध ज्ञान जो केवल सिद्धान्त नहीं, प्रयोग की कसौटी पर खरा उतरे।

५. मस्तिष्क में तरंगें—

- अल्फा—सुखद स्थिति में, प्रसन्नता में।
- बेटा—उत्तेजना काल में।
- डेल्टा—गहरी नींद में।
- थेटा—स्वप्नावस्था में, प्रायः।

६. प्रेक्षा और कल्पना—नियंत्रण के लिए प्रेक्षा के बाद कल्पना का सहारा।

- दिल की धड़कन तेज करो—रोगी ने दौड़ की कल्पना की।
- दिल की धड़कन तेज करो—रोगी ने टहल की कल्पना की।
  दिल की धड़कन मंद करो—रोगी ने हल्का-फुल्का होने की कल्पना की।

एक

दुःख-मुक्ति की चाह

हम सब दुःख से मुक्त होना चाहते हैं। हम ही नहीं, संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से मुक्त होना चाहता है। सुख सब चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। यह एक प्राकृतिक और सार्वभौम नियम है। इसका कोई अपवाद नहीं है। प्रश्न होता है कि जब हम सब दुःख-मुक्त होना चाहते हैं, तो मुक्त क्यों नहीं हो पाते? दुःख-मुक्ति की हमारी तीव्र चाह है, पर वह पूरी नहीं होती। ऐसा क्यों? इस प्रश्न के पीछे जो रहस्य है, उसे हम समझें।

सुख-दुःख का संवेदन क्यों?

सुख और दुःख—ये दो तत्त्व हैं। हम इस बात को न भूलें कि सुख के घटक भी हम ही हैं और दुःख के घटक भी हम ही हैं। हम ही सुख-दुःख का बीज बोते हैं, हम ही उसे अंकुरित करते हैं, पुष्पित करते हैं और पल्लवित करते हैं। हम ही उसे बढ़ाते हैं, विशाल वृक्ष के रूप में विकसित करते हैं। इन सारी क्रियाओं में दूसरा कोई उत्तरदायी नहीं है। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है कि हम दूसरों को सुख-दुःख देने वाला मानते हैं। यह भ्रान्ति टूटनी चाहिए। दुनिया में कोई कुछ देने वाला नहीं है। यदि हम दुःख का संवेदन करें तो हमें दुःख होता है और यदि हम दुःख का संवेदन न करें तो हमें दुःख नहीं होता। अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियां सामने हों और यदि हम दुःख का संवेदन नहीं करते तो हमें कोई दुःख नहीं हो सकता। हजार प्रकार की सुख की सुविधाएं उपलब्ध हों और यदि हम सुख का संवेदन नहीं करते तो हमें कोई सुख नहीं हो सकता। दुःख और सुख का संवेदन होना हमारे संवेदन-केन्द्र पर निर्भर करता है। हमारा संवेदन-केन्द्र कार्य करता है तो सुख-दुःख का संवेदन होता है और यदि वह कार्य नहीं करता है तो कोई संवेदन नहीं होता। हमारे मस्तिष्क के पीछे पीड़ा-केन्द्र है। आज के वैज्ञानिक यह प्रयोग कर रहे हैं कि औषधियों के द्वारा उस केन्द्र को निष्क्रिय बना

दिया जाए, जिससे कि व्यक्ति पीड़ा का संवेदन न कर सके। इस दिशा में प्रयत्न चालू है। अनेक प्रकार की औषधियां आविष्कृत हुई हैं और उनका प्रयोग भी चल रहा है। जब पीड़ा-केन्द्र पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाता है तब पीड़ा का संवेदन समाप्त हो जाता है। फिर शरीर पर चाहे कहीं कुछ पीड़ा हो, व्यक्ति को उसका अनुभव ही नहीं होता। पीड़ा देता है यह संवेदन-केन्द्र। यदि यह केन्द्र निष्क्रिय हो जाता है तो फिर कोई भी घटना घटित हो, उसका संवेदन नहीं होगा। मनुष्य की सबसे बड़ी भ्रान्ति यह है कि वह घटना को मुख्य मान लेता है, परिस्थिति और वातावरण को ही सब कुछ मान लेता है। यह बहुत बड़ी नास्तिकता है। घटना, परिस्थिति और वातावरण ये सब अपना-अपना काम करते हैं, करेंगे और करते ही रहेंगे। परिस्थितियां उतार-चढ़ाव की होंगी, ऊबड़-खाबड़ होंगी। सारी दुनिया ऊबड़-खाबड़ है। समतल कहीं नहीं है। कहीं पहाड़ हैं, कहीं गड्ढे हैं और कहीं उतार-चढ़ाव है। ये होंगे। इन्हें मिटाया नहीं जा सकता। परिस्थितियां कभी एक-सी नहीं रहती। सर्दी के बाद गर्मी आती है और गर्मी के बाद बरसात। आप न सर्दी को रोक सकते हैं और न गर्मी को। सदा सर्दी ही रहे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। सदा गर्मी ही रहे, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। ऋतुओं का चक्र निरंतर चलता रहता है। कोई ऐसा शक्तिमान नहीं है कि वह बर्फ गिरने को रोक सके, बर्फीली हवाओं को रोक सके या तूफानों को रोक सके। पर आदमी बुद्धिमान प्राणी है। वह कपड़ा बनाना जानता है। वह मकान बनाना जानता है। सर्दी आती है, तब वह गर्म कपड़े पहन लेता है और मकान के भीतर चला जाता है। वह सर्दी के प्रकोप से बच जाता है।

हम परिस्थितियों को रोक नहीं सकते। प्राकृतिक घटनाओं से आने वाले सुख और दुःख के निमित्तों को रोक नहीं सकते। किन्तु जिसके द्वारा हमें सुख और दुःख का संवेदन होता है उस पर हम नियंत्रण कर सकते हैं। साधना की समग्र पद्धति नियंत्रण या संयम की पद्धति है। 'नियंत्रण' शब्द से आप चौंके नहीं। इसे अप्रिय न मानें। इस पद्धति को अप्रिय न मानें। समूची प्रकृति में पग-पग पर हम नियंत्रण देखते हैं। बिना नियंत्रण के कोई काम चल ही नहीं सकता। नियंत्रण दमन नहीं है। वह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इससे उदासीन नहीं हुआ जा सकता? एक को बन्द करना पड़ेगा और एक को खोलना पड़ेगा। क्या दरवाजा बन्द करना नियंत्रण नहीं है? क्या मकान बनाना नियंत्रण नहीं है? दरवाजा बन्द करना, मकान बनाना, कपड़े पहनना—ये सब क्रियाएं नियंत्रण हैं। नियंत्रण जरूरी है। इससे घबराकर हम इस प्रक्रिया को अस्त-व्यस्त नहीं करें। दुःख-मुक्ति चाहते हैं तो संवेदन-केन्द्रों पर नियंत्रण करना ही होगा।

प्रेक्षा : नियंत्रण की प्रक्रिया

नियंत्रण की पद्धति है—प्रेक्षा। हम केवल वाणी के द्वारा नियंत्रण नहीं साध सकते। नियंत्रण के लिए अभ्यास करना होता है, प्रयोगों से गुजरना होता है। प्रेक्षा का अर्थ है—देखना। हम पहले देखें और संकल्प-शक्ति का प्रयोग करें। देखने का अर्थ है—साक्षात्कार करना। यह केवल मानना नहीं है, दूसरों के सहारे चलना नहीं है। इसमें न शब्दों का सहारा होता है, न मान्यताओं का सहारा। यह है अपना अनुभव। आज के विज्ञान ने जितना विकास किया है, जितने आविष्कार किए हैं, वे सब अनुभव के आधार पर किए हैं। एक है पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान और एक है प्रयोग-सिद्ध ज्ञान। प्रयोग-सिद्ध ज्ञान का नाम है—अनुभव। जो बात स्वयं की कसौटी पर खरी उतरती है, वह हमारा अनुभव बन जाती है। जो बात सुनी-सुनायी होती है वह कभी अनुभव नहीं बन सकती। वह उधार की पूंजी होती है। अनुभव नगद की पूंजी है, स्वयं की संपदा है, स्वयं की पूंजी है।

बुद्धि और अहंकार

एक अध्यात्म के आचार्य ने रूपक की भाषा में एक रहस्य का उद्घाटन किया। एक बार मन में यह विकल्प उठा कि अनुभव को जगाया जाए। मन की बात बुद्धि तक पहुंची। यह जानकर अहंकार बुद्धि के पास आकर बोला—

अहंकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
उदिते परमानन्दे, न त्वं नाहं न वै जगत्॥

—'अरे बुद्धि ! तुम अनुभव को मत जगाओ। उसे सोया ही रहने दो। उसका

सोना ही अच्छा है।' बुद्धि ने पूछा—क्यों, क्या बात है? अहंकार बोला—'तुम नहीं समझती। अनुभव के जाग जाने पर न तुम्हारा अस्तित्व ही रहेगा, न मेरा अस्तित्व ही रहेगा और न यह जगत् (का सम्बन्ध) ही रहेगा। सब नष्ट हो जाएंगे। इसलिए उस अनुभव को सोने ही दो।'

बुद्धि और ममकार

बुद्धि ने अहंकार की बात नहीं मानी। इतने में ही ममकार वहां आ पहुंचा। उसने बुद्धि से कहा—

> ममकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
> उदिते परमानन्दे, न त्वं नाहं न वै जगत्॥

—'बेटी बुद्धि! अनुभव को मत जगाओ। इसे जगाना खतरनाक है। इसे जगाना अपने अस्तित्व को गवाना है। इसके जाग जाने पर न मैं रहूंगा, न तू रहेगी और न जगत् रहेगा। सब कुछ समाप्त।'

बुद्धि के कुछ क्षण ऐसे आते हैं। तब उसमें अनुभव को जगाने की बात उत्पन्न होती है। उसमें प्रेरणा जागती है। साधक छटपटाता है। वह चाहता है कि बुद्धि की सीमा समाप्त हो और अनुभव की सीमा में प्रवेश हो। किन्तु जब-जब अनुभव को जगाने का प्रयत्न होता है तब अहंकार और ममकार सामने आकर खड़े होते हैं और वे पूरा प्रयत्न करते हैं कि बुद्धि अनुभव को जगाने का प्रयास न करे, वरन् अनुभव को न जगाए।

समाधि के तीन विघ्न

प्रियता और अप्रियता का संवेदन सुख-दु:ख का निमित्त वनता हैं। आधि की जटिलता कठिन प्रश्न है। उसकी चिकित्सा एक दुरूह विधि है। व्याधि से जितने व्यक्ति दु:खी नहीं हैं, उतने व्यक्ति आधि से पीड़ित हैं। आज का आदमी शरीर से जितना अस्वस्थ नहीं है, उतना मन से अस्वस्थ है। सचाई यह है कि आदमी जितना अधिक मन से अस्वस्थ होता है उतनी ही व्याधियां भोगता है। एक दृष्टि से आधि व्याधि की जननी है। जो आदमी मन से स्वस्थ नहीं है, वह शरीर से स्वस्थ नहीं हो सकता। विचार आदमी कोअस्वस्थ करते हैं और विचार ही आदमी को स्वस्थ करते हैं।

बायोफीडवेक पद्धति

व्याधि और आधि से निवटने के लिए हम नियंत्रण-शक्ति का विकास करें। उन शक्तियों को जागृत करें। प्रेक्षा इसका माध्यम है। विज्ञान के क्षेत्र में कुछ ऐसी खोजें हुई हैं जिनके आलोक में प्रेक्षा-ध्यान को सहज रूप में समझा जा सकता है। आज वैज्ञानिक जगत् में **'बायोफीडबेक पद्धति'** चलती है। इसका सहज सरल अनुवाद किया जा सकता है—प्रेक्षा-पद्धति। अन्तर इतना ही है कि हम प्रेक्षा का अभ्यास अपनी चेतना के द्वारा करते हैं, और **'बायोफीडबेक पद्धति'** में अभ्यास होता है उपकरणों के द्वारा, यंत्रों के द्वारा। किन्तु वास्तव में यह भी एक प्रेक्षा की ही पद्धति है। हम प्रेक्षा के समय देखते हैं कि हमारे शरीर में क्या परिवर्तन हो रहे हैं? क्या क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं हो रही हैं? क्या रासायनिक परिवर्तन घटित हो रहे हैं? मस्तिष्क में क्या-क्या घटित हो रहा है? **'बायोफीडबेक पद्धति'** में भी यंत्रों के द्वारा यही सब कुछ देखा जाता है, जाना जाता है।

देखना, प्रेक्षा करना बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। पर देखना ही पर्याप्त नहीं है। दर्शन के साथ संकल्प-शक्ति का भी प्रयोग होना चाहिए।

प्रक्रिया के तीन आयाम

देखना हमारी चेतना का उपयोग है किन्तु आत्मा का स्वभाव केवल चेतना ही नहीं है। आत्मा में तीन तत्त्व हैं—चेतना, शक्ति और आनन्द। हम चेतना का उपयोग करें, देखें और जानें। हम आत्मा के दूसरे तत्त्व 'शक्ति' का उपयोग करें और परिवर्तनों को घटित करें, स्वभाव को बदलें, आदतों को बदलें, दु:ख देनेवाले तत्त्वों को बदलें, प्रतिक्रियाओं को बदलें। इस शक्ति के अनेक आयाम हैं। हम संकल्प-शक्ति, कल्पना-शक्ति, इच्छा-शक्ति और एकाग्रता की शक्ति का उपयोग करें। हम चेतना के द्वारा जानते हैं, शक्ति के द्वारा दु:खों के निमित्तों को वदलते हैं तब आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार तीन आयामों में हमारी प्रक्रिया पूरी होती है। यह समग्र प्रक्रिया है।

को ही पदार्थ मानकर अभिव्यक्ति दी है ? हमारे भीतर चिन्तन है, कल्पना है और कामधेनु है। ये तीन महत्त्वपूर्ण शक्तियां हैं। सब कुछ भीतर विद्यमान है, किन्तु मनुष्य उनको जानता ही नहीं, फिर वह उनकी कल्पना कैसे करता ?

यदि चाह और उपलब्धि की दूरी मिट जाए,यदि कथनी और करनी की दूरी मिट जाए, यदि ज्ञान और आचरण की दूरी मिट जाए तो हमसे भिन्न न कोई कल्पवृक्ष है, न कोई कामधेनु है और न कोई चिन्तामणि है। जब तक दूरी है तब तक हम दूरस्थ पदार्थों को देखेंगे, उन्हें महत्त्व देंगे, भीतर में नहीं देख पाएंगे। हम दूर की बात सोचेंगे, अपनी बात कभी नहीं सोच पाएंगे।

दूरी कैसे मिटे ?

ज्ञान और आचरण की दूरी कैसे मिटे—यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। लोग मानते हैं—शास्त्र पढ़ते जाओ, प्रवचन सुनते जाओ, सब कुछ अपने आप घटित हो जाएगा। यदि अपने आप कुछ घटित होता तो आज तक सब कुछ घटित हो गया होता। पर अपने आप कुछ नहीं होता। चाहे कोई व्यक्ति चालीस वर्ष या चालीस जन्मों तक भी चलता रहे, वह गन्तव्य तक नहीं पहुंच सकेगा। बिना प्रयत्न किए, बिना विधि को समझे कुछ भी घटित नहीं होता। हमें पद्धति को जानना होगा। जो व्यक्ति चाभी घुमाना नहीं जानता, वह ताला नहीं खोल पाएगा।

दूरी मिटाने का उपाय : सरसता

दूरी मिटाने का एक उपाय है। जब सिद्धान्त सरसता में बदल जाता है तब दूरी अपने आप मिट जाती है। जब तक केवल सिद्धान्त रहेगा तब तक दूरी बनी रहेगी। सरसता आते ही दूरी समाप्त हो जाती है। सरसता केवल अध्यात्मशास्त्र का ही सिद्धान्त नहीं है, काव्यशास्त्र में भी उसकी प्रमुखता है। वह काव्य अच्छा नहीं होता जिसमें रस नहीं होता। वह वक्तृत्व भी अच्छा नहीं होता जो सरस नहीं होता। वह इक्षु भी निकम्मा होता है जिसमें रस नहीं होता। वह फल भी निकम्मा होता है जिसमें रस नहीं होता। सरसता ही श्रेष्ठ होती है।

मनुष्य का सारा आकर्षण रस में है, सुख में है। नीरस को कोई नहीं चाहता। दुःख कोई नहीं चाहता।

सिद्धान्त और रस

'बर्फ खाने से गला खराब होता है'—यह सिद्धांत आपने बच्चे को बता दिया। बच्चे ने सुन लिया। किन्तु जैसे ही बर्फ सामने आती है, बच्चा खाने को ललचा जाता है, क्योंकि उसका रस सिद्धान्त में नहीं है, उसका रस बर्फ खाने में है। हम

बीमारी है। बीमारी की जड़ें बहुत गहराई में हैं। यही दूरी बनाए हुए है। इस व्यवस्था और पदार्थ-जगत् में दूरी को नहीं मिटाया जा सकता।

दूरी को मिटाने का सूत्र

अध्यात्म के आचार्यों की खोजों के द्वारा जो महत्त्वपूर्ण सूत्र उपलब्ध हुआ है वही इस दूरी को मिटा सकता है। वह सूत्र है—आनन्द की खोज। उन्होंने आनन्द को खोजा और एक दर्शन दिया कि जो आनन्द तुम पदार्थ से पाना चाहते हो उससे अधिक आनन्द तुम्हारे पास है। उसे प्राप्त करो। एक बड़े आनन्द को पाए बिना छोटे आनन्द को नहीं छोड़ा जा सकता। बड़े सुख को उपलब्ध किए बिना छोटे सुख को नहीं छोड़ा जा सकता। बड़ी रेखा को खींचे बिना छोटी रेखा को नहीं मिटाया जा सकता। छोटी बात को छोड़ने के लिए बड़ी बात उपलब्ध करनी होती है।

मस्तिष्कीय तरंगें : उनका कार्य

आनन्द सबसे बड़ी उपलब्धि है। मैं इस आनन्द की व्याख्या वैज्ञानिक शब्दावली में प्रस्तुत करना चाहता हूं। मेडिकल इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलॉजी, मद्रास ने, एक उपकरण का निर्माण किया है जिससे मनुष्य के मस्तिष्क की अल्फा तरंगों को देखा जा सकता है और उन्हें संप्रेपित भी किया जा सकता है। वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की विद्युत् तरंगें होती हैं—अल्फा, बेटा, डेटा, थेटा आदि-आदि। जब 'अल्फा' तरंगें अधिक होती हैं तब आदमी आनन्द से भर जाता है। उसके सारे अवसाद समाप्त हो जाते हैं, कठिनाई दूर हो जाती है। जब 'बेटा' तरंगें अधिक होती हैं तब आदमी अवसाद से भर जाता है, उसमें उत्तेजनाएं उभरती हैं। इस प्रकार मस्तिष्कीय विद्युत्-तरंगों के द्वारा आदमी कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का अनुभव करता है। अध्यात्म का सूत्र है कि अल्फा तरंगों को पैदा किया जाए और आनन्द को बढ़ाया जाए। उस आनन्द की इतनी वृद्धि हो कि इन्द्रियों के संवेदनों से होने वाली क्षणिक आनन्दानुभूति उसके सामने फीकी पड़ जाए। जब यह घटित होता है तब व्यक्ति का बाह्य आकर्षण छूटने लगता है और आन्तरिक आनन्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। यही दूरी को मिटाने का आदि-बिन्दु है। जब तक व्यक्ति को यह लगता है कि इन्द्रियजन्य आनन्द को छोड़ना बहुत बड़े आनन्द से वंचित रहना है, तब तक व्यक्ति उसे छोड़ नहीं सकता। वह उसे तभी छोड़ सकता है जब वह आनन्द छोटा बन जाए, अर्थहीन बन जाए। सब जानते हैं कि अब्रह्मचर्य से शक्ति क्षीण होती है, ऊर्जा क्षीण होती है, पर सभी ब्रह्मचारी कहां बन पाते हैं? ब्रह्मचारी तब तक नहीं हुआ जा सकता जब तक उससे बड़ा आनन्द प्राप्त न

पकड़ ही नहीं पाता। हमारे भीतर अनन्त आनन्द का स्रोत बह रहा है, किन्तु हम उससे अजान हैं। यह अजानकारी ही आनन्द की उपलब्धि में बाधक है। उस संपदा का पता कैसे चले ? यह एक प्रश्न है।

विश्राम कहां और क्या ?

हमारी व्यस्तता आनन्द के स्रोत का पता लगाने नहीं देती। आज का आदमी इतना व्यस्त है कि वह विश्राम करना जानता ही नहीं। नींद विश्राम है, परन्तु वह केवल स्थूल अवयवों को ही विश्राम दे पाती है। कुछ वैज्ञानिकों ने कहा—नींद से विश्राम मिलता है। सम्मोहन भी विश्राम देता है। किन्तु सबसे अधिक विश्रामदायक है ध्यान। एक आदमी दो दिन-रात सोए रहता है। उसे विश्राम की अनुभूति होती है। किन्तु यदि वही आदमी कुछ घंटों तक ध्यान की गहराई में जाता है तो उसे और अधिक विश्राम की अनुभूति होती है। नींद स्थूल मन को विश्राम दे सकती है। किन्तु हमारी कोशिकाओं को विश्राम कहां मिल पाता है। वे नींद में भी सक्रिय रहती हैं। हृदय और श्वास-तन्त्र को विश्राम कब मिलता है ? नींद में भी वे सतत क्रियाशील रहते हैं। मस्तिष्क भी निरन्तर सक्रिय रहता है। आदमी सोता कम है, जागता अधिक है। सोते समय भी सपनों की शृंखला में जागता रहता है। कहां आ पाती है नींद। नींद के अभाव में थकान नहीं मिटती, भारीपन नहीं मिटता। यह सब मिट सकता है यदि आदमी विश्राम करना जाने। विश्राम तब होता है जब स्थूल अवयव ही नहीं, शरीर की एक-एक कोशिका सो सके। यह होता है ध्यान और कायोत्सर्ग से। जो आदमी ध्यान और कायोत्सर्ग करना जानता है उसके हृदय के स्पंदन कम होने लगते हैं, श्वास मन्द होने लगता है। इस स्थिति में हृदय को और श्वासतंत्र को कुछ विश्राम मिलता है। वे क्षण भर के लिए निष्क्रिय-से हो जाते हैं। महावीर ने कहा—सिद्धि का साधन है अक्रिया। क्रिया से सिद्धि नहीं मिलती। सिद्धि की प्राप्ति के पूर्व-क्षण में साधक को अक्रिय होना ही पड़ता है।

अक्रिया सक्रियता की जननी

सक्रियता और व्यस्तता मस्तिष्क को बोझिल बनाती हैं। सिद्धियां दूर चली जाती हैं। व्यवहार का भी सिद्धांत है कि जो आदमी अधिक व्यस्त रहता है, काम में अधिक रस लेता है और सोचता है कि अधिक काम करूं, इसका अर्थ है वह काम कम कर पायेगा। जो काम करने के साथ-साथ विश्राम भी लेता रहता है, वह अधिक काम निष्पन्न कर पाता है। विश्राम नहीं करने वाला जितना काम दस घंटों में करता है उससे अधिक काम बीच-बीच में विश्राम करने वाला दो घंटों में कर लेता है। उसकी कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। जब तक विश्राम करने के

यह विश्राम घटित होता है तो अपने आप अल्फा तरंगों का संवर्धन प्रारंभ हो जाता है। यह संवर्धन आनन्द की तुष्टि देता है।

अल्फा तरंगों की निष्पत्ति

आदमी पदार्थों का त्याग करता है, त्याग की भाषा में नहीं, अन्तर्मन से, तो मानना चाहिए कि उसके मस्तिष्क में अल्फा तरंगों का संवर्धन हुआ है। अन्यथा पदार्थ की आसक्ति नहीं मिटती। मुनि स्थूलभद्र वेश्या के घर में रहे। उस वेश्या के घर में जो वेश्या चिर-परिचित थी, जिनके साथ स्थूलभद्र, मुनि बनने से पूर्व रह चुके थे। क्या उस वेश्या के साथ रहना और निष्कलंक बने रहना संभव है? सामान्य व्यक्ति इस संभावना की कल्पना भी नहीं कर सकता। पर यह घटना घटी। स्थूलभद्र मुनि उसके घर एक महीना नहीं, चार महीने तक रहे और अपनी सफेद चादर को बेदाग रखा। यह तभी संभव हो सका जबकि स्थूलभद्र का मस्तिष्क अल्फा तरंगों से इतना भर गया कि उसे वेश्या राख के पुंज के अतिरिक्त और कुछ नहीं लगी। स्थूलभद्र काम-विजयी बन गए।

एक व्यक्ति ने आकर हेमचन्द्र से पूछा—भंते! साधु सरस भोजन करते हैं, गरिष्ठ भोजन घर-घर से लेते हैं, फिर वे ब्रह्मचर्य का पालन कैसे कर पाते हैं? गरिष्ठ भोजन से शक्ति बढ़ती है और वह काम-वासना को उत्तेजित करती है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचारी रह पाना क्या कठिन नहीं होता?

आचार्य ने कहा—भद्र! सिंह बलवान् प्राणी है। वह हाथी और सूअर के मांस को खाता है, फिर भी वह वर्ष में एक बार रति-क्रीड़ा करता है। कबूतर धान के दाने और कंकर खाकर पेट भरता है, फिर भी वह रात-दिन काम-वासना से संतप्त रहता है। इसका क्या हेतु है? भद्र! ब्रह्मचर्य या अब्रह्मचर्य में केवल भोजन ही निमित्त नहीं है, और अनेक कारण होते हैं।

तर्क की बात तर्क से कट गई। बलवान् तर्क निर्बल तर्क को परास्त कर देता है। सरस या नीरस भोजन की बात गौण है। यह प्रधान तब बनती है जब मस्तिष्क में अल्फा तरंगें नहीं होतीं। जब तक परम आनन्द की अनुभूति नहीं होती तब तक पदार्थगत आनन्द बांधे रखता है। आदमी पदार्थ से परास्त होता है, किन्तु जब मस्तिष्क, मन, चित्त और चेतना—ये आनन्द से भर जाते हैं, फिर चाहे गरिष्ठ भोजन खाया जाए, वेश्या के यहां रहा जाए, मनोमुग्धकारक शब्द सुना जाए तो कोई अन्तर नहीं आता। यह सारा आनन्द उपलब्ध होने पर ही घटित होता है। तब सोने का और धन का मूल्य कम हो जाता है। सत्ता और अधिकार का मूल्य कम हो जाता है। जब मस्तिष्क में अवसाद भरा होता है, जब वह चंचल होता है तब ये सारे पदार्थ मूल्यवान् लगते हैं, पत्थर भी पारस लगता है। जब मस्तिष्क में आनन्द भरा होता है तब ये सारे बाह्य पदार्थ सारहीन लगते

३. क्या कर्म अनासक्त हो सकता है ?

○ अकर्तृ कुर्वदप्येतत्, चेतः प्रतनुवासनम् ।
दूरंगतमना जन्तुः, कथा संश्रवणे यथा ।।

१. आत्मा का दर्शन हो सकता है ।

○ दर्शन होने पर—
कर्त्ता अकर्त्ता में, श्रोता अश्रोता में और वक्ता अवक्ता में वदल जाता है ।

२. वृत्ति, प्रवृत्ति, पुनरावृत्ति—कर्त्ता ।

○ वृत्ति-शोधन प्रवृत्ति निवृत्ति—अकर्त्ता ।

३. कर्म—

○ कौशल—अकौशल ।

○ सार्थक—व्यर्थ ।

○ आवश्यक—अनावश्यक ।

● व्यवस्थित—अव्यवस्थित ।

४. कर्म की प्रेरणा—
वृत्ति वात्सल्य करुणा ।
आसक्ति द्वेष महत्त्वाकांक्षा ।

५. पशु और मनुष्य में यही अन्तर—
मनुष्य शोधन करता है, प्रेरणा को उदात्त वनाता है ।

६. अकर्म या निष्कर्म वह है जिसके पीछे केवल मुक्ति की प्रेरणा हो ।

७. जिस क्रिया से चित्त कलुषित हो, वह कर्म ।

● जिस क्रिया से चित्त निर्मल हो वह अकर्म ।

८. कर्म हो, कर्म का लेप न हो—यह मानवीय चेतना का विकास जो मनुष्य को पशु से पृथक् करता है । यह भारतीय दर्शनशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण योग है ।

पर रखते ही वह जमीन पर आ गिरता है। वह पुनः उसे उठाती है। पुनः वह नीचे आ गिरता है। यह क्रम चलता रहा। मैंने सोचा—कितना प्रयत्न ! कितना श्रम ! शायद आदमी भी इतना प्रयत्न नहीं कर सकता। वह इतना पुरुषार्थी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके सामने श्रम की एक रेखा है, श्रम का विभाजन है। चिड़या में वह नहीं है। सायंकाल तक उसका प्रयत्न चला। पर घोसला नहीं बना। सारा व्यर्थ। चिड़िया यह विवेक नहीं कर पा रही थी कि उसका प्रयत्न अर्थवान् है या निरर्थक, पर उसके पुरुपार्थ में कोई कमी नहीं थी। वह घोसला बनाती है। बच्चे का प्रसव करती है। उसे चुगा-पानी देती है। बड़ा करती है। यह क्रम सतत चलता रहता है।

हम कर्म को न देखें। कर्म को देखते हैं तो धारणाएं भ्रांत बनती हैं। हम कर्म के स्रोत को देखें, कर्म के प्रेरक तत्त्व को देखें। हम यह देखें कि कर्म कहां से आ रहा है। कर्म शब्द ने बड़ी भ्रांति पैदा की है। अकर्म शब्द को सुनते ही आदमी सोचता है कि अकर्म का फल है निठल्लापन। अकर्मण्यता से सब कुछ समाप्त हो जाता है। विकास का अवकाश ही नहीं, जो है वह भी नष्ट हो जाता है।

एक मरुस्थल का वासी अनार के देश में चला गया। उसे वहां अनार खाने को दी। उसने अनार को उलट-पलट कर देखा। उसका छिलका उतारा। अन्दर बीज ही बीज थे। लाल लाल बीज। उसने बीजों को निकाल कर फेंक डाला। हाथ में छिलका मात्र रह गया। वह उसे खाने लगा। मुंह कपैला हो गया। उसने ग्रास को थूकते हुए कहा—'अरे ! यह कैसा फल ! इतना कपैला !

उस आदमी को पता नहीं था कि अनार में कौन-सा अंश खाने का होता है और कौनसा फेंकने का। सारे बीज निकालने के ही होते हैं—यह मानकर उसने बीजों को फेंक डाला। हाथ लगा केवल छिलका जो कपैला होता ही है।

जिस व्यक्ति ने अकर्म का अनुभव नहीं किया, अकर्म के महत्त्व को नहीं जाना वह अकर्म के मीठे बीजों को डालता जाएगा और कर्म के कड़वे छिलकों को खाता जाएगा। मुंह कड़वा होगा, कषैला होगा, पर वह उसे नहीं छोड़ेगा। अकर्म को छोड़कर आज मनुष्यजाति बहुत दरिद्र और शक्तिशून्य बन गई है। जब कर्म की शक्ति का भान नहीं होता तब कर्म की तेजस्विता भी समाप्त हो जाती है।

भारत के साधकों ने, आचार्यों ने इस पर बल दिया कि यदि मनुष्य और पशु-जगत् में भेदरेखा खींचनी है तो कर्म और अकर्म के आधार पर खींची जा सकती है। मनुष्य अकर्म की ओर जा सकता है। पशु अकर्म की ओर नहीं जा सकता। कर्म से अकर्म की ओर जाने में कर्म को छोड़ना नहीं पड़ता, किन्तु कर्म की प्रेरणा का शोधन करना पड़ता है।

उसमें वृत्ति-परिष्कार की क्षमता है।

आत्म-साक्षात्कार का पथ : कर्म से अकर्म में जाना

मनुष्य कर्म से अकर्म में जा सकता है। यह पथ है आत्म-साक्षात्कार का। इस पथ पर अनगिन चरण चले हैं, चलते हैं और चलते रहेंगे। किन्तु जब इस दिशा में पहला चरण उठता है तब एक प्रकार की भावना होती है और जब चरण आगे बढ़ते हैं तब पूर्व भावना में परिवर्तन आने लगता है। मुझे लगता है कि जिस दिन कर्म से अकर्म की दिशा में प्रयाण हुआ, उस दिन एक प्रकार की भावना बनी थी, किन्तु बीच में भावना में बहुत बदलाव आ गया। एक सूत्र पकड़ लिया—कर्म का शोधन करने के लिए कर्त्ता-भाव को छोड़ना होगा, सब कुछ ब्रह्म के लिए समर्पित करना होगा। 'मैं करता हूं'—इस अहंकार का परित्याग करना होगा। उससे अकर्त्ताभाव प्राप्त होगा। यह सुन्दर सूत्र था। पर इसका भी दुरुपयोग हुआ। आज इस सूत्र को आधार मानकर कुछ लोग कहते हैं—हम मिलावट करते हैं, अप्रामाणिकता करते हैं, पर हमारा उनमें कर्त्ताभाव नहीं है। होता है, यह सच है। हम कुछ नहीं हैं। जो कुछ अर्जन होता है, वह ब्रह्म के लिए है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है।

यह दोनों ओर की विकृति है। प्रारंभ में विकृति और अन्त में भी विकृति। इस विकृत चिंतन से कर्म से अकर्म की ओर जाने की दिशा ही धुंधली हो गयी। उसमें विकार आ गया। अकर्म की बात करते ही अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं। ये प्रश्न अकारण नहीं हैं।

कर्त्ता अकर्त्ता कब ?

योगवशिष्ठ का एक सुन्दर श्लोक है—

अकर्तृ कुर्वदप्येतत्, चेतः प्रतनुवासनम्।
दूरंगतमना जन्तुः, कथासंश्रवणे यथा॥

इस श्लोक का आशय यह है कि आदमी कर्म करता हुआ भी अकर्म रह सकता है। वह प्रवृत्तियां करता हुआ भी यह दावा कर सकता है कि मैं कर्त्ता नहीं हूं। इस अधूरे तथ्य ने एक उलझन पैदा कर दी। क्या प्रत्येक आदमी यह कह सकता है कि वह सब कुछ करते हुए भी कर्त्ता नहीं है? यदि यह हो तो किसी को श्रेय नहीं दिया जा सकेगा और किसी को अश्रेय नहीं दिया जा सकेगा। कोई किसी को चांटा मार कर कह सकता है—यह मैंने नहीं किया, क्योंकि मैं तो कर्त्ता नहीं हूं। चोरी करके भी कह सकता है—मैं कर्त्ता तो हूं नहीं, मुझे क्या पता कि चोरी कैसे हुई? फिर कोई दोष का भागी नहीं होगा। यदि कर्तृत्व का विसर्जन इस

कर्म अकर्म कैसे ?

कर्त्ता अकर्त्ता कैसे बने ? कर्म अकर्म कैसे बने? इसकी भूमिका को हम समझें।

एक क्रम या व्यूह है—वृत्ति—प्रवृत्ति—निवृत्ति। इसका प्रतिपक्षी क्रम है—वृत्ति का शोधन—प्रवृत्ति— निवृत्ति। प्रवृत्ति दोनों क्रमों में है। वह दोनों के मध्य है। वृत्ति के बाद भी प्रवृत्ति होगी और वृत्ति के शोधन के बाद भी प्रवृत्ति होगी। किन्तु जहां वृत्ति का शोधन हो गया, वहां प्रवृत्ति होगी और बाद में वास्तविक निवृत्ति होगी, पुनरावृत्ति नहीं होगी, कोई उलझन नहीं होगी। वृत्ति का शोधन हुए बिना आवृत्ति मिटती नहीं। किसी व्यक्ति ने एक दिन एक स्वादिष्ट पदार्थ खाया। दूसरे दिन थाली में यदि वह पदार्थ नहीं आता है तो उसकी स्मृति सताने लग जाती है। पुनरावृत्ति की अपेक्षा होती है। किन्तु जिस व्यक्ति ने शोधन कर लिया, उसको पुनरावृत्ति की अपेक्षा नहीं होती। उसको उस पदार्थ की स्मृति नहीं सताएगी। प्रवृत्ति पुनरावृत्ति की मांग नहीं करेगी। जहां वृत्ति का शोधन नहीं होगा, वहां निश्चित ही प्रवृत्ति पुनरावृत्ति की मांग करेगी। इससे कर्म का जाल विस्तृत होता जाता है। सचमुच वृत्ति के शोधन का सूत्र हमारे हाथ से निकल गया और हाथ में रह गया केवल कर्त्ता से अकर्त्ता बनने और कर्म से अकर्म फलित करने के सिद्धान्त का कलेवर। आतमा चली गयी। प्राण उड़ गए। केवल कलेवर को लेकर हम घूम रहे हैं। यदि मूल प्राण, मूल सूत्र हमारे हाथ में होता तो अकर्म या अकर्त्ता होने की बात अवश्य ही फलित होती।

कर्म : सबसे बड़ा संकट

आज के संसार का सबसे बड़ा संकट है—कर्म। कर्म अर्थात् प्रवृत्ति। आज प्रवृत्तियों की इतनी प्रचुरता है कि आदमी क्षण भर के लिए भी अकर्म नहीं रह सकता। इस प्रवृत्ति-बहुलता ने आदमी को अणु-अस्त्रों के निर्माण तक पहुंचा दिया। एक प्रवृत्ति को पूरा करने के लिए दूसरी प्रवृत्ति और दूसरी को पूरा करने के लिए तीसरी प्रवृत्ति अपेक्षित हो गयी। इस चक्र का कहीं अन्त नहीं है। तर्कशास्त्र के अनुसार प्रवृत्ति अनवस्था दोष से ग्रसित हो गयी है। कहीं रुकावट नहीं है, व्यवस्था नहीं है। यह अनन्तता है। यह प्रवृत्ति-बहुलता सबसे बड़ा संकट है। जब तक सक्रियता के साथ-साथ निष्क्रियता की बात समझ में नहीं आएगी, जब तक प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति का संतुलन नहीं होगा, तब तक यह संसार इस संकट से उबर नहीं पाएगा। निश्चित ही इस दुनिया को इन प्रवृत्तियों के दुश्चक्र से, आणविक अस्त्रों के विस्फोट से उत्पन्न अमावस की काली रात देखनी होगी।

डॉक्टर रोगी को कहता है विश्राम करो। क्या यह कर्म से अकर्म की ओर आने की सूचना नहीं है ? जब शरीर, मस्तिष्क और हमारी ग्रन्थियां अधिक सक्रिय

अतिरिक्त विद्युत् उत्पन्न नहीं होती। यदि आदमी उन कोशिकाओं से अधिक काम लेता है तो विद्युत् का व्यय अधिक होता है। नयी कोशिकाओं को पैदा होने का अवसर ही नहीं मिलता। पुरानी कोशिका टूटती जाती है, नयी बनती नहीं। इससे शक्ति की क्षीणता होती है। आदमी प्रवृत्ति या कर्म करता ही रहे तो नयी प्राण-ऊर्जा पैदा नहीं होती। उसके अभाव में आदमी बड़ा काम नहीं कर सकता।

अकर्म की साधना : जीवन का वरदान

अति-व्यस्तता या अति-प्रवृत्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी अच्छी नहीं है। वह आत्म साधना में तो निश्चित ही बाधक है।

आनन्द की उपलब्धि का मार्ग है अकर्म की साधना।

एक बच्चे ने पूछा—'आत्मा कहां है?' मैंने कहा—'तुम्हारे भीतर है।' बच्चे ने कहा—'भीतर कहां। दिखाई नहीं देता।' मैंने कहा—'आंखें बंद करो। आत्मा को देखने का मार्ग मिल जाएगा।' **पश्यन्नपि न पश्यति'**—देखता हुआ भी नहीं देखता। आंख खुली होगी, नहीं दीखेगा। आंख बंद करो, जो नहीं दीख रहा है वह भी दृष्टिगत होने लगेगा।

सिर की प्रेक्षा करें। मन उसमें लगाए रखें। आंख खुली है, पर दीखेगा नहीं। कान खुले हैं, पर सुनाई नहीं देगा। साधक वह है जो देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता, चखता हुआ भी नहीं चखता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता। यह अकर्म की स्थिति है। यह साधना से उपलब्ध हो सकती है।

लोग अकर्म या निवृत्ति की बात सुनते ही चौंक जाते हैं। उनका तर्क है कि यदि अकर्म फलित हो जाएगा तो आदमी निठल्ला और अकर्मण्य बन जाएगा। सारा विकास बंद हो जाएगा। अकर्मण्य देश की वही गति होगी जो अविकसित देश की होती है। ऐसी आशंका करने वाले विचारक अकर्म को कर्म नहीं समझते। अकर्म का यह अर्थ नहीं है कि आदमी खाना छोड़ देगा। जब तक प्राण की यात्रा चलती है तब तक आदमी खाना नहीं छोड़ सकता। जो खाना नहीं छोड़ता, वह खेती करना नहीं छोड़ सकता। वह जीना चाहता है। उसे खाना ही पड़ेगा। अन्न के लिए खेती आवश्यक है। इसलिए अकर्म से सब प्रवृत्तियां छूट जाएंगी, यह भ्रामक कल्पना है। मनुष्य की आदत है कि वह तर्क के जाल में सचाई को छिपा देना चाहता है। तर्क से सचाई छिप जाती है। यही अकर्म के विषय में हुआ। अकर्म का सिद्धान्त मानव के लिए एक वरदान था, महामूल्यवान् था। यह जीवन का महान् सूत्र था। वह भुला दिया गया। ज्योति को राख से ढंक दिया गया।

जब तक मनुष्य इस राख को नहीं हटा सकेगा, ज्योति प्रकट नहीं होगी। जब तक मन, वाणी और शरीर को निष्क्रिय बनाने के सिद्धान्त का मूल्य नहीं

४. क्या आदतें बदली जा सकती हैं ?

१. प्रेक्षा ध्यान—विचित्र दर्पण जो केवल प्रतिविम्व ही प्रस्तुत नहीं करता, विकृति को मिटाता भी है।
२. आस्था अपने आप पर टिकाना।
३. व्यक्ति है स्वयं अपना गुरु और अपना निर्णायक।
४. सवसे बड़ा रोग है—उपाधि।
५. चार प्रकार के उपासक।
६. साधन-शुद्धि और साध्य-शुद्धि का विवेक।
७. आर० एन० ए० व्यक्तित्व के रूपान्तरण का घटक रसायन।
८. विज्ञान की पहुंच से परे है—तरंगातीत अवस्था।
९. तरंगातीत अवस्था तक पहुंचने के लिए कर्म-शरीर पर प्रहार आवश्यक है।

पीछे चलता जाता है। दोनों साथ-साथ जाते हैं। आगे चेतना और पीछे प्राण। चेतना देखती जाएगी और प्राण उस अस्वस्थ भाग को स्वस्थ करता जाएगा। देखना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि देखे बिना प्राण भी अपना काम ठीक नहीं कर पाता। जब हम प्राण की प्रक्रिया का सहारा लेते हैं तब चेतना का नियोजन भी जरूरी होता है। जहां चेतना नियोजित होती है वहां प्राण अपने आप सक्रिय हो जाता है और अपना काम प्रारम्भ कर देता है।

आस्था अपने पर

प्रेक्षा के अभ्यास में कुछेक बाधाएं हैं। तर्क आदमी को उलझा देते हैं। अभ्यास करें तो आस्था को कहां टिकाएं ? इतनी बड़ी दुनिया में इतनी प्रक्रियाएं हैं कि आदमी भूल-भुलैये में फंस जाता है। किस प्रक्रिया को वह अपनाए और किसे छोड़े ? एक तर्क एक प्रक्रिया का समर्थन करता है तो दूसरा उसको काट देता है। तर्क का यह अनन्त वात्याचक्र आदमी को निर्णय नहीं करने देता। आदमी भटक जाता है। आस्था को अन्यत्र टिकाने की बात का एक समाधान नहीं होता। मैं कहना चाहता हूं कि कहीं भी आस्था को न टिकाएं, किसी पर न टिकाएं। यदि टिकाना ही इष्ट हो तो केवल अपने पर टिकाएं, दूसरों पर नहीं। दूसरों पर आस्था टिकाएंगे तो धोखा खायेंगे। भटकाव होगा। इसलिए सबसे पहले अपने आपको आस्था का केन्द्र बनाएं। आप चाहते हैं कि आप आत्मा को उपलब्ध हों, चैतन्य को उपलब्ध हों, तो दूसरों पर आस्था टिकाने से यह उपलब्धि कैसे संभव हो सकती है ? कभी संभव नहीं है। दूसरा केवल पथ-दर्शक बन सकता है, आस्था अपने पर ही होगी। हम पथ-दर्शक का चुनाव कर सकते हैं, उसको खोज सकते हैं, किन्तु उसे सारी आस्था नहीं दे सकते। आत्मा को ही आस्था का केन्द्र बनाया जा सकता है।

मैं स्वयं अपना गुरु

एक बार का प्रसंग है। एक विद्वान् आया। बातचीत हो रही थी। उसने मुझे पूछा—'आप गुरु किसे मानते हैं ?' मैंने कहा—'मैं अपने आपको ही गुरु मानता हूं।' उसने प्रतिप्रश्न किया—'क्या महावीर और आचार्य तुलसी को गुरु नहीं मानते ?' मैंने कहा—'नहीं,'मैं स्वयं को ही अपना गुरु मानता हूं।' मेरे इस उत्तर ने उसे असमंजस में डाल दिया। वह मेरी ओर देखने लगा। मैं मन-ही-मन उसके मन के उतार-चढ़ाव को पढ़ता रहा। उसका मन जिज्ञासा के ज्वार से भर गया। मैंने उसके मौन को तोड़ते हुए कहा—'मैं महावीर को मानता हूं—यह निर्णय मेरा है या महावीर का ? मैं निर्णायक हूं। मैं अपना गुरु हूं इसीलिए महावीर को गुरु मानता हूं। अगर मैं अपना गुरु नहीं होता तो महावीर को गुरु नहीं

पढ़ रहे हो?' मैंने कहा—'कर्म-ग्रन्थों का अध्ययन कर रहा हूं, अन्यान्य दर्शनों को पढ़ रहा हूं।' उन्होंने तत्काल आचार्यश्री को संबोधित कर कहा—'गुरुदेव! यह कर्म-ग्रन्थों को और अन्यान्य दर्शनों को पढ़ रहा है, कहीं मूल श्रद्धान में कमजोरी तो नहीं है? कहीं ऐसा न हो कि पढ़ते-पढ़ते अपनी दिशा ही बदल दे।' आचार्यश्री ने कहा—'कोई चिन्ता की बात नहीं है। मूल दृढ़ है।'

आचार्यश्री ने मुझे कभी नहीं रोका। गुरु वह होता है जो कभी रोकता नहीं। उसमें यह कमजोरी नहीं होती कि शिष्य अन्यान्य चीजें पढ़ेगा तो दूसरी दिशा में बह जाएगा, भटक जाएगा। गुरु यदि रोकता है तो मैं समझता हूं कि उस गुरु की गुरुता में कहीं कमी है, उसके मन में भय है। जो गुरु अपने शिष्य को स्वयं के अस्तित्व पर टिका देता है, अपनी आस्था पर टिका देता है, फिर शिष्य कुछ भी पढ़े, कोई खतरा नहीं है।

आज के व्यक्ति में भटकाव बहुत है। सामने अनेक आकर्षण हैं। वह किसे ग्रहण करे? इस निर्णय से भी यह निर्णय महत्त्वपूर्ण है कि साधक को अपने-आप पर भरोसा है या नहीं, अपने अस्तित्व पर भरोसा है या नहीं? यदि स्वयं पर आस्था है तो सब कुछ है। कहीं कोई खतरा नहीं है। फिर आदमी कहीं जाए, किसी के पास रहे, किसी की उपासना करे, कोई खतरा नहीं है।

जो व्यक्ति शिविर में अभ्यास करते हैं वे इस आस्था के आधार पर ही साधना करते हैं। उन्हें अपने आप पर आस्था और विश्वास है। वे अपने आपको खोज रहे हैं। अपने आपको पाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

साधना की प्राथमिक आवश्यकता है अपने आपको देखना। देखना बहुत जरूरी है। बहुत लोग ऐसे होते हैं जो बीमार होते हुए भी अपने आपको बीमार नहीं मानते। कैंसर का इलाज न होने का एक कारण यह भी है कि कैंसर जब प्रारंभ होता है तब रोगी को पता ही नहीं रहता कि उसके कोई रोग है। जब उसे पता चलता है तब तक रोग पक जाता है। वह अचिकित्स्य हो जाता है। केवल ध्यान ही उसकी एकमात्र चिकित्सा है।

उपाधि : बड़ी बीमारी

सबसे बड़ी बीमारी है—उपाधि। उपाधि का अर्थ है—कपाय। यह केवल बीमारी ही नहीं, दूसरी बीमारियों को उत्पन्न करने वाली बीमारी है। जिन लोगों ने यह जान लिया वे अपनी खोज में चल पड़े, उनके लिए केवल अपनी खोज ही सब कुछ है। लोग एक प्रश्न करते हैं कि आज जितना आकर्षण भौतिकता के प्रति है, उतना आकर्षण अध्यात्म के प्रति नहीं है। चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे, आकर्षण की इस द्विविधता को मिटाया नहीं जा सकता। दो चीजें हैं। एक है सिनेमाघर और दूसरी है अस्पताल। जितना आकर्षण सिनेमा के प्रति है उतना

किन्तु इससे यह नहीं माना जा सकता कि व्यक्तित्व बदल गया, रूपान्तरण घटित हो गया। हम यह मानते हैं कि आत्मा है। वह पुनर्भवी है। वह कर्म की कर्त्ता है। वह कर्म को बांधती है। कर्म अपना फल देते हैं। कर्मों को भोगना ही पड़ता है। जब हम समग्रता की दृष्टि से इन नियमों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो लगता है कि वैज्ञानिक उपचार केवल सामयिक उपचार है, किन्तु समस्या का स्थायी समाधान या अंतिम समाधान नहीं है। उसका अंतिम समाधान है कि व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में चला जाए। क्रोध या किसी भी वृत्ति की तरगें पुष्ट होती हैं पुनरावृत्ति के द्वारा। क्रोध को क्रोध का सिंचन मिलता है तो वह पुष्ट होता है। क्रोध को क्रोध का सिंचन न मिले तो क्रोध का पौधा अपने आप मुरझा जाता है। अध्यात्म का सिद्धान्त है सामायिक का सिद्धान्त। अध्यात्म का सिद्धान्त है अपने आपको देखने का सिद्धान्त। यही तरंगातीत चेतना की भूमिका है। जब व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में पहुंच जाता है तब न राग का तरंग रहता है और न द्वेष का तरंग रहता है। तब न प्रियता होती है और न अप्रियता होती है। उस स्थिति में क्रोध का तरंग जहां से उठता है, उस पर ही प्रहार नहीं होता, किन्तु जो उस तरंग को उठाने का उत्तरदायी है, उस पर प्रहार होता है। वैज्ञानिक उपकरणों का, उनके द्वारा उत्पादित औषधियों का प्रभाव मस्तिष्कीय स्तरों पर, स्नायु-संस्थान या नाड़ी-मंडल पर होता है, किन्तु इस तरंगातीत ध्यान का, इस चैतन्य की अनुभूति का और समता का प्रभाव इस शरीर पर ही नहीं होता किन्तु वृत्तियों की तरंगों को पैदा करने वाले पर भी होता है। यह मूल पर प्रहार करने की प्रक्रिया है। इसलिए यह स्थायी समाधान है। विज्ञान से आगे की प्रक्रिया है। तरंगातीत अवस्था तक पहुंचने की यही एकमात्र प्रक्रिया है। इसका अवलम्बन लिये बिना उसकी प्राप्ति असंभव है।

मूल पर प्रहार

अध्यात्म की चेतना को जगाना, अपने आप पर आस्था केन्द्रित करना, अपने आपको जानना, अपनी खोज करना, खोज के संदर्भ में आने वाले कष्टों के लिए स्वयं को समर्पित करना, कष्ट-सहिष्णुता का विकास करना, कष्टों को आनन्द में बदल देना—यह सारी प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से केवल शारीरिक संस्थान ही प्रभावित नहीं होता, केवल शरीर की केमिस्ट्री ही नहीं बदलती, किन्तु यह प्रक्रिया सूक्ष्म-जगत् तक पहुंचकर हमारे सूक्ष्म शरीर—तैजस-शरीर और कर्म-शरीर को प्रभावित करती है। वहां पहुंचकर विकृतियों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देती है। कर्म-शरीर सारी विकृतियों का मूल है। ध्यान की प्रक्रिया से उन पर प्रहार होता है।

किन्तु इससे यह नहीं माना जा सकता कि व्यक्तित्व बदल गया, रूपान्तरण घटित हो गया। हम यह मानते हैं कि आतमा है। वह पुनर्भवी है। वह कर्म की कर्त्ता है। वह कर्म से बंधती है। कर्म अपना फल देते हैं। कर्मों को भोगना ही पड़ता है। जब हम समग्रता की दृष्टि से इन नियमों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो लगता है कि वैज्ञानिक उपचार केवल सामयिक उपचार है, किन्तु समस्या का स्थायी समाधान या अंतिम समाधान नहीं है। उसका अंतिम समाधान है कि व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में चला जाए। क्रोध या किसी भी वृत्ति की तरगें पुष्ट होती हैं पुनरावृत्ति के द्वारा। क्रोध को क्रोध का सिंचन मिलता है तो वह पुष्ट होता है। क्रोध को क्रोध का सिंचन न मिले तो क्रोध का पौधा अपने आप मुरझा जाता है। अध्यात्म का सिद्धान्त है सामायिक का सिद्धान्त। अध्यात्म का सिद्धान्त है अपने आपको देखने का सिद्धान्त। यही तरंगातीत चेतना की भूमिका है। जब व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में पहुंच जाता है तब न राग का तरंग रहता है और न द्वेष का तरंग रहता है। न उसमें प्रियता होती है और न अप्रियता होती है। उस स्थिति में क्रोध का [illegible] में उठता है, उस पर ही प्रहार नहीं होता, किन्तु जो उस तरंग को [illegible] का उत्तरदायी है, उस पर प्रहार होता है। वैज्ञानिक उपकरणों का, उनके द्वारा उत्पादित औषधियों का प्रभाव मस्तिष्कीय स्तरों पर, स्नायु-संस्थान या नाड़ी-संस्थान पर होता है, किन्तु इस तरंगातीत ध्यान का, इस चैतन्य की अनुभूति का और समता का प्रभाव इस शरीर पर ही नहीं होता किन्तु वृत्तियों की तरंगों को पैदा करने वाले पर भी होता है। यह मूल पर प्रहार करने की प्रक्रिया है। इसलिए यह स्थायी समाधान है। विज्ञान से आगे की प्रक्रिया है। तरंगातीत अवस्था तक पहुंचने की यही एकमात्र प्रक्रिया है। इसका अवलम्बन लिये बिना [illegible] असंभव है।

मूल पर प्रहार

[illegible] की चेतना को जगाना, अपने आप पर आस्था केन्द्रित करना, अपने आपको जानना, अपनी खोज करना, खोज के संदर्भ में आने वाले कष्टों के लिए अपने को समर्पित करना, कष्ट-सहिष्णुता का विकास करना, कष्टों को आनन्द में [illegible] सारी प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से केवल [illegible] प्रभावित नहीं होता, केवल शरीर की केमिस्ट्री ही नहीं [illegible] सूक्ष्म-जगत् तक पहुंचकर हमारे सूक्ष्म शरीर—तैजस-[illegible] कर्म-शरीर को प्रभावित करती है। वहां पहुंचकर विकृतियों के [illegible] समाप्त कर देती है। कर्म-शरीर सारी विकृतियों का मूल है। [illegible] प्रहार होता है।

५. देखो और बदलो

१. देखे बिना कोई बदला हो—असंभव।

२. देखा हो और न बदला हो—असंभव।

३. बदलने की इच्छा जागी हो और न बदला हो—असंभव।

४. बदलने के दो उपाय—प्रेक्षा और संकल्प।

५. आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का अर्थ है—
   - चंचलता को देखना।
   - चंचलता पैदा करने वाली आत्मा—कषाय-आत्मा को देखना।।
   - वीर्य-आत्मा को देखना।

६. संकल्प का जागरण : रूपान्तरण का घटक।

पांच

द्रष्टा और दृश्य एक

इस संसार में हर व्यक्ति बदलना चाहता है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जो जैसा हो वैसा ही रहना चाहता हो। बीज कभी बीज रहना नहीं चाहता और अंकुर कभी अंकुर रहना नहीं चाहता। बीज अंकुर होना चाहता है और अंकुर वृक्ष बनकर आकाश को छूना चाहता है। हर कोई बदलना चाहता है। जो नीचे है वह ऊपर आना चाहता है और जो ऊपर है वह नीचे आना चाहता है। अपने स्थान पर स्थिर रहना कोई नहीं चाहता। तारे ऊपर हैं। वे उल्कापात के मिष से नीचे आना चाहते हैं। बीज जो भूमि में हैं, नीचे हैं, वे वृक्ष बनकर आकाश में जाना चाहते हैं। यह सनातन प्रक्रिया है।

बदलने की चाह सबमें है। प्रश्न है बदलने का मार्ग कौन-सा है? बदलने का एकमात्र मार्ग है—देखना। जो नहीं देखता, वह नहीं बदलता। जो बदला है वह इसी माध्यम से बदला है। बिना देखे बदलना संभव नहीं है। जो 'देखने' के मार्ग पर चला हो और न बदला हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। जिसने देखना शुरू कर दिया उसने बदलना भी शुरू कर दिया।

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग देखने का प्रयोग है और देखने के द्वारा बदलने का प्रयोग है। हमारा सूत्र है—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। आत्मा को देखना है और आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना है। जिसके द्वारा देखना है वह भी आत्मा है और जिसे देखना है, वह भी आत्मा है। जो है वह भी आत्मा है और जिसे बदलना है वह भी आत्मा है। सब कुछ आत्मा ही आत्मा। आत्मा ही साधन है। आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही द्रष्टा है। आत्मा ही दृश्य है। [illegible] किसे देखें? कैसे देखें? किसके द्वारा देखें? क्या [illegible]

५. देखो और बदलो

१. देखे बिना कोई बदला हो—असंभव।
२. देखा हो और न बदला हो—असंभव।
३. बदलने की इच्छा जागी हो और न बदला हो—असंभव।
४. बदलने के दो उपाय—प्रेक्षा और संकल्प।
५. आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का अर्थ है—
   - चंचलता को देखना।
   - चंचलता पैदा करने वाली आत्मा—कषाय-आत्मा को देखना॥
   - वीर्य-आत्मा को देखना।
६. संकल्प का जागरण : रूपान्तरण का घटक।

पांच

द्रष्टा और दृश्य एक

इस संसार में हर व्यक्ति बदलना चाहता है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जो जैसा हो वैसा ही रहना चाहता हो। बीज कभी बीज रहना नहीं चाहता और अंकुर कभी अंकुर रहना नहीं चाहता। बीज अंकुर होना चाहता है और अंकुर वृक्ष बनकर आकाश को छूना चाहता है। हर कोई बदलना चाहता है। जो नीचे है वह ऊपर जाना चाहता है और जो ऊपर है वह नीचे आना चाहता है। अपने स्थान पर स्थिर रहना कोई नहीं चाहता। तारे ऊपर हैं। वे उल्कापात के मिष से नीचे आना चाहते हैं। बीज जो भूमि में हैं, नीचे हैं, वे वृक्ष बनकर आकाश में जाना चाहते हैं। यह सनातन प्रक्रिया है।

बदलने की चाह सहज है। प्रश्न है बदलने का मार्ग कौन-सा है? बदलने का एकमात्र मार्ग है— देखना। जो नहीं देखता, वह नहीं बदलता। जो बदला है वह इसी माध्यम से बदला है। बिना देखे बदलना संभव नहीं है। जो 'देखने' के मार्ग पर चला हो और न बदला हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। जिसने देखना शुरू कर दिया उसने बदलना भी शुरू कर दिया।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग देखने का प्रयोग है और देखने के द्वारा बदलने का प्रयोग है। इसका सूत्र है—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। आत्मा को देखना है और आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना है। जिसके द्वारा देखना है वह भी आत्मा है और जिसे देखना है, वह भी आत्मा है। जो है वह भी आत्मा है और जिसे बदलना है वह भी आत्मा है। सब कुछ आत्मा ही आत्मा। आत्मा ही साधन है, आत्मा ही साध्य है। आत्मा ही द्रष्टा है और आत्मा ही दृश्य है। [illegible] स्पष्ट है। [illegible] किसे देखें? कैसे देखें? किसके द्वारा देखें? [illegible]

सचमुच एक जटिल पहेली है। यदि यह कहा जाता है कि आत्मा के द्वारा मकान को देखें, कपड़े को देखें, पुस्तक को या आदमी को देखें, तो बात समझ में आ सकती थी। वहां आत्मा द्रष्टा बनती और दृश्य बनता अन्य पदार्थ। किन्तु आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की बात सहजगम्य नहीं है।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'—यह बहुत बड़े सत्य की अभिव्यक्ति है। इसे गहराई में जाकर ही समझा जा सकता है।

आत्मा अखंड नहीं

क्या हमारी आत्मा अखंड है? किसने कहा कि आत्मा अखंड है? हर मनुष्य की प्रकृत्ति ने आत्मा को तोड़ रखा है। उसने अनेक दीवारें खींच ली हैं। उनसे आत्मा अनेक खडों में विभाजित हो गई है। एक अखंड चेतना टुकड़ों में बंट गई। हजारों टुकड़े हो गए। अखंडता गायब हो गई। जिन लोगों ने गहराई में जाने का प्रयत्न किया है, उन्होंने टूटे हुए चेतना के खंड़ों को देखा है, जाना है। मनोविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि मनःचेतना के मुख्यतः तीन स्तर हैं—चेतन मन, अर्द्ध-चेतन मन, अवचेतन मन। भगवान् महावीर ने आठ आत्माएं स्वीकार कीं—द्रव्य आत्मा, कषाय आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा, चरित्र आत्मा और वीर्य आत्मा। ये तो केवल संकेत मात्र हैं। आत्माएं असंख्य हो सकती हैं। एक ही अखंड आत्मा के असंख्य टुकड़े। इस असंख्य के अवबोध को जैन थोकड़ों की भाषा में 'अनेरी आत्मा' शब्द से संगृहीत किया है। 'अनेरी' का अर्थ है—दूसरी। जिस आत्मा का नामकरण हो सके वह उस नाम से अभिहित हो और जिसका नामकरण न हो सके वह 'अनेरी' शब्द से अभिव्यक्त हो।

आत्मा : साधन भी साध्य भी

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की प्रक्रिया को हम समझें। हम बाहर से चलें। पहले हम चेतन मन का प्रयोग करें। हम चित्त चेतना के द्वारा देखना शुरू करें। सबसे पहले बाहर की चेतना को देखें। प्रवेश-द्वार से गुजरे बिना भीतरी मकान तक नहीं पहुंचा जा सकता। भीतर तक पहुंचने के लिए सारा रास्ता तय करना होता है। प्रश्न होता है कि जिसने द्वार को देखा, क्या उसने मकान को देख डाला? क्या दरवाजा मकान है? नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता और है यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि दरवाजा मकान नहीं है तो भीतर का मकान भी मकान नहीं है। यदि दरवाजा मकान है तो फिर भीतर क्या है? मकान तो दरवाजा है, कमरा भी दरवाजा है। केवल दरवाजे को ही मकान नहीं कह सकते और केवल कमरे को ही मकान नहीं कह सकते। दरवाजा, कमरे, खिड़कियां, मैदान इन सब का समवाय है मकान। मकान के जितने अवयव हैं वे

सब मकान हैं।

हमारा बाहरी चित्त है वह भी आत्मा है और सबसे भीतर जो स्वस्थ चेतना का अधिष्ठान है वह भी आत्मा है। हमारा प्रवेश द्वार है बाहरी चित्त और हमें पहुंचना है शुद्ध चैतन्य तक। एक है साध्य और एक है साधन। साधन है वह भी आत्मा है और साध्य है वह भी आत्मा है। साधन आत्मा के द्वारा साध्य आत्मा तक पहुंचना है।

शरीर है आत्मा

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें' का तात्पर्य है कि चित्त के द्वारा आत्मा के विभिन्न स्तरों को देखें। देखते-देखते साध्य-चेतना तक पहुंच जाएंगे। जब हम देखना शुरू करेंगे तो सबसे पहले हमारे सामने आएगा शरीर। शरीर हमारी आत्मा है। जब तक उसमें प्राण-शक्ति का संचार है तब तक हम शरीर को सर्वथा अनात्मा नहीं कह सकते। अंगुली इसलिए हिलती है कि वह आत्मा है। क्या शरीर का कोई ऐसा प्रदेश है जहां आत्मा न हो? क्या शरीर का एक भी परमाणु ऐसा है जो आत्मा से भावित न हो? आत्मा है इसलिए आदमी खा रहा है, बोल रहा है, श्वास का स्पंदन हो रहा है। आत्मा के चले जाने पर आदमी न खा सकता है, न बोल सकता है और न श्वास ले सकता है। श्वास आत्मा है, भाषा आत्मा है, आहार आत्मा है और शरीर आत्मा है। आहार एक पर्याप्ति भी है और प्राण-शक्ति भी है। शरीर एक पर्याप्ति भी है और प्राण-शक्ति भी है। भाषा एक पर्याप्ति है तो एक प्राण-शक्ति भी है। मन एक पौद्गलिक शक्ति है तो वह एक प्राण-शक्ति भी है। हम पुद्गल और आत्मा को बांट नहीं सकते।

चंचलता कितनी ?

हम चित्त को साधन बनाकर देखना प्रारंभ करें। सबसे पहले आएगा योग आत्मा। इसका अर्थ है—चंचलता। आत्मा के दो लक्षण हैं—चंचलता और स्थिरता। चंचलता के दो प्रकार हैं—एक है स्वाभाविक चंचलता और एक है कृत्रिम चंचलता। सबसे पहले शरीर की चंचलता, श्वास, वाणी और मन की चंचलता आएगी। उसे हम देखें। चंचलता को देखने का प्रयास करें। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का मतलब है भीतर में होने वाली चंचलता को देखना। चंचलता को देखने का अर्थ है अपने आपको देखना। चंचलता को जानने का अर्थ है अपने आपको जानना। जो अपनी चंचलता को नहीं देखता-जानता वह अपने आपको नहीं देखता-जानता। चंचलता को देखे जाने बिना हम अपने आपको कैसे जान पाएंगे। यदि कोई यह मानकर बैठ जाए कि वह तो शुद्ध, बुद्ध, स्थिर और कूटस्थ है, उसे फिर साधना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसे आत्मा

को देखने-जानने की जरूरत नहीं है। यदि मैं शुद्ध हूं, वुद्ध हूं, निरंजन और निराकार हूं, पवित्र और निर्लेप हूं, कूटस्थ नित्य हूं तो फिर मुझे धार्मिक उपासना करने को क्या जरूरत है? फिर मैं ध्यान या उपासना में अपना समय क्यों लगाऊं? कोई जरूरत नहीं है। जो स्वर्ण शुद्ध हो चुका है उसे फिर तपाने या गलाने की क्या आवश्यकता है? अशुद्ध स्वर्ण को तपाने और गलाने की जरूरत होती है, जिससे की उसकी अशुद्धि मिट जाए। पर जो स्वयं शुद्ध है उसे शुद्ध क्या किया जाए?

किन्तु जव हम आत्मा के द्वारा आत्मा को देखते हैं तब हमें पता चलता है कि हमारे भीतर कितनी चंचलता है। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता, एकाग्र नहीं होता, उसे चंचलता का ज्ञान नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं—हम जव दूकान में रहते हैं या अन्यान्य गृहस्थी के कार्यों में संलग्न रहते हैं तब हमारा मन इधर-उधर नहीं भटकता, किन्तु ज्योंही हम ध्यान करने या उपासना करने वैठते हैं तव मन भटकने लग जाता है। तब हमें चंचलता का अनुभव होता है। इस विपय में हम बहुत भ्रांत हैं। जव व्यक्ति घर में या दूकान में होता है, जुआ खेलता है या गप्पें करता है तव वह चंचल ही होता है। उस समय चंचलता का क्या पता चले? सव कुछ चंचल ही है। जव व्यक्ति स्थिर होता है तव उसे भयंकर चंचलता का ज्ञान होता है। चंचल अवस्था में चंचलता का क्या पता चले? कीचड़ में फंसने का आभास उसे नहीं होता जो सदा कीचड़ में ही फंसा रहता है। कीचड़ में फंसने का आभास उसे होता है जो कीचड़ में नहीं फंसा है, पर फंसने की-सी नौवत आती है।

चंचलता देखें

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का पहला अर्थ होगा कि आत्मा के द्वारा अपनी चंचलता को देखें। जव व्यक्ति स्थिर होकर चंचलता को देखता है तव उसे इधर-उधर होने वाले दर्द की अनुभूति होती है। यह जागृत अवस्था है। सुषुप्त अवस्था में दर्द की अनुभूति नहीं होती। चंचलता में दर्द की अनुभूति नहीं होती, स्थिरता में वह होती है। दर्पण में क्षमता है कि वह प्रतिविम्व को ग्रहण कर सकता है। किन्तु प्रतिविम्व तव आता है जव वह स्थिर होता है। जव दर्पण हिलता रहता है तव उसमें कोई प्रतिविम्व नहीं आता। जव हम मन और शरीर को स्थिर कर देखते हैं तव ज्ञात होता है कि भीतर कितनी चंचलता है। आत्मा चंचलतामय वनी हुई है। वह स्थिरता को नहीं चाहती। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का अर्थ है—अपनी चंचलता को देखना! चंचलता को देखने का अर्थ है—आत्मा को देखना यानी योग आत्मा को देखना। आठ आत्माओं में एक आत्मा है—योग आत्मा। योग को देखना, प्रवृत्ति को देखना, कर्म को देखना, अपनी

चंचलता को देखना—यह है आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का पहला अर्थ।

चंचलता का जनक : कषाय

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का दूसरा अर्थ है कि चंचलता पैदा करने वाली आत्मा को देखना।

जब मन शांत होता है तब ध्यान में स्थिरता शीघ्र ही आ जाती है। जब मन चंचल होता है तब स्थिरता प्राप्त नहीं होती। चंचलता पैदा क्यों होती है? एक आदमी शांत हैं। किसी ने उसको कह दिया— तुम निकम्मे हो, अहंकारी हो। तुमने सारा वातारण बिगाड़ डाला। उन वाक्-प्रहारों को सुनकर जब व्यक्ति ध्यान करने बैठता है तब उसका मन स्थिर हो ही नहीं सकता। वह भले ही आसन लगाकर बैठे, आंखें बन्द कर ले, सुझावों के अनुसार ध्यान करने का प्रयत्न करे; फिर भी उसका मन स्थिर हो नहीं सकता क्योंकि उन वाक्-प्रहारों से भीतरी चंचलता बहुत बढ़ जाती है। चंचलता का सारा समुद्र हिलोरें लेने लगता है। विकल्पों का ज्वार आता है और मन उस प्रवाह में बह जाता है। स्थिरता आ ही नहीं सकती।

चंचलता को पैदा करने वाली है—कषाय आत्मा। हम उसको देखें। चंचलता को देखने के बाद हम चंचलता पैदा करने वाली आत्मा को देखें जब कषाय आत्मा विद्यमान होती तब योग आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। जब कषाय आत्मा समाप्त हो जाती है तब योग आत्मा का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। चंचलता अपने आप नहीं चल सकती। उसे सहारा चाहिए। वह बैशाखी के सहारे ही चल पाती है। चंचलता को टिकाने वाली है कषाय आत्मा। हमारी चंचलता के पीछे अनेक चेतनाएं काम करती हैं। एक है क्रोध की चेतना, एक है माया और अभिमान की चेतना, एक है वंचना और विप्रतारणा की चेतना, एक है लोभ और भय की चेतना। ये चेतनाएं चंचलता को बढ़ाती हैं। भय की चेतना से चंचलता के बढ़ने का हम सबको अनुभव है। आदमी शांत स्थिर है। ज्योंही उसे पता लगता है कि सांप आ गया, उसकी स्थिरता और शांति गायब हो जाती है। उसका सारा यंत्र शरीर चंचलता से भर जाता है। मन अत्यधिक चंचल हो उठता है। भय की चेतना के जागते ही चंचलता जाग जाती है।

क्रोध की चेतना के जागते ही आदमी चंचल हो उठता है। उसका मस्तिष्क विकल्पों से इतना अक्रान्त हो जाता है कि वह न शांत बैठ सकता है और न सो सकता है।

माया की चेतना का जागरण भी भंयकर होता है। मायावी आदमी अपने माया के जाल को बिछाने में इतना चंचल होता है कि दूसरी चंचलताएं उसके सामने नगण्य सी लगती हैं। एक माया को छुपाने के लिए हजारों माया जाल

बुनने पड़ते हैं। क्षण-क्षण चंचलता में ही बीतता है।

लोभ की चेतना भी चंचलता की जननी है। इस चंचलता का अन्त सहज नहीं होता।

हम आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की प्रक्रिया में उस मूल सचाई का अनुभव करें जो चंचलता को पैदा करती है। जब तक इस सचाई का अनुभव नहीं करेंगे तब तक स्थिरता को उपलब्ध नहीं हो सकेंगे। कषाय चेतना को देखना-जानना ही स्थिरता को उपलब्ध करना है।

राजस्थानी में एक कहावत है—'छाछ मांगने आई और घर की मालकिन बनकर बैठ गई।' इन विभिन्न चेतनाओं ने भी ऐसा ही कुछ किया है। ये आत्मा बनकर बैठ गई। सारी विकृत्तियां आत्मा बनकर जम गई। अब इन स्वामिनियों को उखाड़ फेंकना साधारण बात नहीं है। इन्होंने इतना अधिकार जमा लिया है कि मूल स्वामी को स्थान छोड़ने के लिए ललकार रही हैं। इन सब चेतनाओं को हटाना प्रयत्न-साध्य है।

वीर्य आत्मा का दर्शन

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने का तीसरा अर्थ है—वीर्य आत्मा को देखें। शक्ति की आत्मा को देखें। जब हम चाहते हैं कि चंचलता को मिटाएं और साथ साथ चंचलता को उत्पन्न करने वाली चेतना को भी नष्ट करें तो हमें वीर्य—शक्ति का सहारा लेना होगा। शक्ति-शून्यता की अवस्था में इनसे निपटना संभव नहीं है। पूरी शक्ति चाहिए। इनको देखने में इतनी शक्ति अपेक्षित नहीं होती, किन्तु इनको नष्ट करने में शक्ति का संचय और प्रयोग अपेक्षित होता है।

एक नाविक नाव को खे रहा था। एक पंडित उसमें बैठा था। कुछ दूर जाकर पंडित ने नाविक से पूछा—'तुमने बायोलॉजी पढ़ी है ? उसने कहा—'बायोलॉजी क्या बला है, मैं नहीं जानता। पंडित बोला—'नाविक ! तुमने अपनी एक चौथाई जिन्दगी व्यर्थ गंवा दी। अच्छा तुमने जूओलॉजी पढ़ी है ? वह बोला—मालिक मैं नहीं जानता, यह क्या होती है।' पंडित ने कहा—'तुमने आधी जिन्दगी यों ही खोयी।' अच्छा, क्या तुम सायकोलॉजी जानते हो ? नाविक बोला—'बाबूजी ! ये 'लोजियां' मैं नहीं जानता।' पंडित तत्काल बोल उठा—'तुमने अपनी पौन जिन्दगी गंवा दी। इतने में ही एक तेज तूफान आया। नाव डगमगाने लगी। नाविक बोला—'बाबूजी ! आप तैरना जानते हैं ?' पंडित बोला—नहीं मैंने तैरना सीखा ही नहीं।' नाविक बोला—'बाबूजी, आपने सारी जिन्दगी फिजूल खो दी। अब डूबने मरने के लिए तैयार हो जाओ।'

जिसमें तैरने की शक्ति नहीं है, वह डूबने से नहीं बच सकता। वह कितनी ही विद्याएं पढ़ ले किन्तु डूबने से बचने के लिए तैरना ही सीखना होगा। दूसरी

प्रत्येक व्यक्ति इस सचाई का अनुभव करे कि वह अपनी शक्ति का प्रयोग करके जो चाहे बन सकता है, बदल सकता है। जो अपने वीर्य का उपयोग करता है, वह बदल सकता है। जानें और बदलें। देखें और बदलें। जानने के लिए ज्ञान-आत्मा का उपयोग करें और बदलने के लिए वीर्य-आत्मा का उपयोग करें।

आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने के ये तीन अर्थ हैं—

१. अपनी चंचलता को देखें।
२. चंचलता को उत्पन्न करने वाली पदार्थ-चेतना और पदार्थ-प्रतिबद्ध चेतना को देखें।
३. परिणमन घटित करने वाली वीर्य-आत्मा को देखें।

६. प्रेक्षा एक पद्धति है शारीरिक स्वास्थ्य की

१. व्याधि का हेतु है—जटिल आदतें।
२. अपना-अपना मूल्यांकन।
३. अहं से अर्हम् तक।
४. मन कभी स्थिर होता ही नहीं। अमन बनने की साधना। मन को समाप्त करना।
५. एक रोग—मूर्च्छा।
एक दवा—जागृति।
६. पूरी यात्रा के तीन अंग—इच्छा, आकांक्षा, संकल्प।
७. मूल है उपाधि। उपाधि की चिकित्सा करो, आधि मिटेगी, व्याधि मिटेगी।
८. अनुभव है आस्था-निर्माण का आधार।
९. शब्द-संरचना का प्रभाव।

छह

मूल्यांकन अपना-अपना

एक कन्या ने अपने पिता से कहा—'मैं किसी पुरातत्त्वविद् से विवाह करना चाहती हूं।' पिता ने पूछा—'क्यों ?' कन्या बोली—'पिताजी ! पुरातत्त्वविद् ही एक ऐसा व्यक्ति होता है जो पुरानी चीजों को ज्यादा मूल्य देता है। मैं भी ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाऊंगी, बूढ़ी होती जाऊंगी, मेरा मूल्य भी बढ़ता जाएगा। वह मेरे से नफरत भी नहीं करेगा। वह यह नहीं देखता कि वस्तु कितनी सुन्दर है, कितनी असुन्दर है। वह इतना देखता है कि वस्तु कितनी पुरानी है। यह उसके मूल्यांकन की दृष्टि होती है।'

मूल्यांकन का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है। मूल्यांकन का हमारा भी एक दृष्टिकोण है। अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति का अपना एक दृष्टिकोण होता है मूल्यांकन का और वह उसका स्वयं का दृष्टिकोण होता है, किसी से उधार लिया हुआ नहीं। उसका दृष्टिकोण है—दृष्टि बदले, चरित्र बदले। ध्यान की साधना करने वाले साधक का प्रयोजन यही होता है कि दृष्टि बदले, चरित्र बदले। वह पुराना ही न रहे, नया बने। पुरानेपन का आग्रह छूटे। साधना में पुरातत्त्व-विद् की दृष्टि काम नहीं देती। वहां नयेपन का आयाम खुलता है और सदा नया बना रहने की आकांक्षा बनी रहती है।

अहं अर्हं बने

प्रत्येक समझदार आदमी का प्रयत्न सप्रयोजन होता है। ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति का साध्य है—रूपान्तरण। दृष्टि का रूपान्तरण, चरित्र का रूपान्तरण। 'अहं' को 'अर्हम्' में बदलना। अहं और अर्हम् में केवल ऊर्ध्व रेफ का अन्तर है, एक मात्रा का अन्तर है। साधक अहं को छोड़कर अर्हं बनना चाहता है। यह एक छोटी-सी यात्रा है। एक मात्रा का अर्जन करना है। अहं पर ऊर्ध्व रेफ लगे, ऐसा प्रयत्न करना है। आधी मात्रा को प्राप्त करना है। इतना होने से

यात्रा सम्पन्न हो जाती है। साधना सफल हो जाती है। ध्यान के साधक की जितनी छोटी यात्रा होती है उतनी छोटी यात्रा और किसी की नहीं होती। छोटा-सा यात्रा-पथ है।

तादात्म्य नहीं, अभिव्यक्ति

प्रेक्षा-ध्यान प्रारंभ करते समय हम प्रतिदिन अर्हं की यात्रा करते हैं। यह इसलिए कि अर्हम् हमारा साध्य है। हम अर्हम् होना चाहते हैं, अहं से मुक्त होना चाहते हैं। यह आत्मा की उपलब्धि का उपाय है। आत्मा अमूर्त्त है, अनाकार है, सूक्ष्म है। हम उसे पाना चाहते हैं। वह दीखती नहीं। हम एक मॉडल बनाते हैं, प्रारूप तैयार करते हैं और उसके आधार पर आत्मा को पाना-जानना चाहते हैं। हम जो होना चाहते हैं, 'अर्हम्' हमारा प्रतीक है, प्रारूप है। हम इसको सामने रखकर चलें। एक दिन आत्मा तक पहुंच जाएंगे। हम जो होना चाहते हैं वह है—अनन्त-चेतना, अनन्त-शक्ति और अनन्त-आनन्द के साथ तादात्म्य नहीं, किन्तु अभिव्यक्ति। यह सब हमारे भीतर है। बाहर से कुछ पाना नहीं है। केवल उसकी अभिव्यक्ति मात्र करनी है। उस अभिव्यक्ति की सारी सामग्री हमारे भीतर है। केवल प्रयत्न चाहिए। एक भवन वह होता है जो विविध सामग्री से बनाया जाता है। एक भवन वह होता है जो कांट-छांटकर बनाया जाता है। दक्षिण में स्थित बाहुबली की विशाल प्रतिमा किसी सामग्री से नहीं बनाई गई, किन्तु जो कुछ अतिरिक्त था, उसे काट दिया गया और प्रतिमा उभर आई। प्रस्तर की प्रतिमा में सामग्री अपेक्षित नहीं होती। जो प्रस्तर अधिक है, उसे कांट-छांट दिया जाता है, प्रतिमा अभिव्यक्त हो जाती है। यही बात है आत्मा की प्रतिमा के विषय में। उसको पाने के लिए सामग्री की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ विजातीय तत्त्व उससे चिपका हुआ है, उसे हटा देने से आत्मा की प्रतिमा उभर आती है। जो कुछ उसके साथ जुड़ गया है, उसे अलग कर देने से आत्मा उपलब्ध हो जाती है।

कोऽहं कोऽहं का उत्तर

ज्ञेय, हेय और उपादेय—यह त्रिपुटी है। ज्ञेय सब कुछ है। अच्छा हो या बुरा, सब कुछ जानने योग्य है। जानने के बाद दो बातें शेष रहती हैं—हेय और उपादेय। हेय का अर्थ है—छोड़ना। जो कुछ अतिरिक्त है उसे अलग कर देना है। शेष जो बचेगा वह है उपादेय, वह है अपना अस्तित्व। अस्तित्व का प्रश्न बहुत जटिल है। अनन्त काल से आदमी पूछता रहा है—'कोऽहं, कोऽहं—मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?' ग्रन्थों में इसका उत्तर अप्राप्य है। बुद्धि का व्यवसाय भी इसका उत्तर नहीं दे पाता। तर्क इस प्रश्न को समाहित नहीं कर सकता। यह प्रश्न

समाहित हो सकता है केवल विवेक चेतना के जागरण द्वारा। विवेक, कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग—ये तीनों साधन हैं। जैन आचार्यों ने जिसे विवेक-चेतना या विवेक-प्रतिमा कहा है, उसे ही उपनिषद्कारों ने 'नेति नेति' कहा है। विवेक का अर्थ है—छोड़ना, छोड़ते जाना। चलते-चलते जो शेष रहेगा वही है अस्तित्व, वही है 'कोऽहं' प्रश्न का उत्तर। ज्ञेय को जानना और हेय को छोड़ना, जो अतिरिक्त है उसे छोड़ना, शेष जो बचे वही 'मैं हूं।' इस प्रक्रिया में निर्मित कुछ नहीं होता, किन्तु जो अभिव्यक्त नहीं था वह अभिव्यक्त हो जाता है। जो आवृत था, वह अनावृत हो जाता है।

मन स्थिर नहीं हो सकता

सबसे पहले हमें चंचलता को छोड़ना है। ग्रंथ यह बता रहे हैं कि सबसे पहले हमें मन को स्थिर करना है। मैं समझता हूं यह एक भ्रांति है। मन कभी स्थिर होता ही नहीं। आपके मन में प्रश्न हो सकता है कि फिर ध्यान का प्रयोजन ही क्या है? क्यों ध्यान-शिविर लगाए जाते हैं? आप इसे गहराई से समझें।

मन की प्रकृति है चंचलता। उसका यह स्वभाव है। वह अपने स्वभाव को कैसे छोड़ेगा? वह स्थिर क्यों होगा? आरोपित गुणों को हटाया जा सकता है, किन्तु स्वभाव को कभी नहीं बदला जा सकता। विभाव को नष्ट किया जा सकता है, किन्तु बीमारी को स्वास्थ्य में नहीं बदला जा सकता। मन को स्थिर नहीं किया जा सकता।

मन का अर्थ

मन का अर्थ है—संकल्प-विकल्प। मन का अर्थ है—स्मृति और चिंतन। मन का अर्थ है—कल्पना। मन तीनों कालों में बंटा हुआ है। जो अतीत की स्मृति करता है, उसका नाम है—मन। जो भविष्य की कल्पना करता है, उसका नाम है—मन। जो वर्तमान का चिंतन करता है, उसका नाम है—मन। तीनों चंचलताएं हैं। स्मृति एक चंचलता है। कल्पना एक चंचलता है। चिंतन एक चंचलता है। जब स्मृति, कल्पना और चिंतन नहीं होते तब मन नहीं होता। जब मन होता है तब तीनों आवश्यक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मन को स्थिर करने की बात कैसे प्राप्त हो सकती है? मन को स्थिर करने की बात केवल एक भ्रांति है। इसे हम निकाल दें।

मन को स्थिर नहीं, समाप्त करना

मन को स्थिर करने का अर्थ है—मन के अस्तित्व को समाप्त कर देना। हम इस भाषा का प्रयोग करें कि मन को स्थिर नहीं किया जा सकता, उसको

समाप्त किया जा सकता है। मन को अमन बनाया जा सकता है। मन का स्थायी अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व अस्थायी है। यदि कोई सोचे कि वह दीपक की लौ की गति को रोक दे, तो क्या यह संभव है? गति को रोकने का अर्थ है—लौ की समाप्ति। दीपक बुझ जाएगा। हम दीपक को बुझा सकते हैं, लौ की गति को नहीं रोक सकते। नदी के प्रवाह को रोका जा सकता है। रुकने के बाद प्रवाह प्रवाह नहीं रहता, वह केवल बांध का पानी बन जाता है। प्रवाह भी रहे और गति भी न हो, दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। मन भी रहे और स्मृति, कल्पना तथा चिंतन न हो—ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। मन होगा तो ये तीनों बातें होंगी। ये होंगी तो मन अवश्य होगा। मन को उत्पन्न न करें, यह संभव है। मन को मिटा दें, यह भी संभव है, किन्तु मन को स्थिर कर दें, यह संभव नहीं है।

अमन की स्थिति

हम ऐसा अभ्यास करें जिससे मन की भूमिका से हटकर चित्त की भूमिका पर चले जाएं। हम मन को उत्पन्न न करें और अधिक से अधिक अमन की स्थिति में रहना सीखें। हमारी साधना का यही प्रयोजन है कि हम मन को पैदा न करें, मन को चंचल बनाने वाली चित्त की चेतना को स्थिर करें और अमन की स्थिति में रहें।

ज्ञाता-द्रष्टाभाव का जितना अधिक विकास होगा, समता का जितना अधिक विकास होगा, राग द्वेष से परे रहने का जितना अधिक विकास होगा, उतना ही विकास अमन की स्थिति का होगा। जब व्यक्ति अमन की स्थिति में जाता है तब दृष्टि में परिवर्तन होना प्रारंभ हो जाता है। हम एक आंख से प्रियता का दर्शन करते हैं और दूसरी आंख से अप्रियता का दर्शन करते हैं। हमारा समूचा जीवन प्रियता और अप्रियता को देखने में बीत जाता है। इसके अतिरिक्त आंख के सामने कोई दर्शन नहीं है। प्रियता और अप्रियता से परे का कोई दर्शन प्राप्त नहीं है। उसे देखने के लिए हमें तीसरी आंख चाहिए। इस तृतीय नेत्र के द्वारा हम प्रियता और अप्रियता से हटकर पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से और यथार्थ को केवल यथार्थ की दृष्टि से देख सकें, सत्य को केवल सत्य की दृष्टि से देख सकें।

इच्छा, आकांक्षा, संकल्प—पूरी यात्रा

बदलने की चाह होती है, किन्तु जब तक चाह संकल्प तक नहीं पहुंचती तब तक बदलाहट नहीं आती। चाह को संकल्प तक पहुंचने में लम्बी यात्रा करनी होती है। पहले इच्छा बने, इच्छा से आकांक्षा, आकांक्षा से संकल्प और संकल्प से भावना बने, तब यात्रा पूरी होती है। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा हो सकती है कि

वह नैतिक बने, चरित्र-संपन्न बने। किन्तु इच्छा को आकांक्षा तक ले जाने में लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। नीतिशास्त्र में इस विषय पर बहुत विचार किया गया है। पाश्चात्य विचारकों का कथन है कि इच्छा और आकांक्षा की दूरी को मिटाना बहुत आवश्यक है।

भरत चक्रवर्ती का सेनापति था सुषेण। उसने एक दिन आकर कहा—सम्राट्! एक चक्ररत्न का प्रादुर्भाव हुआ है, किन्तु वह आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है। उसकी यह मर्यादा है कि जब तक सारे राजा आपके अधीन नहीं हो जाते तब तक वह प्रवेश नहीं कर सकता। लगता है कोई राजा आपको अभी सम्राट् मानने के लिए तैयार नहीं है।' चक्रवर्ती भरत ने सोचा। उसे लगा—भाई बाहुबली एक ऐसा नरेश है जो मेरा आधिपत्य स्वीकार नहीं कर रहा है। मैं उसे पराजित करूं जिससे कि चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश कर सके। भरत के मन में इच्छा हुई। वह आकांक्षा तक पहुंचे, इससे पूर्व ही भरत के मन में आया—बाहुबली छोटा भाई है। भाई पर कैसे आक्रमण करूं? लोग क्या कहेंगे? मेरी प्रतिष्ठा क्या रहेगी? इच्छाओं के बीच संघर्ष चलता रहा। फिर उसने सोचा—भाई है तो क्या? प्रश्न भाई का नहीं है। प्रश्न है साम्राज्य का। मुझे उसी के आधार पर सोचना है। मुझे कर्त्तव्य की दृष्टि से जो करना है वह करना है। भावना जागी और आक्रमण की इच्छा विजयी हो गई। स्नेह पराजित हो गया। इच्छा आकांक्षा में बदली। दूत भेजा। उसके अपमान को देखा-सुना। आकांक्षा संकल्प में बदली और युद्ध प्रारंभ हो गया।

प्रेक्षा : विपरीत प्रक्रिया

इच्छा से आकांक्षा और आकांक्षा से संकल्प दृढ़ होता है। जब संकल्प दृढ़ होता है तब कर्म प्रारंभ हो जाता है, प्रगति शुरू हो जाती है। चरित्र का परिवर्तन घटित होने लगता है। एक इच्छा पैदा होती है किन्तु जब अनेक इच्छाओं में संघर्ष होने लगता है तब बहुत कम लोग अपनी मूल इच्छा को विजयी बना पाते हैं। वे उस संघर्ष में शिथिल होकर पराजित हो जाते हैं। आदमी चरित्रवान् और प्रामाणिक बने रहने की इच्छा रखता है। परन्तु जब वह अचरित्रवान् व्यक्ति के वैभव और सुख-सुविधाओं को देखता है तब चरित्रवान् बने रहने की इच्छा पराजित हो जाती है और अनैतिक होकर बड़ा आदमी बनने की इच्छा विजयी बन जाती है। एक प्रश्न होता है कि व्यक्ति चाहते हुए भी नैतिक या चरित्रवान् क्यों नहीं बनता? इसका समाधान यह है कि इच्छाओं के इस जगत् में जब तक व्यक्ति अपनी इच्छाओं को विजयी नहीं बना देता तब तक चरित्रवान् होने की आकांक्षा पैदा नहीं होती। जब आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती तब संकल्प पैदा नहीं होता और संकल्प के बिना सफलता नहीं मिलती। यह सारा इसलिए होता है कि व्यक्ति की

दृष्टि केवल प्रियता और अप्रियता के साथ जुड़ी हुई है। उससे परे की बात वह सोच ही नहीं सकता। इस द्वन्द्व (प्रियता और अप्रियता) से परे गए बिना परिवर्तन घटित नहीं होता। अब प्रश्न यह शेष रहता है कि इस द्वन्द्व से परे की दृष्टि का निर्माण कैसे किया जाए? हमने व्याधि, आधि और उपाधि को मिटाने की चर्चा की। पर ये कैसे मिटे? क्या प्रेक्षा-ध्यान व्याधि मिटाने की पद्धति है? हां, यह व्याधि को मिटाने की प्रक्रिया है, किन्तु है उल्टी प्रक्रिया। डॉक्टर रोग की दवा देता है। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा रोग की दवा नहीं दी जाती। उपाधि को मिटाने की दवा दी जाती है। उपाधि की दवा से आधियां मिटती हैं, आधि मिटती है इसलिए व्याधि मिटती है। यह विपरीत प्रक्रिया है।

एक रोग : एक दवा

प्राकृतिक चिकित्सा में एक रोग और एक दवा है। पेट में विजातीय तत्त्व का संचय होना, यही एकमात्र रोग है। उसका निष्कासन करना, यही एकमात्र दवा है, इसके सिवाय न कोई रोग है और न कोई दवा।

ध्यान-पद्धति में भी यह कहा जा सकता है कि एक ही बीमारी है। वह है— मूर्च्छा। इसकी एक ही दवा है। वह है—जागृति।

प्रश्न यह होता है कि जागृति कैसे प्राप्त होती है? ध्यान से जागृति पैदा होती है। ध्यान के प्रति आकर्षण हो, यह आवश्यक है। ध्यान के प्रति आस्था को बढ़ाने के लिए संकल्प-शक्ति का सहारा लेना होगा। इच्छा, आकांक्षा और संकल्प-शक्ति को बढ़ाना होगा। इसके लिए प्रारंभ में थोड़ा अनुभव करना होगा। अनुभव के बिना आस्था का निर्माण नहीं होता। ये ध्यान-शिविर अनुभव कराने के माध्यम बनते हैं। इनसे व्यक्ति में आस्था का निर्माण होता है। इस आस्था के आधार पर व्यक्ति आगे बढ़ता है और एक दिन चरम बिन्दु पर पहुंच जाता है।

राजा भोज संस्कृत के विद्वानों, आयुर्वेद के आचार्यों और भारतीय विद्याओं को आश्रय देने वाला एक महान् राजा था। एक बार वह शिरःशूल से पीड़ित हो गया। देश के सारे वैद्य चिकित्सा करने आ पहुंचे। कोई लाभ नहीं हुआ। दर्द बढ़ता ही गया। राजा का स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। उसका क्रोध बढ़ गया। दर्द की भयंकरता से परेशान होकर एक दिन उसने आदेश दिया कि मेरे राज्य से सभी वैद्यों को निकाल दिया जाए और चिकित्सा-ग्रन्थों को नदी में बहा दिया जाए। राजा का आदेश लौह की लकीर होती थी। सारे राज्य में खलबली मच गई। वैद्यों को निकाल दिया गया। पुराने ग्रन्थों को एक-एक कर नदी के प्रवाह में डाल दिया गया। आयुर्वेद के महान् आचार्य जीवक ने यह सुना। उनका मन तिलमिला उठा। आयुर्वेद की इस दुर्दशा को वे सहन नहीं कर सके। वे राजा भोज के पास आए और अनुनय विनय किया कि चिकित्सा का एक अवसर उन्हें दिया

जाए। राजा ने कहा—'निकाल दो इसे। नहीं चाहिए मुझे आयुर्वेद की चिकित्सा।' जीवक ने अधिकारियों को समझाया और कहा—'मात्र एक अवसर दिया जाए। यदि मैं असफल रहा तो मेरा सिर काट डालें।' अधिकारियों ने राजा को समझाया। राजा मान गया। महान् वैद्य जीवक ने राजा के सिर की शल्य चिकित्सा की। उसको खोला। उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब उसने देखा कि सिर के एक कोने में एक मछली का बच्चा हलचल कर रहा है। उसे बाहर निकाला। सिर को लेप से सांधा। राजा का सिरदर्द समाप्त हो गया।

राजा को चमत्कार-सा लगा। पूछने पर जीवक ने कहा—'आप कभी तालाब पर स्नान-कुल्ला करने गए थे। तब संभव है मछली का अंडा आपके भीतर पानी के साथ चला गया और वह सिर दर्द का मूल कारण बना।' राजा ने कहा—'तालाब पर गया था। उसके बाद ही यह दर्द बढ़ा था।' राजा का मन ग्लानि से भर गया। उसे अपनी मूर्खता पर दुःख होने लगा। उसने कहा—'आयुर्वेद की पुनः स्थापना करें। सारे ग्रन्थों का संग्रह किया जाए।' आस्था का पुनर्निर्माण हो गया।

अनुभव : आस्था-निर्माण का आधार

आस्था का निर्माण महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आस्था का निर्माण भाषणों, प्रवचनों या उपदेशों से नहीं होता। वह होता है व्यक्ति के अपने अनुभव से।

आज के व्यक्ति का अनुभव यह है कि पदार्थ से सुख मिलता है, धर्म से कोई सुख नहीं मिलता। धर्म के उपदेशों ने सुख को रख दिया परलोक में और धर्म को रखा वर्तमान जीवन में। कितनी दूरी? धर्म करो। मरने के बाद जलाए जाओगे। परलोक में उत्पन्न होना पड़ेगा। पहले जन्म में जो धर्म किया था, उसका सुख वहां मिलेगा। बहुत बड़ी दूरी पैदा हो गयी, इसीलिए धर्म के प्रति वह आकर्षण नहीं रहा। धर्म करते ही यदि धर्म का अनुभव हो जाता है तो आदमी धर्म से कभी दूर नहीं हो सकता। धर्म के अनुभव का माध्यम है—प्रेक्षा-ध्यान। ध्यान में केवल उपदेश नहीं होता। उसमें यह अनुभव कराया जाता है कि पदार्थ से जो सुख प्राप्त नहीं होता वह सुख भीतरी रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। विद्युत् प्रवाह के गतिरोधों को मिटाने से, एक दूसरी प्रकार की तरंगों के उत्पन्न करने से विचित्र प्रकार के सुख की अनुभूति होती है। क्रोध, मान आदि की तरंगों को मिटाकर, विकार की तरंगों को नष्ट कर हम ऐसी तरंगें उत्पन्न कर सकते हैं जो परम आनन्द की अनुभूति देती हैं। ये तरंगें भावना के द्वारा पैदा की जा सकती हैं। भावना, शब्द और विचार—ये तीनों नयी तरंगों को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। व्यक्तित्व को बदलने और पुरानी जटिल आदतों को मिटाने के लिए ये महत्त्वपूर्ण साधन हैं। इसलिए प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति में भावना, संकल्प-शक्ति, मंत्र, विचार—सभी का अवकाश है। उसमें केवल देखने का ही

स्थान नहीं है। समय-समय पर इन विभिन्न साधनों का उपयोग किया जाता है।

शब्द-संरचना का प्रभाव

'अर्हम्' शब्द बहुत शक्तिशाली माध्यम है। 'र' अग्नि बीज है और 'ह' आकाश बीज है। जिस मंत्र में 'ह' का प्रयोग होता है, वह शक्तिशाली मंत्र होता है। अर्हम् केवल पवित्र मुक्तात्मा का ही प्रतीक नहीं है, किन्तु मंत्रशास्त्रीय दृष्टि से भी यह बहुत शक्तिशाली मंत्र है। शब्द बहुत शक्तिसंपन्न होते हैं। एक शब्द-संरचना सारे व्यक्तित्व को छिन्न-भिन्न कर देती है और एक शब्द-संरचना सारे व्यक्तित्व को शिखर पर चढ़ा देती है। आज के साहित्यकार मानें या न मानें, यह अजमाया हुआ सत्य है कि जिस रचना में दग्धाक्षर आ जाता है, वह रचनाकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। एक यथार्थ घटना है। एक कवि नागोर में रहता था। उसने एक रचना की। रचना की समाप्ति में उसने लिखा—'नागो रमे।' 'नागो' अलग शब्द और 'रमे' अलग हो गया। उसका आशय तो यह था कि नागोर में उसने यह रचना की है, किन्तु शब्दों को दो भागों में बांट दिया। अब उनका अर्थ हुआ—नागो अर्थात् नग्न और रमे अर्थात् खेलता है। शब्द का असर देखें। कुछ ही दिनों बाद वह रचनाकार पागल हो गया और सचमुच नग्न होकर, बड़बड़ाता हुआ बाजारों में घूमने लगा।

आज की वैज्ञानिक खोजों ने इस सचाई को बहुत उजागर किया है। विज्ञान सूक्ष्म-तरंगों तथा सूक्ष्म-प्रकंपनों से अद्भुत कार्य कर रहा है। ध्वनि और विचार के प्रकंपन हमारे चरित्र को प्रभावित करते हैं।

उपाधि को मिटाने के लिए किस प्रकार की ध्वनि तरंगें, विचार या भावना की तरंगें काम में लेनी हैं, इसको हम गंभीरता से समझें। उपाधि की चिकित्सा आधि की चिकित्सा होगी। आधि की चिकित्सा व्याधि की चिकित्सा होगी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति एक महत्त्वपूर्ण चिकित्सा पद्धति है, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का महान् प्रयोग है।

७. प्रेक्षा एक प्रयोग है चिर यौवन का

१. प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में यौवन की विभिन्न परिभाषाएं हैं।

२. युवा वह है—

- जिसकी मस्तिष्कीय मज्जा में कठोरता नहीं है।
- जिसकी रीढ़ की हड्डी स्वस्थ है।
- जिसका मस्तिष्क तनावमुक्त है।
- जो स्मृतियों में उलझा नहीं रहता।
- जो वर्तमान में जीना जानता है।
- जिसमें सत्य की साधना का उत्साह है।
- जिसमें पुरुषार्थ है।
- जिसमें प्रतिस्रोत में चलने की क्षमता है।
- जिसमें प्राण-शक्ति का पूरा संचय है।
- जो परिस्थिति से प्रताड़ित नहीं होता।

सात

तीर्थंकर कभी बूढ़े नहीं होते

मनुष्य की शाश्वत कामना है—'जीवेम शरदः शतम्—मैं सौ वर्ष तक जीता रहूं।' प्राचीनकाल में जीवन की सामान्य सीमा थी सौ वर्षों की। प्राचीन आचार्यों ने इस सीमा को दस अवस्थाओं में बांटा है। जीवन की दस अवस्थाएं हैं। आदमी जन्म लेता है, बच्चा होता है, युवा बनता है, बूढ़ा होता है और फिर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। बच्चा होना कोई चाहता नहीं। यह चाह का विषय नहीं है। यह प्रश्न नियति का है। तीन अवस्थाएं हैं—बचपन, यौवन और वृद्धत्व। बचपन चाह का विषय नहीं है। बच्चा युवा होना चाहता है। यौवन चाह का विषय है। युवा बूढ़ा बनना नहीं चाहता। वृद्धत्व चाह का विषय नहीं है। बूढ़ा न होने के लिए आदमी ने बहुत प्रयत्न किए हैं। अनेक औषधियों और पद्धतियों का आविष्कार कर यह पूरा प्रयत्न किया गया कि आदमी बूढ़ा न बने। आयुर्वेद ने कायाकल्प की पद्धति चलायी जिससे कि आदमी चिर युवा रह सके, बूढ़ा भी युवक बन जाए। आदमी बूढ़ा इसलिए होता है कि उसके शरीर की कोशिकाएं नष्ट अधिक होती हैं, नयी कोशिकाओं का निर्माण नहीं होता। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से जो आदमी शक्ति का व्यय कम करता है, ऊर्जा को कम खर्च करता है, नयी कोशिकाओं को निर्मित होने का अवकाश देता है, वह बूढ़ा नहीं होता, जल्दी बूढ़ा नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य सदा युवा रहना चाहता है। प्रेक्षा-ध्यान को हम इस दृष्टि से देखें कि उससे चिर यौवन को सुरक्षित रखा जा सकता है। उसे स्थायी बनाया जा सकता है। आगमकार कहते हैं कि देवता कभी बूढ़े नहीं होते। वे सदा मध्यम वय में ही रहते हैं। तीर्थंकर युवावस्था में ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। संभवतः व्याख्याकारों ने यह मान लिया कि मध्यम आयु में ही तीर्थंकरों को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इसका सीधा अर्थ है कि तीर्थंकर कभी बूढ़े नहीं होते। जो सिद्धयोगी होते हैं वे कभी बूढ़े नहीं होते। कोई भी वीतराग व्यक्ति बूढ़ा कैसे होगा? बुढ़ापा लाने वाली सारी स्थितियां वहां समाप्त हो जाती हैं। इसलिए

वीतराग, केवली या तीर्थंकर कभी बूढ़े नहीं होते।

युवक कौन ? बूढ़ा कौन ?—एक वैज्ञानिक विश्लेषण

युवक और यौवन की अनेक परिभाषाएं की गयीं। मैं उनके विश्लेषण में नहीं जाऊंगा। मुझे केवल प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में युवा को समझना है, बूढ़े को समझना है। युवा कौन होता है ? बूढ़ा कौन होता है ? यौवन क्या है ? बुढ़ापा क्या है ? मैं इन प्रश्नों की चर्चा आयुर्विज्ञान और मानस-शास्त्र के संदर्भ में करना चाहूंगा। शरीरशास्त्र का कथन है कि मस्तिष्क की कोशिकाएं जब कठोर बन जाती हैं तब आदमी बूढ़ा बनता है। बुढ़ापे का लक्षण है मस्तिष्क की कोशिकाओं का समाप्त हो जाना, उनका लचीलापन मिट जाना, उनका कठोर हो जाना। कठोरता में क्षमता कम हो जाती है। उससे आदमी बूढ़ा बन जाता है। वह बूढ़ा ही नहीं बनता, उसकी सहिष्णुता भी कम हो जाती है, परिस्थितियों को झेलने की क्षमता न्यून हो जाती है, संतुलन कम हो जाता है। यह व्यवहार का अनुभव है कि बूढ़ा आदमी चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है। उसे क्रोध अधिक आता है, शीघ्र आता है। वह किसी बात को सहन ही नहीं कर सकता। बात-बात में अधीरता परिलक्षित होने लगती है। यह उस व्यक्ति का दोष नहीं है। यह तो मस्तिष्कीय मज्जा की कठोरता का परिणाम है।

सुषुम्णा मार्ग से प्राण-धारा को प्रवाहित करता है, वह चाहे ८० वर्ष का हो या ९० वर्ष का हो, कभी बूढ़ा नहीं हो सकता। वह पूरे सौ वर्ष पार कर ले, फिर भी बूढ़ा नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी का लचीलापन बना रहता है। वह युवा ही है।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग रीढ़ की हड्डी को स्वस्थ और लचीली रखने का अचूक उपाय है।

युवा वह होता है जिसका मस्तिष्क तनाव से मुक्त रहता है। जो मस्तिष्कीय तनाव से मुक्त है, उसकी आयु कितनी भी क्यों न हो, वह युवा है और जो मस्तिष्कीय तनाव से ग्रस्त है, उसकी आयु चाहे ४०-५० ही क्यों न हो, वह बूढ़ा है। तनाव बुढ़ापा लाता है। तनावमुक्ति बुढ़ापे से मुक्ति दिलाती है। शारीरिक तनाव, मानसिन तनाव और भावनात्मक तनाव—ये तीनों प्रकार के तनाव कोशिकाओं में कठोरता पैदा करते हैं और यह कठोरता बुढ़ापे का मूल कारण है। जो व्यक्ति ध्यान का अभ्यास नहीं करता वह तनाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। कुछेक लोग तनाव-मुक्ति के लिए विभिन्न औषधियों का सेवन करते हैं। लगता है कि कुछ घंटों के लिए उनका तनाव शिथिल हो गया है, पर वे औषधियां और अधिक हानि करती हैं, उसके बहुत बुरे परिणाम आते हैं। तनाव को मिटाने का उपाय है—अपनी जटिल आदतों को बदलना, कषायों को कम करना, आवेगों को शान्त करना। यह सारा ध्यान से ही सम्भव हो सकता है।

धर्मगुरु समझाते रहे हैं कि क्रोध मत करो, क्योंकि उससे नरक मिलता है। आज का बुद्धिवादी युवक नरक के भय से किसी बात को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। क्रोध करने से नरक मिलता हो तो भले ही मिले, किन्तु यदि मुझे उससे सुख की अनुभूति होती है तो वह करणीय है, त्याज्य नहीं है। आज के आदमी में नरक का भय नहीं रहा। किन्तु यदि आज के आदमी को बताया जाए कि क्रोध से तनाव बढ़ता है, बीमारियां उत्पन्न होती हैं, कैन्सर होता है, अल्सर होता है, नाना प्रकार के मनोकायिक रोग होते है, तो वह क्रोध को छोड़ने की बात सोच सकता है। क्रोध न करने का प्रश्न केवल परलोक से संबंधित नहीं है, वह शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से संबधित है। यदि यह बात समझाई जाती है तो हर व्यक्ति उस पर ध्यान दे सकता है। तनावग्रस्त व्यक्ति असमय में बूढ़ा बन जाता है। प्रेक्षा-ध्यान एक प्रयोग है तनावमुक्ति का। तनाव निरुत्साह पैदा करता है। निरुत्साही व्यक्ति बूढ़ा होता है। युवा वह होता है जो उत्साह को कभी नहीं खोता।

आचार्य भिक्षु से पूछा—'प्रमाद का अर्थ क्या है?' उन्होंने कहा—'धर्म के प्रति अनुत्साह।' फिर पूछा—अप्रमाद का अर्थ क्या है?' उन्होंने कहा—'धर्म के प्रति उत्साह।'

हम एक परिभाषा बनाएं। युवा वह होता है जो अप्रमत्त होता है। बूढ़ा वह होता है जो प्रमत्त होता है। जो अप्रमत्त होगा उसमें धर्म का उत्साह होगा, अपने अस्तित्व के प्रति उत्साह होगा, अपने चैतन्य के जागरण के प्रति उत्साह होगा। बूढ़ा वह होता है जिसका उत्साह मर जाता है, जिसका धर्म या अपने अस्तित्व के प्रति उत्साह मर जाता है। बूढ़ा वह होता है जिसके चैतन्य की लौ बुझ जाती है। यौवन का कोई भी लक्षण दृग्गोचर नहीं होता।

भावक्रिया : विकास का आदि-बिन्दु

प्रेक्षा-ध्यान एक प्रक्रिया है अप्रमाद के विकास की, चैतन्य के जागरण की। जिस व्यक्ति ने भावक्रिया का थोड़ा-सा भी अभ्यास किया है, वह व्यक्ति अप्रमत्त रहने का अभ्यासी कहा जा सकता है। यदि हम गहरे में जाएं, दर्शन की बहुत सारी गुत्थियों को सुलझाने बैठें तो यह लगेगा कि भावक्रिया ने मनुष्य के विकास में बहुत बड़ा योग दिया है। भावक्रिया ने ही प्राणी को निगोद (वनस्पति) से मनुष्य की अवस्था तक पहुंचाया है। निगोद विकास का आदि-बिन्दु है और मनुष्य अवस्था विकास का चरम-बिन्दु है। निगोद प्राणियों का अक्षय कोष है। वहीं से सारा विकास प्रारंभ होता है। मनुष्य का जीव जब उस निगोद में था तब एककोशीय प्राणी के रूप में था। कोई संकल्प जागा, भावक्रिया होती रही, अल्प-विकसित चेतना को विकसित होने का योग मिलता रहा। वह चलते-चलते चेतना-विकास का चरम बिन्दु मनुष्य अवस्था तक पहुंच गया। अमनस्क अवस्था से समनस्क अवस्था तक पहुंच गया। उसमें इन्द्रिय चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक चेतना विकसित हुई। विवेक चेतना जागी। यह सब भावक्रिया से ही सम्भव हो सका है।

क्रियेटिव इवोल्यूसन

यूनान के दार्शनिकों ने 'क्रियेटिव इवोल्यूसन' (Creative evolution) पर बहुत विचार किया है। उनका कहना है कि मनुष्य का जो जैविक विकास-क्रम है वह सारा एक संकल्प के द्वारा हुआ है। यदि हम भावक्रिया को ठीक समझ लें तो उस सृजनात्मक विकास की व्याख्या को समझ सकते हैं। भावक्रिया के बिना, निरंतर संकल्प की प्रेरणा के बिना कोई भी प्राणी अविकास से विकास की दशा तक नहीं पहुंच सकता। यह प्रेक्षा का प्रयोग अप्रमाद या सतत जागरूकता का प्रयोग है। यह चैतन्य की दीपशिखा को निरंतर प्रज्ज्वलित रखने का प्रयोग है। इस प्रयोग के द्वारा मनुष्य सदा युवा रह सकता है। जो अप्रमत्त रहता है वह सदा युवा बना रहता है। जो प्रमत्त होता है वह बूढ़ा बन जाता है। बूढ़ा वह होता है जो झपकियां ज्यादा लेता है। युवा झपकियां नहीं लेता। बूढ़ा वह होता है जो

अतीत की स्मृतियों में खोया रहता है। युवा वह होता है जो वर्तमान में रहता है। बूढ़ा आदमी निरंतर अतीत की यादों में रस लेता रहता है। उसे वर्तमान अच्छा ही नहीं लगता। वह अतीत के गुण गाता है, अपने अतीत को याद कर खिल उठता है। वह स्मृतियों के कगार पर खड़ा होता है और स्मृतियों की बैसाखी के सहारे चलता रहता है। युवा अतीत को समझता है पर जीता है वर्तमान को। वह वर्तमान पर चलता है, खड़ा होता है और उसे जानता-समझता है। वह अतीत की बातों में कभी नहीं उलझता। वह उलझेगा भी क्यों ? उसका अतीत है ही क्या ? एक बूढ़े व्यक्ति का अतीत ८० वर्ष का है और एक युवा व्यक्ति का अतीत २०-२५ वर्ष का है। वह युवा क्या स्मृति करेगा और कौन से अतीत की प्रशसा करेगा ? उसे रस ही नहीं आएगा। जो केवल अतीत के गीत गाता है वह चालीस वर्ष का युवा भी बूढ़ा है और जो वर्तमान को पकड़ कर चलता है वह अस्सी वर्ष का बूढ़ा भी युवा है। जो पुराने के नाम पर जहर पीने को तैयार रहता है और नये के नाम पर अमृत को भी ठुकरा देता है, जिसमें पुरानेपन का इतना मोह और अनुराग हो जाता है, भूतकाल पर इतनी श्रद्धा हो जाती है, वह चाहे कितनी ही कम उम्र का हो, है बूढ़ा ही। बूढ़े को या युवा को अवस्था के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

प्रेक्षा है वर्तमान में जीना

प्रेक्षा-ध्यान का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—वर्तमान में जीना। वह वर्तमान में देखना सिखाता है। वह कहता है--शरीर-प्रेक्षा करो। वर्तमान में शरीर में क्या-क्या घटित हो रहा है उसे देखो। कौन-सा पर्याय चल रहा है ? कौन-सा पर्याय नष्ट हो रहा है ? कौन-सा पर्याय उत्पन्न हो रहा है ? क्या-क्या जैविक और रासायनिक परिवर्तन हो रहा है ? हृदय का संचालन कैसे हो रहा है ? शरीर के रसायन और विद्युत्-प्रवाह किस प्रकार के हो रहे हैं ? इन सारी घटनाओं को शरीर में देखना। जो इन सारी घटनाओं को देखता है वह वर्तमान को देखता है और जो वर्तमान को देखता है वह कभी बूढ़ा नहीं होता। प्रेक्षा-ध्यान का अर्थ है—वर्तमान में जीना, वर्तमान को देखना। न अतीत में जीना और न भविष्य में जीना, केवल वर्तमान में जीना। जो वर्तमान में जीता है, जिसने वर्तमान को पकड़ रखा है वह कभी बूढ़ा नहीं होता। सबसे कठिन है वर्तमान को पकड़ पाना। जिसने वर्तमान को पकड़ लिया, उसने सचमुच महान् सत्य को पा लिया।

साइप्रस में काल देवता की एक मूर्त्ति बनी। वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उस मूर्त्ति के सिर के अगले भाग में सघन केश दिखाए गए हैं और पीछे के भाग में वह मुंड है, एक भी केश नहीं है। वह मूर्त्ति काल—समय का वास्तविक ज्ञान कराती है। समय सामने से आता है। वर्तमान आता है। जिसने उसको आगे से पकड़ लिया वह जीत गया। पीछे से उसे पकड़ा नहीं जा सकता। अतीत व्यर्थ है। उसे नहीं

पकड़ा जा सकता।

वर्तमान ही यथार्थ है। अतीत बीत चुका। वह अयथार्थ हो गया। भविष्य प्राप्त नहीं है। वह भी अयथार्थ है। वर्तमान को पकड़ना, समझना ही सत्य को पकड़ना है, समझना है।

पटुता का तारतम्य

प्रेक्षा-ध्यान वर्तमान में जीना सिखाता है। वर्तमान में शरीर में जो कुछ घटित होता है, जो चंचलता हो रही है या जिन कारणों से चंचलता हो रही है, उनको देखना ही प्रेक्षा-ध्यान है। शरीर की संरचना बहुत ही जटिल और सूक्ष्म है। एक-एक सेल की संरचना भी बहुत सूक्ष्म है। दस दिन के अभ्यास मात्र से शरीर को पूरा नहीं समझा जा सकता। लम्बे अभ्यास से ही हम उससे कुछ परिचित हो सकते हैं। साधकों में देखने-पकड़ने की तरतमता होती है। एक प्रश्न कई बार सामने आता है कि शिविरों में वे लोग भी आते हैं जो पहली बार प्रेक्षा का अभ्यास करने के इच्छुक हैं और वे लोग भी आते हैं जिन्होंने लम्बे समय तक प्रेक्षा का अभ्यास कर लिया है। दोनों में संगति कैसे हो सकती है? यह कोई जटिल समस्या नहीं है। जो व्यक्ति मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सूक्ष्मताओं को जानता है वह ऐसे प्रश्नों में नहीं उलझता। वह जानता है कि एक व्यक्ति के ज्ञान में और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में अनन्त गुना तारतम्य होता है। सबका पाटव या कौशल एक समान नहीं होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति में विसदृश होता है। आज जो एक व्यक्ति प्रेक्षा का अभ्यास प्रारंभ करता है वह बहुत स्थूल पर्यायों को ही पकड़ पाता है। जिस व्यक्ति ने बहुत बार अभ्यास कर लिया वह आगे से आगे इतनी सूक्ष्मताओं को पकड़ लेता है, उसमें इतनी पटुता आ जाती है कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती। एक कहानी है। कहानी ही नहीं, एक मार्मिक बात है जो व्यक्ति की पटुता का तारतम्य स्पष्ट करती है।

एक विदेशी राजा ने भारत पर आक्रमण करना चाहा। उसने सोचा कि आक्रमण करने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि उस राजा के पास कोई बुद्धिमान व्यक्ति है या नहीं? कोई अनुभवी या वृद्ध व्यक्ति है या नहीं?

बूढ़े व्यक्ति का बहुत महत्त्व होता है। यह मत मानिए कि बूढ़े का कोई महत्त्व नहीं है। बहुत महत्त्व है बूढ़े व्यक्ति का। हमारे यहां एक उक्ति प्रचलित है—'साठी बुद्ध नाठी—साठ वर्ष का हुआ और बुद्धि नष्ट हो गई।' यह उक्ति भी आज भ्रान्ति सिद्ध हो गई है। पश्चिमी जर्मनी के दो मनोवैज्ञानिकों ने हजारों व्यक्तियों पर परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि साठ वर्ष के बाद ही मनुष्य का वास्तविक जीवन शुरू होता है। बौद्धिक क्षमता का पूरा विकास उसी अवस्था में होता है। साठ वर्ष के बाद ही स्वास्थ्य का पूरा विकास होता है। कार्यजा-

शक्ति भी उसी समय विकसित होती है। साठ वर्ष के पहले मनुष्य का अनुभव इतना परिपक्व नहीं होता। साठ वर्ष के बाद ही उसमें परिपक्वता आती है। उनकी इस घोषणा ने 'साठी बुद्ध नाठी' को सर्वथा भ्रान्त सिद्ध कर डाला। बूढ़ा आदमी सर्वथा व्यर्थ नहीं होता। अनुभव और बौद्धिक परिपक्वता की दृष्टि से बूढ़े व्यक्ति का बड़ा मूल्य है। जहां भी अनुभव के आधार पर निर्णय लेने का प्रश्न आता है वहां बूढ़ा आदमी खोजा जाता है। न केवल मनुष्यों में किन्तु पशु-पक्षियों में भी बूढ़े का महत्त्व रहा है। बूढ़े वानर और हंस की कथाएं प्रचलित हैं। इसी प्रकार बूढ़े आदमियों के अनुभवपरक घटनाक्रम भी प्रचलित हैं।

उस विदेशी राजा ने सुरमे की एक डिबिया देकर एक दूत भेजा। उस डिबिया में दो आंखों में आंजा जाए इतना सा सुरमा था। वह सुरमा अंधे को आंख देने में समर्थ था। दूत आया। राजा ने दूत का स्वागत किया। दूत ने कहा—'इस डिबिया में दो आंखों में आंजे इतना-सा सुरमा है। हमें इसकी अधिक आवश्यकता है। आपके पास हो तो हमें दें। या इस सुरमे के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसा ही सुरमा बना सके तो हम उस आदमी को अपने साथ ले जाना चाहेंगे।' राजा ने सुना। मंत्रियों से सलाह ली। किन्तु ऐसा सुरमा कौन बना सके? किसी की बुद्धि में समाधान नहीं आया। राजा ने सोचा—मेरा एक बूढ़ा मंत्री था, जो अभी सेवा-निवृत्त हुआ है, उसे बुलाकर पूछा जाए। राजा ने उसे बुला भेजा। वह अंधा हो गया था। वह आया। राजा ने सारी बात कही। अन्त में कहा—'इस सुरमे से तुम अपनी आंखें खोल लो। आंखों से दीखने पर जीवन सुखद रूप से कट जाएगा।' मंत्री अनुभवी था। उसने डिबिया ली। एक आंख में सुरमा आंजा। कुछ ही क्षणों बाद उसकी एक आंख प्रकाशित हो गई। उसको दीखने लगा। जो शेष सुरमा बचा था, उसने अपनी दूसरी आंख में नहीं आंजा, किन्तु जीभ पर रख लिया। स्वाद से उसने सुरमे के सारे द्रव्यों का विश्लेषण कर लिया। घर जाकर वैसा ही सुरमा बनाया। परीक्षण के लिए अपनी दूसरी आंख में उसे आंजा। आंख खुल गई। वह सूझता हो गया। न वह अंधा रहा और न काना। उसने शेष सुरमा डिबिया में भरकर दूत से कहा—'जाओ, अपने सम्राट् से कहना कि उन्हें ऐसा सुरमा जितना चाहे उतना यहां से मंगा लें।' दूत गया। सम्राट् को सारा वृत्तान्त सुनाया। सम्राट् ने सोचा—जिस देश में ऐसे अनुभवी और वृद्ध रहते हैं, इतना बुद्धिमान मंत्री है, उस देश पर आक्रमण करना भयंकर भूल होगी। उसका इरादा बदल गया।

यह पटुता का चमत्कार होता है। एक ही दिन के अभ्यास से इतनी पटुता आ [illegible] सकती थी। यह धीरे-धीरे विकसित होती है। जो व्यक्ति पटुता को उपलब्ध हो जाता है वह किसी भी चीज के रासायनिक विश्लेषण कर सारे रासायनिक द्रव्यों को बता देता है।

शरीर रसायनों का आकर

सुरमे में तो गिनती के द्रव्य हो सकते हैं। उनको सहजतया कुछ अभ्यास से जाना जा सकता है। किन्तु शरीर में अनगिन रसायन हैं। अनेक वैज्ञानिकों ने खोज के वाद वताया कि व्यक्ति जो सोचता है, चिन्तन करता है, उसके रसायन सारे शरीर में जमा हो जाते हैं। एक नख में पचास प्रकार के रसायन हैं। हमारे एक वाल में सैकड़ों प्रकार के रसायन हैं। सिर का एक बाल पूरे व्यक्तित्व की व्याख्या करने में पर्याप्त है। एक वाल के आधार पर व्यक्ति के अतीत को जाना जा सकता है, वर्तमान और भविष्य को जाना जा सकता है। उसके आधार पर मनुष्य के स्वभाव और चरित्र को जाना जा सकता है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि एक वाल में वे सारे रसायन हैं जो व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देते हैं। सारा शरीर रसायनों से भरा पड़ा है। दस, बीस या पचास दिन की शरीर प्रेक्षा से उन सब रसायनों को नहीं जाना जा सकता। निरन्तर प्रेक्षा करने से ही उनसे परिचित हो सकते हैं। निरन्तर प्रेक्षा करते हुए हम यह सोचें कि सूक्ष्म पर्यायों को पकड़ने की क्षमता कितनी विकसित हो रही है? सूक्ष्म सत्य कितने हस्तगत हो रहे हैं? जो व्यक्ति जितना ज्यादा वर्तमान में जीता है वह उतना ही पटु होता जाता है, कुशल होता जाता है।

बूढ़ा वह होता है जो परिस्थितियों से प्रताड़ित होता है। युवा वह होता है जो परिस्थितियों से प्रताड़ित नहीं होता।

प्रतिस्रोत : भीड़रहित मार्ग

प्रेक्षा-ध्यान एक यात्रा-पथ है। यह प्रतिस्रोत में चलने का मार्ग है। भगवान् महावीर ने साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—**'पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं'**—जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, उसे प्रतिस्रोतगामी वनना होगा। हमारे सामने दो मार्ग हैं। एक मार्ग है अनुस्रोत का और एक मार्ग है प्रतिस्रोत का। एक वह मार्ग है जिस पर सारी भीड़ चल रही है, सारी दुनिया चल रही है। एक वह मार्ग है जिस पर संसार से विमुख कुछेक व्यक्ति चल रहे हैं। वह भीड़-रहित मार्ग है। एक वे लोग हैं जो वर्तमान के स्रोत के साथ चल रहे हैं। दूसरे वे लोग हैं जो स्रोत के साथ नहीं चलते, स्रोत के प्रतिकूल चलते हैं। आज का स्रोत है—आनन्द से जीओ। सुख-सुविधाओं का अधिक से अधिक भोग करते हुए जीओ। पदार्थों को भोगो। जव पास में धन है तो उसको ऐश-आराम में खर्चो और उसका भोग करो। वे धन का यही उपयोग समझते हैं। आज का पिता चिन्तित है कि उसकी संतान सच्चरित्र कैसे रह सकती है? आज युवकों के सामने इतने प्रलोभन हैं, इतने लुभावने वातावरण हैं कि वे अपने चरित्र की सुरक्षा नहीं कर

८. प्रेक्षा एक प्रयोग है ज्ञानी होने का

१. दो जगत्—अज्ञात जगत्, ज्ञात जगत् ।

२. अज्ञात जगत् बड़ा है, ज्ञात जगत् छोटा ।

३. ज्ञानी कौन ? अज्ञानी कौन ?

- ज्ञानी वह जो अपने अज्ञान को जानता है, स्वीकार करता है ।
- अज्ञानी वह जो अपने अज्ञान को नहीं जानता, स्वीकार नहीं करता ।

४. स्थूल सत्य ज्ञात—सूक्ष्म सत्य अज्ञात ।

५. सूक्ष्म सत्यों का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के जागने पर होता है ।

६. अपने ज्ञान की सीमा को समझें ।

७. इन्द्रिय ज्ञान की विकलता ।

८. आत्मा से दूरी हमने पैदा की है मूर्च्छा के द्वारा ।

९. [illegible] शुद्धि की साधना है ।

चेतना का निर्माण हो। इस चेतना के निर्माण से व्यक्ति युवा रह सकता है, अन्यथा नहीं।

परिस्थितिवाद : एक विपर्यय

आज एक नये दर्शन का उदय हुआ है। उसका नाम है—परिस्थितिवाद। इसके आधार पर माना जाता है कि जो कुछ होता है सारा परिस्थितिजन्य ही होता है। व्यक्ति का उसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार सारा दोष परिस्थिति पर ही लाद दिया जाता है। व्यक्ति से पूछा—'तुमने लड़ाई क्यों की। यह अप्रामाणिकता का वर्ताव क्यों किया?' गालियां क्यों दी? वह सीधा-सा उत्तर देगा—'मैं क्या करता? ऐसी परिस्थिति में इसके सिवाय कोई चारा ही नहीं था। मेरे स्थान पर यदि तुम होते तो तुम भी ऐसा ही बर्ताव करते।' इस प्रकार अपने आपको निर्दोष और पवित्र प्रमाणित करने के लिए आदमी ने परिस्थिति का एक ऐसा चोला पहन रखा है कि वह सारा दोष परिस्थिति पर मढ़कर निश्चिन्त हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य परिस्थिति को मुख्य और अपने अस्तित्व को गौण मानकर चल रहा है। वह अपने कर्त्तृत्व को गौण और परिस्थिति को मुख्य मानता है। यह एक विपर्यय है। जहां यह विपर्यय काम करता है वहां समस्याओं का कभी अंत नहीं हो सकता। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा एक ऐसी चेतना का निर्माण किया जाता है कि उसमें परिस्थिति द्वयं और व्यक्ति का कर्तृत्व प्रथम हो जाता है। उससे गौण को गौण और मुख्य को मुख्य मानने की चेतना विकसित होती है। यह सच है कि व्यक्तित्व के निर्माण में परिस्थिति का भी योग है। पर वह है गौण, मुख्य योग नहीं है।

अन्त में, हम प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास से प्रतिस्रोत की चेतना का निर्माण करें, प्रतिस्रोत की चेतना के द्वारा परिस्थितियों को समझने और झेलने में हम सक्षम हों और उन पर हम अपना स्वामित्व स्थापित करें।

युवा वह होता है जिसमें परिस्थिति को झेलने की क्षमता होती है, परिस्थिति को ठुकराने की क्षमता होती है और अपने स्वामित्व को प्रतिष्ठापित करने की क्षमता होती है। प्रेक्षा-ध्यान चिर यौवन का महत्त्वपूर्ण उपाय है। जो साधक प्रेक्षा-ध्यान की अभ्यास-भूमिका में आते हैं, अपने आपको उसके प्रति समर्पित किए रहते हैं वे अनुभव कर सकते हैं कि उनका यौवन कितना स्थायी, कितना चिरंजीवी और विशाल हो गया है और वे समाधि-मृत्यु के क्षण तक यही अनुभव करेंगे—'मैं बूढ़ा नहीं हूं। मैं युवा हूं, मैं युवा हूं, मैं युवा हूं।'

८. प्रेक्षा एक प्रयोग है ज्ञानी होने का

१. दो जगत्—अज्ञात जगत्, ज्ञात जगत्।

२. अज्ञात जगत् बड़ा है, ज्ञात जगत् छोटा।

३. ज्ञानी कौन? अज्ञानी कौन?

- ज्ञानी वह जो अपने अज्ञान को जानता है, स्वीकार करता है।
- अज्ञानी वह जो अपने अज्ञान को नहीं जानता, स्वीकार नहीं करता।

४. स्थूल सत्य ज्ञात—सूक्ष्म सत्य अज्ञात।

५. सूक्ष्म सत्यों का ज्ञान अन्तर्दृष्टि के जागने पर होता है।

६. अपने ज्ञान की सीमा को समझें।

७. इन्द्रिय ज्ञान की विकलता।

८. आत्मा से दूरी हमने पैदा की है मूर्च्छा के द्वारा।

९. ऋजुता शुद्धि की साधना है।

आठ

ज्ञानी बांटता है, बौद्धिक बटोरता है

एक सेठ महात्मा गांधी के पास आकर बोला—'गांधीजी ! आपके नाम से टोपी चलती है। उसका नाम है 'गांधी टोपी'। हजारों-हजारों व्यक्ति उस टोपी को पहनते हैं, किन्तु आप नंगे सिर घूमते हैं, यह क्यों ?' गांधीजी बोले—'तुम्हारे सिर पर पगड़ी है। एक पगड़ी से बीसों टोपियां बन सकती हैं। जब बीस आदमियों की टोपियां तुम अकेले पहन कर फिरते हो तो फिर उन्नीस आदमियों को तो नंगे सिर ही रहना होगा।'

मैं देखता हूं, जब कुछ लोग बौद्धिकता की पगड़ी को पहन लेते हैं तब कुछ व्यक्तियों को अबौद्धिक होकर ही रहना पड़ता है। बुद्धि को बांटें। उसका संचय न करें। बौद्धिकता की पगड़ी को इतनी लंबी न बनाएं जिससे कि बहुत लोगों को अबौद्धिक रहना पड़े। कोई ऐसा रास्ता चुनें जिससे सब भागीदार बन सकें। वह रास्ता है ज्ञानी होने का। जो ज्ञानी होता है वह नहीं बटोरता। जो बौद्धिक होता है वह बटोरता है। ज्ञानी और बौद्धिक में बहुत बड़ा अन्तर है। बौद्धिक वह होता है जिसे अपने अज्ञान का पता नहीं होता, जो अपनी ज्ञान की सीमा को नहीं जानता। ज्ञानी वह होता है जिसे अपने अज्ञान का पता होता है, अपने ज्ञान की सीमा का पता होता है। बौद्धिक अपने प्रति जागृत नहीं होता, अपने आप में स्थिर या एकाग्र नहीं होता। ज्ञानी अपने प्रति जागृत होता है, अपने आप में स्थिर और एकाग्र होता है। ज्ञानी और बौद्धिक में बहुत बड़ा अन्तर है। बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं जो अनेक शास्त्र पढ़ते हैं, पारायण करते हैं, किन्तु उन्हें अपने आपका पता नहीं होता, अपने अज्ञान का पता नहीं होता। कुछ लोग आकर कहते हैं—'आत्मा ही नहीं है तो फिर धर्म क्यों ? ध्यान की साधना क्यों ? चेतना नाम की कोई वस्तु नहीं है। सारी की सारी भौतिक जगत् की लीला है। सब कुछ भौतिक ही भौतिक। ऐसी स्थिति में अध्यात्म और धर्म के नाम पर जगत् को प्रवंचना में क्यों डाला जाए ? जब चेतना दिखाई नहीं देती, आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व ज्ञात नहीं

होता तो फिर ये धर्म-कर्म क्यों ?' जब मैं यह सुनता हूं तब लगता है कि आदमी अपने अज्ञान को नहीं जानता, अपने अज्ञान और अपने ज्ञान की सीमा को स्वीकार नहीं करता। जिस व्यक्ति को अन्तर्दृष्टि उपलब्ध नहीं होती, वह अपने अज्ञान को नहीं जान सकता। अपने अज्ञान को वही व्यक्ति जान सकता है जिसे अन्तर्दृष्टि प्राप्त है। 'मैं नहीं जानता'—इसका अर्थ अस्तित्व का लोप नहीं है। यदि इसका अर्थ अस्तित्व का लोप हो तो सारी दुनिया ही नष्ट हो जाएगी।

अस्तित्व ज्ञान पर आधृत नहीं

सामने यह आकाश है। इसमें अनन्त-अनन्त परमाणु भरे पड़े हैं। सभी प्रकार के परमाणु हैं। विश्व में जितने तत्त्व हैं, उन सबके परमाणु आकाश में विद्यमान हैं। अंगुली हिल रही है उसके चारों ओर अनन्त परमाणु हैं। क्या हम उन्हें जानते हैं ? देखते हैं ? नहीं देख पाते। क्या इसकेआधार पर उनके अस्तित्व को ही नकार दें ? ऐसा हो तो फिर दुनिया में कोई तत्त्व रह नहीं पाएगा। आज का विज्ञान इस दिशा में प्रयत्नशील है कि हजारों वर्ष पहले जो लोग बोले थे, उनके परमाणु जो आकाश-मंडल में आज भी विद्यमान हैं, उनको खोजना, उनके आधार पर उनकी मूल वाणी की खोज निकालना। इस आकाश-मंडल में चिन्तन के, भोजन के, प्राण के परमाणु विद्यमान हैं, और भी अनेक प्रकार के परमाणु हैं, तत्त्व हैं। किन्तु उन सबको हम नहीं जानते। पर हम यह नहीं कह सकते कि वे नहीं हैं, उनका अस्तित्व नहीं है। यदि हम ऐसा मान बैठें तो हमारी दुनिया बहुत छोटी हो जाएगी और दुनिया उस व्यक्ति की ही होगी, उतनी ही होगी जितना वह व्यक्ति जानता है। दुनिया अनेक भागों में बंट जाएगी। एक बच्चा कम जानता है तो उसकी दुनिया छोटी होगी। एक वयस्क आदमी अधिक जानता है तो उसकी दुनिया बड़ी होगी। दुनिया का अपना कोई अस्तित्व नहीं होगा। उसका सारा अस्तित्व हमारे ज्ञान पर आधृत हो जाएगा।

इन्द्रियों की शक्ति कितनी विकल ?

अति दूर में भी आंख नहीं देख पाती। आंख एक निश्चित अवधि में ही देख सकती है, उससे परे नहीं देख सकती। इसी प्रकार आंख सूक्ष्म को नहीं देख सकती। इसीलिए सूक्ष्म-वीक्षण यंत्रों का आविष्कार हुआ। यदि आंख में सूक्ष्म को देखने की क्षमता होती तो वैज्ञानिकों को सूक्ष्म-वीक्षण यंत्रों के निर्माण की जरूरत ही नहीं होती। आंख व्यवहित को नहीं देख सकती। बीच में भींत आ गई, कोई व्यवधान आ गया, तो आंख देख नहीं पाती। मिश्रण कर देने पर आंख उन वस्तुओं का विवेक नहीं कर सकती। दूध में चीनी मिला दी। आंख चीनी को देख नहीं सकती। इस प्रकार हमारे इन्द्रिय-ज्ञान की अनेक सीमाएं हैं। यदि हम सीमा को नहीं जानते तो बहुत बड़े असत्यों का पालन करते चले जाते हैं। आज के युग में सूक्ष्म अस्तित्व को नकारना बहुत बड़ा दुःसाहस होगा। हम सत्य के प्रति बहुत विनम्र रहें। हम यह कहना सीखें—'मैं इतना ही जानता हूं। इससे आगे मैं नहीं जानता।' यह सत्य का स्वीकार है। कभी-कभी कम जानने वाले व्यक्ति जानने का बहुत बड़ा दावा कर लेते हैं और जो कुछ अपने ज्ञान की सीमा से परे है, उन सबका अस्तित्व अस्वीकार करने लग जाते हैं। ऐसे व्यक्ति कोरे बौद्धिक हो सकते हैं, ज्ञानी नहीं।

ज्ञानी वह, जो ध्यानी है

आचार्य भिक्षु सत्य के प्रति पूर्ण समर्पित थे। उन्होंने कहा—'कोई नया तत्त्व सामने आए और तुम्हारी बुद्धि में पैठ जाए, तुम उसको समझ लो तो उसे सहर्ष स्वीकार करो। यदि तुम्हारी समझ में न आए तो तुम बहुत विनम्रता के साथ कहो—आपने अच्छा कहा, किन्तु मेरी बुद्धि स्थूल है, मैं उसे पकड़ नहीं सका। मैं उसे समझने का प्रयत्न करूंगा और जब समझ में आ जाएगी तब मैं कहूंगा कि बात समझ में आ गई और जब तक समझ में नहीं आएगी तब तक कहूंगा कि अमुक व्यक्ति ने यह बात कही है, इसलिए मैं कहता हूं कि यह है, पर मैं नहीं जानता कि यह ऐसे ही है।' यह सत्य के प्रति विनम्र दृष्टिकोण है। यह विनम्र दृष्टिकोण तब ही आ सकता है जब व्यक्ति ज्ञानी होता है। बौद्धिक उद्दंड हो सकता है, ज्ञानी उद्दण्ड नहीं हो सकता। ज्ञानी वह होता है जो ध्यानी होता है। जो ध्यानी नहीं होता, वह ज्ञानी भी नहीं होता। ध्यानी होने का केवल यही अर्थ नहीं है कि व्यक्ति घंटा भर आंख मूंदकर बैठ जाए, कायोत्सर्ग करे या श्वास और शरीर की प्रेक्षा करे। ध्यानी होने का अर्थ होता है अपने आपके प्रति जाग जाना। जो व्यक्ति अपने आपके प्रति जाग जाता है, अपने अस्त्वि के प्रति सजग हो जाता है और अपने आपको सत्य की खोज में लगा देता है वह ध्यानी होता है, फिर चाहे वह चले, बैठा रहे, खाए, पीए। ध्यानी होने का अर्थ है—सतत अप्रमत्त रहना, सतत जागृत रहना, सतत भावक्रिया में संलग्न रहना। जिसकी मूर्च्छा टूट गई,

वह ध्यानी बन गया।

अस्तित्व-बोध : कब ? कैसे ?

हम आत्मा को इसीलिए नहीं जानते कि वह बहुत निकट है, बहुत सूक्ष्म है, व्यवहित है। मूर्च्छा का व्यवधान है। मूर्च्छा की ऐसी अभेद्य दीवार खड़ी हो गई है कि हम आत्मा को नहीं देख पाते, नहीं जान पाते। आत्मा विशुद्ध नहीं रही। उसमें विजातीय तत्त्वों का सम्मिश्रण हो गया। हम इस मिश्रण के कारण उसे नहीं जान पाते।

जैसे-जैसे मूर्च्छा का व्यवधान टूटेगा, प्रमाद की शृंखला टूटेगी, जागृति बढ़ेगी, अपने आप आत्मा का बोध होगा, अस्तित्व का बोध होगा। जो व्यक्ति तर्क के द्वारा, बुद्धि के द्वारा और शाब्दिक प्रपंच के द्वारा अपने आपको जानने का प्रयत्न करता है वह वैसा ही व्यर्थ प्रयत्न है जैसा कि पानी को बिलोकर मक्खन निकालना। किन्तु पानी से मक्खन निकालना भी कभी संभव हो सकता है। क्या कभी किसी ने दो शताब्दी पूर्व मिट्टी से चीनी निकालने की कल्पना की थी? आज तारकोल में से चीनी निकाली जाती है। यौगलिक युग में मिट्टी आज के युग की चीनी से अनन्तगुना मीठी थी। जैसे-जैसे काल बदला, स्वभाव बदला, स्निग्धता कम हुई, रूक्षता बढ़ी और मिट्टी में भी परिवर्तन आ गया। उसकी मिठास कम होती गई। फिर भी मिट्टी से मिठास निकाला जा सकता है। प्रत्येक द्रव्य से प्रत्येक पर्याय का उद्भव किया जा सकता है। ये सारे व्यर्थ प्रयत्न न हों, किन्तु तर्क, बुद्धि और शब्दों के मायाजाल के द्वारा अपने आपको जाना जा सके, यह कभी संभव नहीं लगता।

महावीर न पंडित थे, न विद्वान्

इन्द्रभूति गौतम पारगामी विद्वान्, शास्त्रों के मर्मज्ञ और ज्ञाता थे। वे भगवान् महावीर के पास आए। उनके मन में एक जिज्ञासा थी। वे उसे कहीं प्रकट करना नहीं चाहते थे। उन्होंने इसे अहं का प्रश्न बना लिया था। वे कभी यह जताना नहीं चाहते थे कि उनके मन में एक संशय है। वे भगवान् महावीर के पास आए। आते ही महावीर ने कहा—'इन्द्रभूति! आ गए! तुम्हारे मन में एक संशय है कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं?' यह सुनते ही इन्द्रभूति स्तब्ध रह गए। उन्होंने सोचा—यह क्या! मैंने आज तक अपना संशय किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया, पर महावीर ने कैसे जान लिया? हजारों लोग संशय-निवारण के लिए मेरे पास आते हैं और यदि यह ज्ञात हो जाए कि मेरे मन में भी संशय है तो फिर मैं कहां रहा? मेरा अस्तित्व और मेरी विद्वत्ता ही क्या? ऐसा नहीं महावीर ने क्या किया। उन्होंने मेरी चेतना की गहराई में पड़े हुए संशय को खोलकर रख दिया। उस संशय पर मैंने अनेक आवरण डाल रखे थे, पर

महावीर ने उन आवरणों को अनावृत कर डाला। इन्द्रभूति का अहं इतना प्रबल हो उठा था कि वे आए थे महावीर को परास्त करने। उन्होंने सोचा—मेरे रहते दूसरा पंडित क्यों रहे ? सही बात है। यदि महावीर पंडित होते तो अवश्य ही परास्त हो जाते। पर महावीर न पंडित थे और न विद्वान्। विद्वान् वह होता है जो शास्त्रों को पढ़ता है। पंडित वह होता है जो पुस्तकों को पढ़ता है। महावीर ने एक भी पुस्तक न पढ़ी हो, यह संभव है। उन्होंने एक भी ग्रंथ का अध्ययन नहीं किया था, यह सच है। इसलिए न वे पंडित थे और न विद्वान्। वे तो मात्र ज्ञानी थे। उन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। उन्हें कैवल्य उपलब्ध था। उन्हें आत्मा प्राप्त थी। वे तर्कजाल से मुक्त और बुद्धि की माया से शून्य थे। इन्द्रभूति तर्क और बौद्धिकता में प्रखर थे। उनके सामने महावीर कभी नहीं टिक पाते, किन्तु महावीर ज्ञानी थे।

पंडित ज्ञानी को नहीं हरा सकता

पंडित ज्ञानी को परास्त नहीं कर सकता। इतिहास साक्षी है कि पंडित सदा ज्ञानी के पास जाते रहे हैं और परास्त होते रहे हैं। उपाध्याय यशोविजयजी बहुत गंभीर विद्वान् थे। उनको लघु हरिभद्र कहा जाता था। पंडित सुखलाल जी कहते थे कि हरिभद्र के पश्चात् ऐसा विद्वान् एक भी नहीं हुआ। उस समय आनन्दघनजी थे। वे ज्ञानी और साधक थे। उपाध्याय यशोविजयजी आनन्दघनजी के पास आए। उनको देखते ही वे श्रद्धा से झुक गए। उनका मस्तक ज्ञानी के चरणों में नत हो गया। आज तक के समूचे संत-साहित्य और अध्यात्म-चेतना के इतिहास में यह घटना कभी नहीं घटी कि किसी पंडित ने संत को परास्त किया हो, किसी विद्वान् ने ज्ञानी को हराया हो। फिर चाहे कबीर हो, सूरदास हो, आनन्दघन हो, आचार्य भिक्षु हो या और कोई हो। पंडित ज्ञानी को परास्त नहीं कर सकता। एक बार की घटना है। आचार्य तुलसी भिवानी में थे। एक व्यक्ति आया। उसने कहा—'आचार्य जी ! मैं चर्चा करना चाहता हूं, शास्त्रार्थ करना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने कहा—'शास्त्रार्थ की बातें बीते युग की बातें बन गयी हैं। आज उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा है। वह एक जमाना था। उसमें मल्ल-कुश्तियां होती थीं। अखाड़े होते थे। आज वह जमाना नहीं है। आखिर तुम मेरे साथ शास्त्रार्थ क़रना क्यों चाहते हो ?' उसने कहा—'आपको परास्त करना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने मुस्कराकर कहा—'अरे भाई ! मुझे परास्त कर तुम क्या करोगे ? मैं तो एक चींटी से भी परास्त हूं। एक चींटी भी सामने आती है तो रास्ता बदल देता हूं। वह भी मुझे परास्त कर देती है। तुम परास्त कर क्या करोगे ? यदि तुम्हारी प्रबल इच्छा है कि तुम मुझे परास्त करो, तो शास्त्रार्थ करने का यह समारंभ क्यों ? तुम्हारा भी समय लगेगा और मेरा भी समय लगेगा। तुमको भी बोलना

पड़ेगा और मुझको भी बोलना पड़ेगा। मुझे हराना ही तुम्हारा उद्देश्य है तो मान लो कि मैं हार गया और तुम जीत गए।' इतना सुनते ही वह व्यक्ति पानी-पानी हो गया। वह आचार्यश्री के चरणों में लुट गया और उनका उपासक बन गया। दूसरी बार आचार्यश्री भिवानी गए तब वही व्यक्ति स्वागत समिति का अध्यक्ष बनकर आचार्यश्री का हार्दिक स्वागत करने में अग्रणी रहा।

ज्ञानी वह, जो स्वयं को पढ़े

हम ज्ञान में विश्वास करें। ज्ञानी वह होता है जिसकी अन्तर्दृष्टि जाग जाती है। आवरण टूट जाता है। हम जानते हैं कि आचार्य भिक्षु संस्कृत या प्राकृत के विद्वान् नहीं थे। फिर भी उन्होंने ऐसे गूढ़ सत्यों का उद्घाटन किया, जिसे देखकर आश्चर्य होता है और एक प्रश्न उभरता है कि यह कैसे हुआ? हम तर्क से सोचते हैं तब नया तर्क उत्पन्न होता है। हम इस बात को भूल जाते हैं कि आज की दुनिया जिन तत्त्वों को मानकर चल रही है, वे तत्त्व ऐसे व्यक्तियों द्वारा उद्घाटित हुए हैं जो पढ़े-लिखे नहीं थे। किन्तु आज उन्हें बड़े-बड़े तार्किक, बौद्धिक और वैज्ञानिक लोग पढ़ते हैं। ज्ञानी को सब लोग पढ़ते हैं। ज्ञानी किसी को नहीं पढ़ता। वह केवल अपने आपको पढ़ता है। जो अपने आपको पढ़ता है, उसे दूसरों को पढ़ने की जरूरत नहीं होती। ज्ञानी स्वयंबुद्ध होता है। महावीर ज्ञानी थे। महावीर स्वयंबुद्ध थे। माता-पिता ने उन्हें अध्यापक के पास पढ़ने भेजा। अध्यापक पढ़ाने लगा। उसने अनुभव किया कि मैं जो पढ़ाना चाहता हूं वह तो महावीर पहले से ही जानते हैं। मैं जिसे पढ़ा रहा हूं वह मेरे से अधिक ज्ञानी है। अध्यापक आसन से नीचे उतरा और सामने आकर बैठ गया। महावीर ऊपर बैठ गए। वे ज्ञानी थे।

आज तुलसी, सूरदास, कबीर, मीरा, आचार्य भिक्षु, गांधी आदि व्यक्तियों पर सैकड़ों विद्वान् काम कर रहे हैं। उनकी कृतियों का मूल्यांकन कर रहे हैं। अनेक उपाधियां ले रहे हैं। अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। बहुत बड़ा आश्चर्य है। अनपढ़ लोगों पर पढ़े-लिखे लोग काम कर रहे हैं।

अन्तर्दृष्टि का अवदान

हम इस सचाई को समझ लें कि जब तक हमारी अन्तर्दृष्टि नहीं जाग जाती तब तक ज्ञान नहीं होता। ज्ञानी बने बिना हम उस आनन्द को उपलब्ध नहीं हो सकते जो आत्मिक है। आज तक दुनिया का जितना विकास हुआ है, वह ज्ञानी व्यक्तियों द्वारा हुआ है। उन व्यक्तियों द्वारा हुआ है जिन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गई थी। बड़े से बड़ा आविष्कार अन्तर्दृष्टि के क्षणों में हुआ है, मन की निर्विकल्प दशा में हुआ है, ध्यान की अवस्था में हुआ है। मन विकल्पों से मुक्त हो और कोई बात स्फुरित हो, वह नया [illegible] है। जब बड़ा घटित होता है तब

पानी से उसे भरा जा सकता है। जब घड़ा पहले ही भरा होता है तब उसमें कुछ भी नहीं समा सकता। जब तक मन और मस्तिष्क पूरा खाली नहीं होता, तब तक कोई बड़ी घटना घटित नहीं होती, विशिष्ट ज्ञान अवतरित नहीं होता। आइंस्टीन से पूछा गया—'आपको सापेक्षता के सिद्धान्त का आभास कब और कैसे हुआ?' आइंस्टीन बोले—'मैं नहीं जानता कि यह कैसे हुआ। मुझे ज्ञात नहीं है। मैंने कभी सोचा भी नहीं था। किन्तु यह घटना घटित हो गयी। मैं घूम रहा था। अचानक यह विचार मस्तिष्क में उतरा। मैं घर गया और उसे लिपिबद्ध कर डाला। यह है अन्तर्दृष्टि का अवदान। जितना अवदान अन्तर्दृष्टि का होता है उतना बुद्धि का नहीं होता। अन्तर्दृष्टि के साथ आत्मा की पूरी सत्ता जुड़ी होती है, अनन्त चैतन्य जुड़ा होता है, इसलिए उसका अवदान बहुत बड़ा होता है, सूक्ष्म होता है। बुद्धि की अपनी एक सीमा है। उसका अवदान बड़ा नहीं हो सकता। वह छोटा ही होगा, सीमित होगा। उसका सीधा संबंध विराट् चैतन्य के साथ जुड़ा हुआ नहीं होता।

दर्शनकेन्द्र : शक्ति का अजस्र स्रोत

अन्तर्दृष्टि को जगाने का माध्यम है—प्रेक्षा-ध्यान। हम केवल देखें। विकल्प न करें। न अतीत में उलझें, न भविष्य में उलझें, केलल वर्तमान में रहें। वर्तमान में रहने वाला व्यक्ति, केवल दर्शन-शक्ति का उपयोग करने वाला व्यक्ति अपनी सत्ता के साथ जुड़ जाता है और जब वह इस सत्ता से जुड़ता है तब अंतर्दृष्टि स्वतः जाग जाती है। यह आज्ञाचक्र या दर्शन-केन्द्र जो दो भृकुटियों के बीच स्थित है, अतीन्द्रिय क्षमताओं और चेतनाओं का स्रोत है। यह एक ऐसा स्रोत है जिसका प्रवाह अविच्छिन्न रहता है। यह कुंड का पड़ा पानी नहीं है। यह कुएं का स्रोत है जहां प्रतिदिन नया पानी आता है। कुंड का पानी सीमित होता है। उसमें जितना है उतना ही निकाला जा सकता है। फिर भी कुछ शेष बच ही जाता है। कुएं का स्रोत असीम है। उससे पानी निकालते ही चले जाओ।

बुद्धि है कुंड का पानी

बुद्धि से प्राप्त ज्ञान कुंड का पानी है। स्मृति के कोष्ठों में जितना डालो, उतना मात्र निकाल लो। कम्प्यूटर से अधिक उसका मूल्य नहीं हो सकता। यदि बुद्धि ही हमारे ज्ञान की सीमा हो तो मैं इस भाषा में कहूंगा कि आत्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता। मनुष्य एक कम्प्यूटर से अधिक नहीं हो सकता। वही सीमा होगी। इतना स्पष्ट है कि कम्प्यूटर में मनुष्य ने एक कार्यक्रम नियोजित किया है और यह नियोजन प्रकृति के द्वारा हो रहा है और कोई अन्तर नहीं है। यह अंतर तब आता है जब अन्तर्दृष्टि जागती है। कम्प्यूटर के पास अन्तर्दृष्टि नहीं होती।

मनुष्य को अन्तर्दृष्टि उपलब्ध है। उसके पीछे एक महान् स्रोत है। जब वह स्रोत खुलता है तब विकास प्रारम्भ होता है। हमारे शरीर में ऊपर, नीचे और बीच में स्रोत है। जब ये स्रोत खुलते हैं तब नाना लब्धियां बनती हैं। हम इन स्रोतों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करें, अपनी अन्तर्दृष्टि जगाएं, आन्तरिक चेतना की शक्ति को विकसित करें। मनोविज्ञान ने अचेतन मन की खोज कर एक नयी क्रांति का सूत्रपात किया। यदि मनोविज्ञान केवल स्थूल मस्तिष्क, जागृत मस्तिष्क तक ही उलझा रहता तो मनोविज्ञान के क्षेत्र में इतनी क्रान्ति नहीं होती। उसने मन के तीन स्तरों की खोज की—चेतन मन, अवचेतन मन और अचेतन मन। इससे वस्तुतः अज्ञात का द्वार खुल गया। ज्ञात और अज्ञात के बीच जो खाई थी, वह पट गयी। उसने ज्ञात जगत् से परे जाकर अज्ञात जगत् को समझने की चाबी मनुष्य के हाथ में सौंप दी।

ज्ञात से बड़ा अज्ञात

हमारा ज्ञात जगत् बहुत छोटा है, किन्तु मनुष्य अपने अहंकार के कारण इसे बहुत बड़ा मानकर निर्णय लेता है। यही सबसे बड़ी भूल है। जो व्यक्ति ज्ञात जगत् को छोटा मानकर अज्ञात जगत् की संभावनाओं की ओर प्रस्थान कर देता है, वह वस्तुतः ज्ञानी होता है। जिसने ज्ञात जगत् को सब कुछ मानकर अज्ञात जगत् के द्वार बन्द कर दिए, वह सबसे बड़ा अज्ञानी होता है।

अज्ञात को जानना है ज्ञानी होना

यूनान में डेल्फी देवी का एक मन्दिर है। वह देवी घोषणाएं करती है। लोग प्रश्न पूछते हैं। वह उत्तर देती है। एक बार लोगों ने पूछा—'यूनान में सबसे बड़ा ज्ञानी कौन है?' देवी ने कहा—'सुकरात सबसे बड़ा ज्ञानी है।' लोग सुकरात के पास गए और बोले—'देवी ने कहा है कि आप यूनान के सबसे बड़े ज्ञानी हैं।' सुकरात बोले—'[illegible] भूल हो गयी है। वापस जाओ। देवी से पूछो।' लोग दौड़े-दौड़े गए। देवी से पूछा—'बड़ा ज्ञानी कौन है?' देवी ने कहा—'मैंने पहले ही कह दिया है, [illegible] सबसे बड़ा ज्ञानी है।' लोग फिर सुकरात के पास आए। सुकरात [illegible] सबसे बड़ा ज्ञानी [illegible] इसलिए मैं तुम्हारी बात [illegible] देवी के पास आए [illegible] सबसे बड़ा ज्ञानी होता है। [illegible] वही बड़ा ज्ञानी है।

पानी से उसे भरा जा सकता है। जब घड़ा पहले ही भरा होता है तब उसमें कुछ भी नहीं समा सकता। जब तक मन और मस्तिष्क पूरा खाली नहीं होता, तब तक कोई बड़ी घटना घटित नहीं होती, विशिष्ट ज्ञान अवतरित नहीं होता। आइंस्टीन से पूछा गया—'आपको सापेक्षता के सिद्धान्त का आभास कब और कैसे हुआ?' आइंस्टीन बोले—'मैं नहीं जानता कि यह कैसे हुआ। मुझे ज्ञात नहीं है। मैंने कभी सोचा भी नहीं था। किन्तु यह घटना घटित हो गयी। मैं घूम रहा था। अचानक यह विचार मस्तिष्क में उतरा। मैं घर गया और उसे लिपिबद्ध कर डाला। यह है अन्तर्दृष्टि का अवदान। जितना अवदान अन्तर्दृष्टि का होता है उतना बुद्धि का नहीं होता। अन्तर्दृष्टि के साथ आत्मा की पूरी सत्ता जुड़ी होती है, अनन्त चैतन्य जुड़ा होता है, इसलिए उसका अवदान बहुत बड़ा होता है, सूक्ष्म होता है। बुद्धि की अपनी एक सीमा है। उसका अवदान बड़ा नहीं हो सकता। वह छोटा ही होगा, सीमित होगा। उसका सीधा संबंध विराट् चैतन्य के साथ जुड़ा हुआ नहीं होता।

दर्शनकेन्द्र : शक्ति का अजस्र स्रोत

अन्तर्दृष्टि को जगाने का माध्यम है—प्रेक्षा-ध्यान। हम केवल देखें। विकल्प न करें। न अतीत में उलझें, न भविष्य में उलझें, केलल वर्तमान में रहें। वर्तमान में रहने वाला व्यक्ति, केवल दर्शन-शक्ति का उपयोग करने वाला व्यक्ति अपनी सत्ता के साथ जुड़ जाता है और जब वह इस सत्ता से जुड़ता है तब अंतर्दृष्टि स्वतः जाग जाती है। यह आज्ञाचक्र या दर्शन-केन्द्र जो दो भृकुटियों के बीच स्थित है, अतीन्द्रिय क्षमताओं और चेतनाओं का स्रोत है। यह एक ऐसा स्रोत है जिसका प्रवाह अविच्छिन्न रहता है। यह कुंड का पड़ा पानी नहीं है। यह कुएं का स्रोत है जहां प्रतिदिन नया पानी आता है। कुंड का पानी सीमित होता है। उसमें जितना है उतना ही निकाला जा सकता है। फिर भी कुछ शेष बच ही जाता है। कुएं का स्रोत असीम है। उससे पानी निकालते ही चले जाओ।

बुद्धि है कुंड का पानी

बुद्धि से प्राप्त ज्ञान कुंड का पानी है। स्मृति के कोष्ठों में जितना डालो, उतना मात्र निकाल लो। कम्प्यूटर से अधिक उसका मूल्य नहीं हो सकता। यदि बुद्धि ही हमारे ज्ञान की सीमा हो तो मैं इस भाषा में कहूंगा कि आत्मा का अस्तित्व नहीं हो सकता। मनुष्य एक कम्प्यूटर से अधिक नहीं हो सकता। वही सीमा होगी। इतना स्पष्ट है कि कम्प्यूटर में मनुष्य ने एक कार्यक्रम नियोजित किया है और यह नियोजन प्रकृति के द्वारा हो रहा है और कोई अन्तर नहीं है। यह अंतर तब आता है जब अन्तर्दृष्टि जागती है। कम्प्यूटर के पास अन्तर्दृष्टि नहीं होती।

मनुष्य को अन्तर्दृष्टि उपलब्ध हैं। उसके पीछे एक महान् स्रोत है। जब यह स्रोत खुलता है तब विकास प्रारम्भ होता है। हमारे शरीर में ऊपर, नीचे और बीच में स्रोत है। जब ये स्रोत खुलते हैं तब सारी स्थितियां बनती हैं। हम इन स्रोतों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करें, अपनी अन्तर्दृष्टि जगाएं, आन्तरिक चेतना की शक्ति को विकसित करें। मनोविज्ञान ने अचेतन मन की खोज कर एक नयी क्रांति का सूत्रपात किया। यदि मनोविज्ञान केवल स्थूल मस्तिष्क, जागृत मस्तिष्क तक ही उलझा रहता तो मनोविज्ञान के क्षेत्र में इतनी क्रान्ति नहीं होती। उसने मन के तीन स्तरों की खोज की—चेतन मन, अवचेतन मन और अचेतन मन। इससे सचमुच अज्ञात का द्वार खुल गया। ज्ञात और अज्ञात के बीच जो खाई थी, वह पट गयी। उसने ज्ञात जगत् से परे जाकर अज्ञात जगत् को समझने की चाबी मनुष्य के हाथ में सौंप दी।

ज्ञात से बड़ा अज्ञात

हमारा ज्ञात जगत् बहुत छोटा है, किन्तु मनुष्य अपने अहंकार के कारण इसे बहुत बड़ा मानकर निर्णय लेता है। यही सबसे बड़ी भूल है। जो व्यक्ति ज्ञात जगत् को छोटा मानकर अज्ञात जगत् की संभावनाओं की ओर प्रस्थान कर देता है, वह सचमुच ज्ञानी होता है। जिसने ज्ञात जगत् को सब कुछ मानकर अज्ञात जगत् के द्वार बन्द कर दिए, वह सबसे बड़ा अज्ञानी होता है।

अज्ञान को जानना है ज्ञानी होना

यूनान में डेल्फी देवी का एक मन्दिर है। वह देवी घोषणाएं करती है। लोग प्रश्न पूछते हैं। वह उत्तर देती है। एक बार लोगों ने पूछा—'यूनान में सबसे बड़ा ज्ञानी कौन है?' देवी ने कहा—'सुकरात सबसे बड़ा ज्ञानी है।' लोग सुकरात के पास आए और बोले—'देवी ने कहा है कि आप यूनान के सबसे बड़े ज्ञानी हैं।' सुकरात बोले—'कहीं भूल हो गयी है। वापस जाओ। देवी से पूछो।' लोग दौड़े-दौड़े गए। देवी से पूछा—'बड़ा ज्ञानी कौन है?' देवी ने कहा—'मैंने पहले ही कह दिया है, सुकरात सबसे बड़ा ज्ञानी है।' लोग पुनः सुकरात के पास आए। सुकरात बोले—'तुम यदि पहले आते तो मैं तुम्हारी बात मान लेता कि मैं सबसे बड़ा ज्ञानी हूं। किन्तु अब मुझे अपने अज्ञान का पता लग गया है, इसलिए मैं तुम्हारी बात स्वीकार नहीं कर सकता।' लोग असमंजस में पड़ गए। वे पुनः देवी के पास आए और बोले—क्या तो आप झूठ कह रही हैं या सुकरात झूठ बोल रहे हैं। दोनों में से कोई एक झूठा है।' देवी ने कहा—'नहीं, मैं सच कह रही हूं क्योंकि जिस व्यक्ति को यह पता हो जाता है कि वह अज्ञानी है, वही वास्तव में बड़ा ज्ञानी होता है। सुकरात को अपने अज्ञान का पता है, इसलिए वही बड़ा ज्ञानी है।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। हम यदि अपने अज्ञान को समझ लेते हैं तो ज्ञानी बन जाते हैं। व्यक्ति का अहंकार इतना बड़ा होता है कि वह अपने अज्ञान को प्रकट करना नहीं चाहता, उसे छिपाए रखना चाहता है। दशवैकालिक आगम में एक सुन्दर गाथा है—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य, कुव्वइ देवकिब्विसं॥

एक व्यक्ति साधुओं के स्थान पर गया। उसने देखा—एक दुबला-पतला साधु स्वाध्याय कर रहा है। उसने पूछा—'सुना है, आपके धर्म-संघ में एक महान् तपस्वी मुनि हैं। क्या वे आप ही हैं?' साधु का अहं जाग उठा। उसने कहा—'साधु तपस्वी ही होते हैं।' वास्तव में वह साधु था बीमार, इसीलिए दुबला-पतला था। किन्तु वह यह कहना नहीं चाहता था कि वह बीमार है। आगन्तुक व्यक्ति ने उस साधु की तपस्वी के रूप में प्रशंसा की। प्रशंसा सुन साधु फूल उठा। यह तपस्या की चोरी है। वह साधु तपःचोर है। इसी प्रकार अवस्था, रूप और आचार—शील की भी चोरी होती है। यह सारा अहंकार के कारण होता है। आदमी अपने आपको किसी से न्यून दिखाना नहीं चाहता। अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करना नहीं चाहता। वह मरकर यदि देवयोनि में भी जाता है तो अधम जाति का देव किल्विषिक होता है। सामान्यतः आदमी अपनी कमजोरी को प्रगट करना नहीं चाहता। अपनी दुर्बलताओं को वही व्यक्ति प्रगट कर सकता है जो ज्ञानी होता है, जो अपने ज्ञान की सीमा को जानता है, अपने चरित्र की सीमा को जानता है।

व्यक्ति साधना के पथ पर चलता है, बढ़ता है। कोई साधु बन जाता है और कोई गृहस्थ ही बना रहता है। साधु बनते ही यदि कोई सोच ले कि वह सिद्ध बन गया, अब उसमें कोई त्रुटि नहीं रही, कोई दोष नहीं रहा तो यह भूल होगी। साधना प्रारंभ करते ही कोई सिद्ध नहीं बन जाता। सिद्ध बनने में बहुत तपना पड़ता है, खपना पड़ता है।

प्रेक्षा : वृत्तियों के प्रति जागना

प्रेक्षा-ध्यान साधना का मार्ग है। कोई व्यक्ति प्रेक्षा-ध्यान की साधना प्रारंभ करते ही सोचता है कि मैं सिद्ध बन गया। अब यदि कोई यह जान लेगा कि मेरे में यह दुर्बलता है, यह कमजोरी है तो फिर मैं साधक ही कैसा! इस प्रकार सोचने वाले साधक का अहं उभर आता है और वह फिर दूसरों से मार्ग-दर्शन लेना भूल जाता है। उसमें जब वासना जागती है, क्रोध की ऊर्मियां उभरती हैं, हिंसा की भावना जागृत होती है, असत्य और चोरी की भावना जागती है तब वह इन सभी

दुर्बलताओं को छिपाकर अपने आपको एक विशुद्ध ध्यानी के रूप में प्रस्तुत करना पसन्द करता है और सिद्ध करता है कि उसमें ये कमजोरियां नहीं हैं। साधना का यह सबसे बड़ा विघ्न है। साधक को चाहिए कि वह अपना गुरु चुने और अपनी समस्त कमजोरियां गुरु के समक्ष प्रकट करता रहे।

समय-समय पर उभरने वाली वृत्तियों के उपशमन के लिए वह गुरु से मार्ग-दर्शन ले और अपना परिमार्जन करे। शिष्य की कमजोरियों को जानकर गुरु को कोई कष्ट नहीं होगा। गुरु जानते हैं कि साधनाकाल में ये वृत्तियां जागती हैं। हजारों-लाखों वर्षों के अर्जित संस्कार जागते हैं, यह आश्चर्य नहीं है। किन्तु जो उन उभरने वाली वृत्तियों की प्रेक्षा करता है, उन्हें देखता है, वह धीरे-धीरे उनसे छुटकारा पा लेता है। साधना का अर्थ सारी वृत्तियों और संस्कारों से एक साथ छूट जाना नहीं है, किन्तु उन संस्कारों और वृत्तियों के प्रति जाग जाना है, अपने भीतर में संचित सड़ांध को साफ करने के प्रति जाग जाना है। इसका नाम है ध्यान, ध्यान या साधना। जब यह जागृत होती है तब जीवन में साधना उतरती है, व्यक्ति ज्ञानी बनने की ओर अग्रसर होता है। इस जागृति से ही साधना में निखार आता है।

सरलता : शुद्धि की साधना

भगवान् महावीर ने कहा—'सोही उज्जुयभूयस्स'—शुद्धि उसकी होती है जो ऋजु होता है, सरल होता है। बाइबल की भाषा में—बच्चे जैसा। भारतीय परम्परा में विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का कथन किया गया है। प्रायश्चित्त की पहली शर्त है कि व्यक्ति बच्चे जैसा सरल होकर अपने दोषों को गुरु के समक्ष रखे। वह है—आलोचना। बच्चों की तरह सरल होकर बिना कुछ छिपाए, गुरु को सब कुछ कह देना ही आलोचना है। फिर गुरु जाने। मुझे कोई चिन्ता नहीं। यदि भी छिपाऊंगा तो शल्य रह जाएगा। शुद्धि नहीं होगी। जो अपने आपको छिपाता है, दुर्बलता और कमजोरी को छिपाता है, उसकी शुद्धि नहीं हो सकती। जिसकी शुद्धि नहीं हो सकती उस आत्मा में धर्म नहीं टिक सकता। ऋजु आत्मा शुद्ध होती है और शुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है।

[illegible]

६. प्रेक्षा एक चिकित्सा है मनोरोग की

१. स्वास्थ्य का मूल आधार—रक्तशुद्धि ।
२. रक्तशुद्धि हृदय और गुर्दे करते हैं ।
३. विष निकालने के माध्यम—
आंतें, मूत्राशय, स्वेदग्रन्थियां, रोमकूप, निःश्वास ।
४. स्वास्थ्य का उपाय दवा नहीं, स्वास्थ्य का उपाय है—स्वास्थ्यकारी भोजन ।
५. सबसे बड़ी बीमारी—सत्य को झुठलाने की मनोवृत्ति ।
६. एकाग्रता—प्रतिरोधकशक्ति ।
- अनुप्रेक्षा—सफाई ।
- शरीर-प्रेक्षा—विष-विसर्जक ।

७. चिकित्सा रोग की नहीं, रोगी की ।
८. सचाई का अवबोध : तनाव-विसर्जन का कारण ।

करें जिससे कि छोटी बीमारियां अपने आप शांत हो जाएं। प्रश्न एक ही रहता है—बड़ी बीमारी है क्या? उस बीमारी की खोज हमें स्वयं करनी है। सबसे बड़ी बीमारी है—सचाई को झुठलाने की मनोवृत्ति। मनुष्य सत्य को झुठलाने और नकारने का प्रयत्न करता है। वह सत्य को सीधा स्वीकार नहीं करता। यह बीमारी अन्यान्य बीमारियों को जन्म देती है। आज के मानसिक चिकित्सक से पूछा जाए कि सबसे बड़ी बीमारी क्या है तो वह कहेगा—मानसिक तनाव सबसे बड़ी बीमारी है। मैं इस भाषा में नहीं सोचता। मानसिक तनाव बड़ी बीमारी नहीं है। यह स्वयं बीमारी नहीं है, बीमारी का वंश है। बीमारी है सत्य को झुठलाने की मनोवृत्ति। जब हम सत्य को झुठलाते हैं तब मानसिक तनाव पैदा हो जाता है। जब-जब मनुष्य ने सत्य को झुठलाया है तब-तब उसने मनो-व्यथाओं को भोगा है, मानसिक यातनाओं और पीड़ाओं को भोगा है। सत्य को झुठलाने की मनोवृत्ति बनती है निरपेक्षता के द्वारा। हमारा स्वभाव ही ऐसा एकांगी बन गया कि हम एक बात को पकड़कर चलते हैं, सर्वांगीण सत्ता को देखना नहीं चाहते। हम निरपेक्षता की पगडंडी पर चलना पसन्द करते हैं, किन्तु सापेक्षता के राजपथ पर चलना पसन्द नहीं करते।

तीन अनुप्रेक्षाएं

हम तीन अनुप्रेक्षाओं का प्रयोग करते हैं। वे तीन अनुप्रेक्षाएं हैं—अनित्य अनुप्रेक्षा, अन्यत्व अनुप्रेक्षा और एकत्व अनुप्रेक्षा।

सारे संयोग अनित्य हैं। संयोग मेरे से भिन्न हैं। जब सारे संयोग छूट जाते हैं, शेष जो बचता है वह मैं हूं। एकोऽहम्—मैं अकेला हूं। आदमी ने इसे झुठलाया।

एकत्व अनुप्रेक्षा

एकत्व सचाई है। किन्तु मनुष्य ने इसको झुठलाने का जितना प्रयत्न किया उतना प्रयत्न शायद किसी और दिशा में नहीं किया। झुठलाने का प्रयत्न निरंतर चलता रहा और वह प्रयत्न चलते-चलते आज इस विन्दु पर पहुंच गया कि समाज ही परम सत्य या ध्रुव सत्य बन गया। आदमी ने मान लिया कि समाज ही अन्तिम सत्य है, व्यक्ति तो समाज का एक पुर्जा मात्र है। एक महायन्त्र का छोटा-सा पुर्जा है व्यक्ति। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस मान्यता ने व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व को ही समाप्त कर डाला। व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भारी कुठाराघात हुआ। क्या व्यक्ति का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है? क्या व्यक्ति समाज का एक पुर्जा मात्र है? जब व्यक्ति समाज का पुर्जा ही है तब फिर समाज के द्वारा जो प्राप्त होता है उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए। किन्तु कठिनाई यह है कि समाज से जो सहर्ष उपलब्ध होता है उसे व्यक्ति स्वीकार

अभिमान करना भी जरूरी है, बड़प्पन का प्रदर्शन भी जरूरी है, अन्यथा बड़े बनने का अर्थ ही क्या ? कपट करना भी जरूरी है। यदि कोई वंचना करना नहीं जानता, धोखा-धड़ी नहीं जानता, लोग उसे सरल या भोला समझकर ठग लेते हैं। जब देखते हैं कि सामने वाला कपटी है, तब सोचते हैं कि संभलकर बात करनी होगी। लोग सावधान रहते हैं, जीवन के ऐसे मूल्य बना रखे हैं कि उनसे सारी मानसिक बीमारियां उत्पन्न होती हैं। सचमुच व्यक्ति सापेक्षता को नहीं जानता। वह जीवन के हर क्षेत्र में सचाइयों को अस्वीकार करता जा रहा है। इसीलिए ये कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

शरीर बीमार इसलिए होता है कि उसमें विष जमा होता है। जब विष अधिक जमा हो जाता है तब शरीर अधिक रुग्ण बन जाता है। विष निकालने का सबसे बड़ा साधन है—मल-मूत्र का विसर्जन। जब मल नियमित रूप से विसर्जित होता रहता है तब कोई बीमारी नहीं होती। जब शरीर में विटामिन 'बी' की कमी होती है, बी कॉम्प्लेक्स की कमी होती है तब कोष्ठबद्धता की बीमारी हो जाती है। यह शारीरिक बीमारी की बात है। कोष्ठबद्धता का यह भी कारण है कि आज का आदमी निस्सार भाग खाए जा रहा है और सार भाग फेंके जा रहा है। गेहूं में सार भाग है चोकर। वह उसे निकाल फेंकता है और फिर सारहीन भाग को खाता है। वह जानता हुआ भी यही करता है। ऐसा क्यों होता है ? यह इसीलिए होता है कि वह हर जगह सचाई को झुठलाना चाहता है। यह कैसे हो कि भोजन के विषय में वह सचाई को न झुठलाए। यह संभव नहीं है। झुठलाना जिसका स्वभाव ही बन गया, वह फिर हर जगह झुठलाने का प्रयत्न क्यों नहीं करेगा ?

चित्त-स्वास्थ्य का माध्यम—धर्म

शरीर एक ऐसा यंत्र है जिसमें अपने आपको स्वस्थ रखने के लिए पूरी व्यवस्था है, किन्तु चित्त को स्वस्थ रखने के लिए उसमें कोई व्यवस्था नहीं है। उसे व्यवस्था देना आवश्यक है। वह व्यवस्था है—धर्म। किन्तु कठिनाई एक है कि संपन्नता के शिखर पर चढ़कर जो खोज की जाती है, गरीबी में उस खोज का मूल्य समाप्त हो जाता है। आदमी भोग के अंतिम बिन्दु पर पहुंच गया। उसने पदार्थ के शिखर पर पहुंच कर पाया कि अब आगे पदार्थ से कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सकता, पदार्थ की शक्ति समाप्त है, पदार्थ सुख नहीं दे सकता, प्रत्युत भ्रांति दे रहा है, व्यथा दे रहा है, ऐसी स्थिति में उसने पाया कि एक ऐसा भी तत्त्व है जो पदार्थ-निरपेक्ष है, जहां पदार्थ की सुख देने की शक्ति समाप्त हो जाती है वहां भी वह सुख दे सकता है, और वह तत्त्व है धर्म। किन्तु संपन्नता के शिखर पर पहुंचकर की गई खोज विपन्नता की स्थिति में हमारे लिए स्वयं असत्य और

व्यवस्थाएं आई हैं मनुष्य की गलत मान्यताओं के कारण। यदि ये मान्यताएं नहीं होतीं तो ये व्यवस्थाएं नहीं जन्मतीं। जितनी सामाजिक दुर्व्यवस्थाएं आई हैं, वे सत्य को झुठलाने के कारण आई हैं।

आदमी आदमी का स्पर्श नहीं करता, उसे अछूत मानता है। हमने देखा है—कुत्ता थालियों को चाटता है। आदमी उसे देखते हुए भी नहीं हटाता। यदि एक आदमी उसे छू लेता है तो वह आगबबूला हो जाता है। क्या कुत्ते से आदमी निकृष्ट है? कुत्ता कितना घृणित है? वह क्या नहीं खाता? आज स्वास्थ्य की दृष्टि से देखा जाए तो पता चलेगा कि बीमारी के कितने परमाणु कुत्ते के मुंह पर लगे रहते हैं। वह कभी मांस पर मुंह देता है, कभी सड़े-गले कलेवर पर और कभी मल पर। वह थाली को चाटता है। कोई आपत्ति नहीं होती। आदमी यदि उन बर्तनों से छू भी जाए तो आपत्ति के पहाड़ टूट पड़ते हैं। यह क्या है? आदमी ने एक भयंकर भ्रान्ति पाल रखी है। यह मानसिक बीमारी है। इससे अनेक छोटी-मोटी बीमारियां पैदा होती हैं। ये मनोविकृतियां जब तक रहेंगी। तब तक मानसिक तनाव कभी नहीं मिट सकेगा। इसलिए प्रथम आवश्यकता यह है कि इन विकृतियों को मिटाया जाए।

चिकित्सा रोग की नहीं, रोगी की

रोग की चिकित्सा में अध्यात्म का विश्वास नहीं है। उसका विश्वास है रोगी की चिकित्सा में। चिकित्सा रोगी की होनी चाहिए। रोग की चिकित्सा से बहुत लाभ नहीं हो सकता। रोग की चिकित्सा करते हैं और यदि रोगी कमजोर है या उसमें प्रतिरोधात्मक शक्ति कम है तो एक रोग के उपशमन के साथ दूसरे रोग के कीटाणु आक्रमण कर देंगे। केवल रोग की चिकित्सा चलेगी तो बीमारियों की श्रृंखला भी चलती चली जाएगी। इसलिए जरूरत है कि रोगी की चिकित्सा की जाए। प्राकृतिक चिकित्सक यही करता है।

आज चिकित्सा की एक नयी पद्धति प्रचलित हुई है। वह है भोजन के द्वारा चिकित्सा। कुछ अमरीकी वैज्ञानिकों ने इस पद्धति का प्रयोग किया है। इसमें किसी भी प्रकार की औषधि का सहारा नहीं लिया जाता। वे मानते हैं कि बीमारी पैदा होती है विष के संचय से। विष का अर्थ है शरीर में अम्लता का जमाव। अम्लता शरीर में जितनी बढ़ती है उतनी ही बीमारियां पैदा होती हैं। औषधि के द्वारा अम्लता को मिटाना पर्याप्त नहीं है। वे ऐसे भोजन का चुनाव करते हैं जिसमें क्षारधर्मिता ज्यादा हो और अम्लता कम हो। चीनी मीठी होती है, पर अम्लता बहुत पैदा करती है। वे इसका वर्जन करते हैं। उपयुक्त भोज्य पदार्थों का चुनाव कर वे रोग की नहीं, रोगी की चिकित्सा करते हैं।

हमारा भी यही प्रयत्न है। मानसिक तनाव से मुक्त करने के लिए हम मनो-
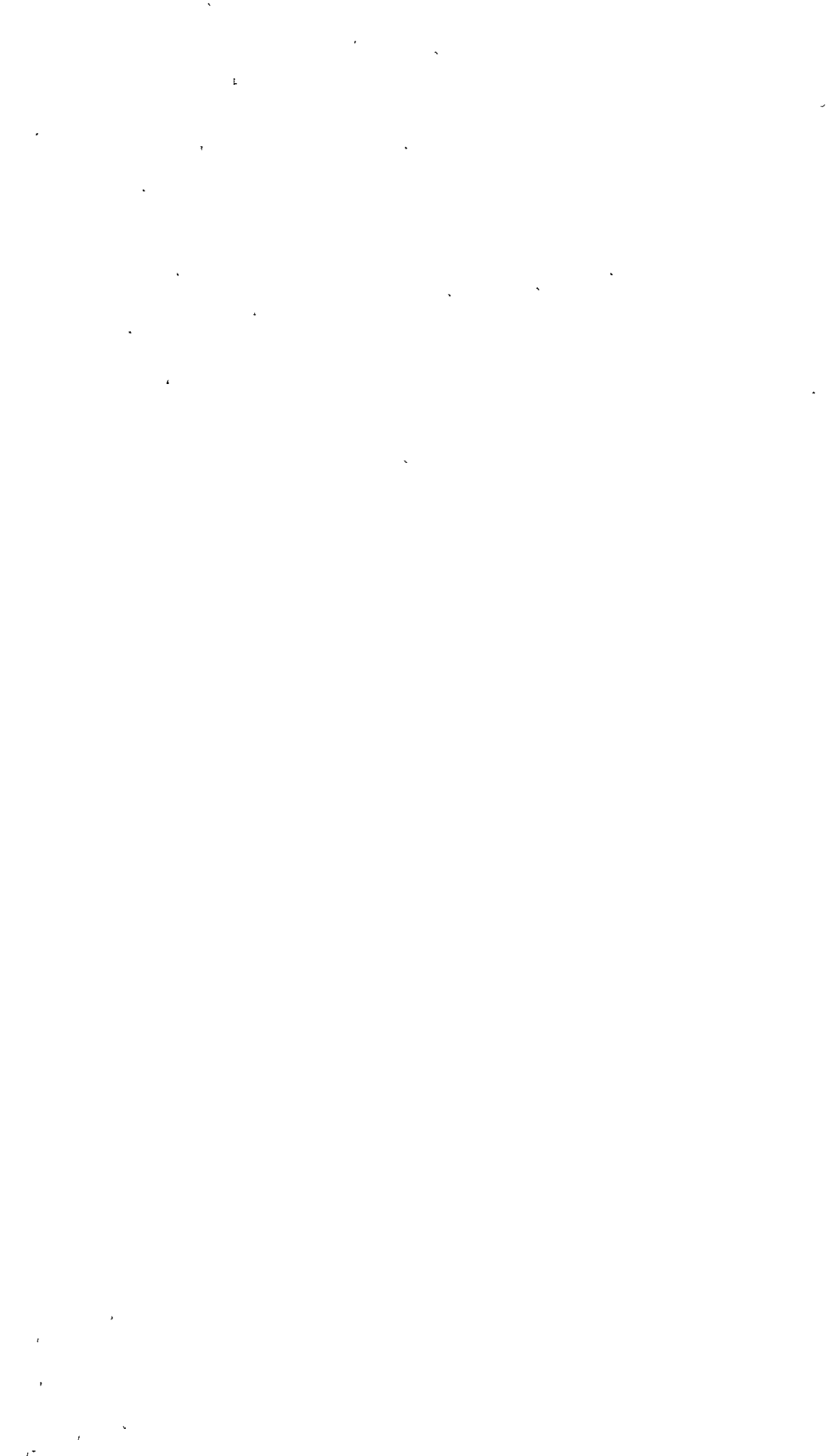
१०. समाधि की खोज : समस्या का जीवन

५. मूर्च्छा के परमाणुओं का एक वर्ग है—प्रियता और अप्रियता।

- प्रियता का संवेदन भी असमाधि।
- अप्रियता का संवेदन भी असमाधि।
- मनोज्ञ राग के हेतु बनते हैं।
- अमनोज्ञ द्वेष के हेतु बनते हैं।
- मनोज्ञ-अमनोज्ञ में मन का योग न करना समाधि है।

बहुत वृद्धिगत हो गया है। आज के जीवन में जितना मानसिक तनाव और दबाव है उतना अतीत में नहीं था। इतिहास इसका साक्षी है।

तनाव का कारण है—भय

आज तनाव के कारणों की संख्या बढ़ गयी है। उसमें भय मुख्य कारण है। पुराने जमाने में भय होता था चोर का, डाकू का। आज चोर और डाकू का भय उतना नहीं है जितना भय राज्य-तंत्र का है। राज्य का इतना नियंत्रण है कि व्यक्ति सर्वथा परतंत्र है। आज का आदमी सोता है तो भय को सिरहाने लेकर सोता है और उठता है तो भय की चप्पल पहनकर ही पैर आगे रखता है। उसका कोई भी क्षण ऐसा नहीं जाता जो भयमुक्त हो। जिन लोगों ने अपने आपको ज्यादा सुखी बनाने का प्रयत्न किया और कर रहे हैं उन्होंने तो ऐसा मान लिया कि मानो जीने का अर्थ है—भय और भय का अर्थ है—जीना। वे भय और जीवन को दो नहीं मानते। यह द्विवचन नहीं, एकवचन बन गया।

एक विद्यार्थी से पूछा गया—'पाजामा एकवचन है या बहुवचन?' उसने कहा—'ऊपर से एकवचन और नीचे से बहुवचन।'

आज पूछा जाए—'भय और जीवन एक है या दो?' उत्तर होगा—'ऊपर से एक और नीचे से दो।'

भय को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। यदि भय को अलग नहीं किया जा सकता तो आदमी समस्या से मुक्त जीवन नहीं जी सकता। भय का इतना बड़ा तनाव है कि जीवन की सारी व्यवस्थाएं गड़बड़ा जाती हैं। इसके कारण नाड़ी-संस्थान, तंत्रिका-तंत्र और समूचा शरीर-तंत्र अव्यवस्थित हो जाता है। शरीर के रसायन और विद्युत्-प्रवाह बदल जाता है। इस स्थिति में आदमी सुख से कैसे जी सकता है? उसे भयमुक्त जीवन जीने का अवसर ही उपलब्ध नहीं होता। सुखी जीवन का एकमात्र उपाय है—समाधि।

समाधि सबके लिए

प्राचीन-काल में समाधि की खोज योगियों ने की। यह माना जाता रहा है कि समाधि योगियों और संन्यासियों के लिए है, गृहस्थों के लिए नहीं है। किन्तु आज हर व्यक्ति जो जीता है, प्राण-धारण करता है, उसके लिए समाधि और ध्यान की अत्यन्त आवश्यकता है। आज प्रत्येक व्यक्ति को योगी बनना जरूरी है। जो गृहस्थ योगी नहीं बनेगा, ध्यान और योग का अभ्यास नहीं करेगा वह पूरा जीवन नहीं जी सकेगा। उसे अकाल-मृत्यु का सामना करना पड़ेगा। अस्सी वर्ष जीने वाला पचास वर्ष में ही काल-कवलित हो जाएगा। आज समाधि की आवश्यकता सबके लिए है।

नहीं होता। आदमी कल्पना के जाल में उलझ जाता है। शब्दों के द्वारा जीवन में कितनी घटनाएं घटित होती हैं! यथार्थ में समस्या कुछ भी नहीं होती, किन्तु आदमी शब्द को पकड़कर इतने संघर्ष में उतर जाता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

राजनेता के पास आकर एक आदमी ने कहा--'अमुक व्यक्ति 'ख' आपको बुरा-भला कह रहा था। आपको वह भ्रष्ट, धूर्त्त और धोखेवाज वता रहा था।' राजनेता ने कहा—'यदि मैं इस वार मंत्री वन जाऊंगा तो उस नालायक को नरक में भेज दूंगा। वह मुझे समझता क्या है?'

इतने में दूसरा व्यक्ति आकर बोला—'अमुक व्यक्ति 'क' आपकी वहुत प्रशंसा कर रहा था। वह जनता को वता रहा था कि आप जैसे नेता भारत में इने-गिने हैं। आप जैसा कोई प्रामाणिक-ईमानदार व्यक्ति मिलना मुश्किल है।' राजनेता ने हंसते हुए कहा—'उसने मेरा यथार्थ मूल्यांकन किया है। यदि मैं मंत्री बनूंगा तो उसे स्वर्ग में भेज दूंगा।'

शब्दों की इस दुनिया में जीने वाला व्यक्ति क्षण-क्षण वदलता जाता है। वह क्षण में अनुग्रह करता है और क्षण में शाप देने लग जाता है।

समस्याओं के जनक

रूप भी अनेक समस्याएं पैदा करता है। वह भीतर उतरकर व्यक्तित्व को चकनाचूर कर देता है।

रस, गंध और स्पर्श भी अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न करते हैं।

मन के भाव भयंकर समस्याओं के जनक हैं।

समस्या का हल : समाधि

इन्द्रिय और मन की परिधि में जीने वाले लोग हजारों-हजारों प्रकार की समस्याएं भोगते हैं। ये समस्याएं सरकार नहीं सुलझा सकतीं। अनाज की समस्या, मकान या कपड़े की समस्या को सरकार सुलझाने में सक्षम होती है। किन्तु इन्द्रियों और मन की समस्या को कोई नहीं सुलझा पाता। इन समस्याओं को सुलझाने में सक्षम है केवल व्यक्ति की अपनी समाधि। दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए हम आज समाधि की चिन्ता कर रहे हैं। जिस समस्या को समाज या राज्य के स्तर पर नहीं सुलझाया जा सकता उस समस्या को व्यक्ति के स्तर पर समाधि के द्वारा सुलझाया जा सकता है।

समस्या का अर्थ है—आश्रव और समाधि का अर्थ है—संवर। समस्या का अर्थ है—मूर्च्छा और समाधि का अर्थ है—चैतन्य का अनुभव। एक बात है, यदि मूर्च्छा नहीं होती तो आदमी दुनिया में जी नहीं पाता। हर व्यक्ति मूर्च्छा से

और जीभ का संवेदन बंद और मन के भावों का संवेदन भी बंद। बाहर से जो आ रहा है, वह सब बंद, यह समाधि का पहला बिन्दु है। बन्द करना समाधि का उपक्रम है। सारे दरवाजे बंद करना सीखें। परन्तु इसके साथ एक प्रश्न होता है कि खिड़कियों को बन्द कब तक रखा जाए? दुर्गन्ध आयी, खिड़की को बन्द कर दिया। दुर्गन्ध में कमी हो गयी, किन्तु साथ-साथ में अच्छी हवा भी बन्द हो गयी। कब तक बन्द रखें। क्या कोई व्यक्ति आंखें बन्द कर जी सकता है? क्या कोई व्यक्ति कानों को बन्द कर, बिना शब्द सुने जी सकता है? क्या सरस भोजन करना सदा के लिए छोड़ दिया जाए? यह असंभव नहीं है? दुनिया में जीना है तो सरसता भी चाहिए। इन्द्रियों को बन्द कर जीने में सारी सरसताएं समाप्त हो जाती हैं। सारा जीवन नीरस और भार बन जाता है। दुर्गन्ध को रोकने के लिए खिड़की बन्द की तो सुगन्ध भी भीतर नहीं आ पाएगी। बुरे के साथ अच्छे का भी निषेध हो जाएगा। इस प्रश्न को समाहित करने के लिए समाधि का दूसरा बिन्दु खोजा गया।

समाधि का दूसरा बिन्दु है—समता। जो आता है, उसे आने दो। शब्द, रूप, रस और गंध जो भी आए, इन्द्रियां जो कुछ ग्रहण करें उसे आने दो। भीतर प्रवेश करने दो। मन में जो विचार उठे, उन्हें रोको मत, उठने दो। बस, एक ऐसी चेतना जागृत करो कि वह जो कुछ आए उसका संवेदन न करें, केवल देखें, जानें, किन्तु उसके साथ प्रियता या अप्रियता को न जोड़ें। चेतना को इतनी समतामय बना लें कि अच्छा आए तो भी स्वागत है और बुरा आए तो भी स्वागत है। कोई भी आए, सबका स्वागत है। किन्तु उससे कोई प्रयोजन नहीं। आने वाला आए और चला जाए, यह है—समता। यह है—समाधि का दूसरा बिन्दु। इस बिन्दु पर प्रियता या अप्रियता, मनोज्ञ या अमनोज्ञ, कुछ भी नहीं रहता। वस्तु केवल वस्तु-मात्र रह जाती है। चेतना चेतनामात्र रह जाती है। संवेदन संवेदनमात्र रह जाता है और ज्ञान ज्ञानमात्र रह जाता है। वहां ज्ञान संवेदन से प्रभावित नहीं होता और संवेदन की छाया में ज्ञान की ज्योति दबती नहीं, वह ऊपर दीप्त होती रहती है। वहां ज्ञान ऊपर रहता है और संवेदन नीचे। यह है समता की स्थिति।

दो बातें हो गयीं। पहली बात है कि बाहर से कुछ लिया नहीं और दूसरी बात है कि बाहर से जो आया उसके साथ प्रियता या अप्रियता का संवेदन नहीं जोड़ा। परन्तु इन दोनों से भी समस्या का पूरा समाधान नहीं हुआ।

भीतर का आक्रमण

आंखें बंद कर लीं। मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया। सर्वेन्द्रिय-संयम-मुद्रा कर बाहर से सम्बन्ध-विच्छेद कर डाला। अब बाहर से न शब्द आ रहा है, न रूप और रस आ रहा है। सब कुछ बंद है। किन्तु मस्तिष्क में लाखों-करोड़ों,

लेने मात्र से, केवल प्रतिसंलीनता का अभ्यास कर लेने से या प्रियता या अप्रियता की भावना को साध लेने से समस्या का समाधान नहीं होता। समस्या का समाधान तब होता है जब भीतर में रहे हुए शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के भंडार को रिक्त करना जान लें। जब यह रिक्त या रेचन करने की प्रक्रिया सीख ली जाती है तब वह भंडार खाली हो जाता है। यही निर्जरा की प्रक्रिया है।

समाधि के लिए दो प्रक्रियाएं बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। एक है—संवर की प्रक्रिया और दूसरी है—निर्जरा की प्रक्रिया। केवल संवर से पूरा समाधान नहीं होता। संवर से बाहर का आना बंद हो जाएगा किन्तु भीतर में अवस्थित संस्कारों का अटूट भंडार इससे रिक्त नहीं होगा। बाहरी तत्त्व पीड़ा पहुंचाना बन्द कर देंगे, पर भीतरी तत्त्व इतने जाग जाएंगे कि उनकी पीड़ा असह्य हो जाएगी। बाहर का शत्रु इतना खतरनाक नहीं होता जितना भीतर का शत्रु खतरनाक होता है। घर का शत्रु जितनी हानि पहुंचा सकता है उतनी हानि दूसरा कोई नहीं पहुंचा सकता।

समाधि की अवस्था

समाधि का अर्थ है—केवल चैतन्य का अनुभव। जब केवल चैतन्य का अनुभव होने लगता है तब भीतर के सारे शब्द, रूप बंद हो जाते हैं। तब न भीतर का शब्द सताता है और न भीतर का रूप सताता है। न शब्द की तरंग, न रूप की श्रृंखला, न गंध की लहर, न रस की अनुभूति और न स्पर्श का अनुभव। न संकल्प और न विकल्प। सब कुछ शांत, शांत और शांत। सारी तरंगें शान्त, सारा तूफान और बवंडर शान्त। भीतर का सारा समुद्र शांत हो जाता है। उसमें कोई तरंग नहीं उठती। वह अथाह समुद्र शांत और निस्तरंग हो जाता है। यह है समाधि का चरम-बिन्दु। न बाहर का कोई शब्द सुनाई देता है और न भीतर से कोई शब्द की तरंग उठती है। न बाहर का कोई रूप दिखायी देता है और न भीतर से कोई रूप की कल्पना उभरती है। न कोई भाव बाहर से मन को उद्दीप्त करता है और न अन्तर् में कोई संकल्प-विकल्प जागता है। बाहर से भी ये सब समाप्त और भीतर में भी ये सब समाप्त हो जाते हैं। केवल चेतना का समुद्र निस्तरंग और शांत-अवस्थित रहता है। यह है समाधि की अवस्था।

समाधि है अप्रयत्न

समाधि का अभ्यास एक प्रयत्न नहीं है, यह प्रयत्नों को छोड़ने का अभ्यास है। आदमी शरीर से बहुत प्रयत्न करता है। वह बोलने का प्रयत्न करता है, सोचने का प्रयत्न करता है और प्रयत्न करते-करते तनाव से भर जाता है। इन प्रयत्नों से मूर्च्छा होती है और आदमी की आंखें बंद हो जाती हैं। आंखें बंद होती

११. समाधि : मानसिक समस्या का स्थायी समाधान

- पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं अहिताए असुभाए अखमाए अणिस्सेस्साए अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—

  सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।

- पंच ठाणा सुपरिण्णाता जीवाणं हिताए सुभाए खमाए णिस्सेस्साए आणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा—

  सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।

- पंच ठाणा अपरिण्णाता जीवाणं दुग्गतिगमणाए भवंति, तं जहा—

  सद्दा, रूवा, गंधा, रसा, फासा।

१. मनोरंजन—तात्कालिक समाधान।

२. संज्ञा है, वृत्तियां हैं तो असमाधि होती रहेगी।

३. संवेग को उपशान्त करें। रेचन का प्रयोग।

४. प्रियता और अप्रियता असमाधि के बीज। शेष उनका विस्तार।

आवरण डालते हैं। आदमी भुलावे में आकर सचाई को विस्मृत कर देता है।

मनोविज्ञान : तनावमुक्ति के परिप्रेक्ष्य में

मनोवैज्ञानिक मानसिक समस्याओं के समाधान के लिए बहुत प्रयत्नशील हैं। पुराने जमाने में केवल शरीर की चिकित्सा पर अधिक बल दिया जाता था किन्तु आज मनोविज्ञान मानसिक उलझनों के निवारण के लिए अनेक प्रयोग प्रस्तुत कर रहा है। डॉ० जार्ज स्टीवन्सन और डॉ० टील ने एक पुस्तक लिखी है—**'लाइफ, टेन्सन एंड रिलेक्सेशन।'** उस पुस्तक में तनावमुक्ति के कुछ उपाय निर्दिष्ट हैं। उनका कथन है कि जब क्रोध आए या क्रोध का तनाव बढ़े तब किसी न किसी प्रकार के शारीरिक श्रम में लग जाना चाहिए, जिससे कि ध्यान बंट जाने के कारण क्रोध का आवेग कम हो जाए। दूसरा प्रयोग यह है कि जब क्रोध आदि का आवेग आए तब स्वाध्याय या किसी मनोरंजन में लग जाना चाहिए।

ये दोनों उपाय भी तात्कालिक हैं, सामयिक हैं, किन्तु ये समस्या को स्थायी रूप में समाहित नहीं कर सकते।

मनोवैज्ञानिकों की शोध के अनुसार यह तथ्य प्रतिपादित हुआ है कि यदि व्यक्ति नौ मिनट तक क्रोध के आवेश में रहता है तो नौ घंटा तक काम करने में प्रयुक्त होने वाली शक्ति नष्ट हो जाती है। कहां नौ मिनट और कहां नौ घंटा!' कितनी हानि? यह धार्मिक उपदेश नहीं है, यह एक प्रयोगशाला में परीक्षित सत्य है।

धर्मशास्त्र क्रोध के दुष्परिणामों की लंबी तालिका प्रस्तुत करते है। वह सारी तालिका नरक के संदर्भ में कही गयी है। क्रोध करने वाला नरकगामी होता है। क्षमा करने वाला स्वर्ग को प्राप्त होता है। मध्यकाल में इन दो शब्दों में सारी समस्या को बांध लिया। आज का आदमी इस भाषा को नहीं समझ सकता कि क्रोध करने से नरक मिलता है और क्षमा करने से स्वर्ग मिलता है। एक बार यह मान भी लिया जाए कि क्रोध करने से नरक मिलता है, तो भी उसके लिए कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उसके मन में न नरक का भय है और न स्वर्ग का प्रलोभन है। आदमी इस भय और प्रलोभन से ऊपर उठ चुका है।

किन्तु आज की शरीरशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय खोजों ने जिन सचाइयों का उद्घाटन किया है वे सचमुच सोचने के लिए बाध्य करती हैं। किन्तु वे भी सही और स्थायी समाधान नहीं हैं। वे भी तात्कालिक हैं। यह माना गया है कि भावनात्मक आवेगों (इमोशन्स) का जो आघात होता है, उसे न रोकना चाहिए और न दबाना चाहिए। उनका निरोध और दमन—दोनों हितकर नहीं होते। इन आवेगों का तात्कालिक उपाय भी किया जा सकता है, किन्तु उसे स्थायी मान लेना उचित नहीं होगा।

उनको दबाना नहीं चाहिए, उन्हें बाहर निकाल देना चाहिए। आवेगों को निकालने का सबसे अच्छा उपाय है रोना। रोने पर बड़ी-बड़ी खोजें हुई हैं। महिलाओं को हार्ट-ट्रबल का रोग कम होता है और पुरुषों में यह अधिक होता है। यह क्यों? कारण स्पष्ट है कि महिलाएं रोकर अपने दबावों को बाहर निकाल देती हैं और पुरुष रोने में संकोच करते हैं, इसलिए उनका दबाव भीतर एकत्रित होता जाता है और वह भारी बनकर कभी इतने जोर से धक्का मारता है कि हृदय उस आघात को सहन नहीं कर पाता। महिलाओं के आयुष्य में और पुरुषों के आयुष्य में भी इसका बड़ा आनुपातिक अंतर होता है।

एक घटित घटना है। एक बालक था। उसका नाम था जीवक कुमार। वह बहुत तत्त्वज्ञानी और प्रबुद्ध था। उसके साथ एक विचित्र आदत जुड़ी हुई थी। जब भी वह भोजन करने बैठता, जरूर रोता। पांच-सात मिनट रोना उसका निश्चित क्रम था। भोजन की थाली परोसी हुई है। वह भोजन करने की तैयारी में है। पर वह रो रहा है, सिसक रहा है। एक दिन उस समय वहां मुनि आ गए। उन्होंने देखा। रोना अजीब-सा लगा। उन्होंने रोने का कारण पूछा। बालक प्रबुद्ध था। उसने कहा—रोने के तीन लाभ हैं—(१) चाक्षुष यंत्र के आसपास जो मैल या कफ जमा होता है, वह रोने से साफ हो जाता है। (२) आंखें साफ हो जाती हैं, उनकी ज्योति बढ़ जाती है। (३) भोजन भी ठंडा और सुपाच्य हो जाता है।

आज का मनोविज्ञान कह सकता है कि रोने का चौथा लाभ है—रोने वाले को हार्ट-ट्रबल नहीं होता।

दबाव को कम करने का एक उपाय है—रेचन। रोना प्रकृति का रेचन है, सहज रेचन की व्यवस्था है। रेचन होता है और दबाव कम हो जाता है। दबाव भीतरी स्नायुओं में संचित नहीं होता, बाहर निकल जाता है। कठिनाई तब होती है जब दबाव स्नायु-संस्थान में संचित हो जाता है। इतना संचय बढ़ जाता है कि वह स्नायु-संस्थान को तोड़ने लग जाता है। तब उच्च रक्तचाप, मस्तिष्क पर दबाव, हार्ट-ट्रबल आदि बीमारियां पैदा होती हैं। आदमी संभाल नहीं पाता। व्याधियां और आधियां आक्रमण कर देती हैं।

निर्जरा : रेचन की प्रक्रिया

धर्म के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्म के पास कोई रेचन का [illegible] धर्म दमन सिखाता है। वह कहता है—गुस्से को दबाओ, कामवासना [illegible] और अहं को दबाओ। धर्म [illegible] दबाने की ही बात करता है [illegible]। धर्म ने कभी दमन नहीं सिखाया। उसके पास निर्जरा का [illegible]। जो भीतर संचित है उसको बाहर [illegible] रेचन करना कि भीतर में जो

१०. आत्मलघुतावृत्ति	हीनता भाव
११. उपार्जनवृत्ति	स्वामित्व भाव, अधिकार भाव
१२. रचनावृत्ति	सृजन भाव
१३. याचनावृत्ति	दुःख भाव
१४. हास्यवृत्ति	उल्लसित भाव

मोहनीय कर्म के विपाक	मूल संवेग
१. भय	भय
२. क्रोध	क्रोध
३. जुगुप्सा	जुगुप्सा भाव
४. स्त्रीवेद	कामुकता
५. पुरुषवेद	
६. नपुंसकवेद	
७. अभिमान	स्वाग्रहभाव, उत्कर्षभाव
८. लोभ	स्वामित्वभाव, अधिकारभाव
९. रति	उल्लसित भाव
१०. अरति	दुःख भाव

तात्कालिक उपचार : स्थायी उपचार

जागता है ? प्रियता है इसीलिए भय होता है। प्रिय वस्तु, जो प्राप्त है, वह चली न जाए, इस भय से व्यक्ति भयभीत रहता है। यदि किसी चेतन अचेतन के प्रति प्रियता न हो तो न क्रोध जागेगा और न भय सताएगा। जिनके पास धन है उन्हें बहुत भय रहता है क्योंकि धन के साथ उनकी प्रियता जुड़ी हुई है। शरीर चला न जाए, यह भय होता है क्योंकि शरीर के प्रति हमारी प्रियता है। आदमी सोता है। सोचता है—आंगन जमीन के बराबर है। रात को सांप न काट जाए। भय क्यों हुआ ? न वहां सांप है और न कुछ और। भय इसलिए आया कि शरीर बहुत प्रिय है। प्रियता ही सारे आवेगों की जननी है। शोक और हर्ष प्रियता के कारण होता है। प्रियता है बीज। जब वह बीज फलता है तब संवेग का पूरा वृक्ष लहलहा उठता है। फूल, पत्ते और फल आते हैं। सब कुछ होता है।

प्रियता के कारण अप्रियता बनती है। अप्रियता के कारण भी क्रोध जागता है। अप्रियता भय का हेतु भी बनता है। आदमी संत्रस्त रहता है कि अप्रिय का संयोग न हो जाए, अप्रिय घटना घटित न हो जाए। वायुयान की दुर्घटना कहीं होती है और भय कहीं व्याप्त हो जाता है।

एक चोर आया। संन्यासी का कंबल चुरा कर भाग गया। वह पकड़ा गया। जज ने पूछा—तुमने संन्यासी का क्या चुराया था ? चोर ने कहा—केवल एक कंबल ही मिला। संन्यासी ने कहा—यह झूठा है। इसने मेरा सब कुछ चुरा लिया है। इसने मेरा बिछौना, मेरा सिरहाना, मेरा ओढ़ने का वस्त्र सब कुछ चुरा लिया है। जज ने फिर चोर से पूछा—सच-सच बताओ। झूठ मत बोलो। चोर ने कहा—केवल कंबल ही चुराया था। संन्यासी ने पहेली को सुलझाते हुए कहा—चोर ठीक कहता है। मेरा यह एक कंबल ही सब कुछ है। सोता हूं तो बिछा लेता हूं। कभी सिरहाने दे देता हूं। ठंड लगती है तो ओढ़ लेता हूं। कभी दूसरी जरूरत नहीं होती है तो पैरों के नीचे रख देता हूं। यह कंबल ही मेरा सब कुछ है।

प्रियता ही सब कुछ है। किन्तु आदमी कभी भय का उपचार करता है और कभी क्रोध और ईर्ष्या को मिटाने का प्रयत्न करता है। कभी वह लोभ को और कभी घृणा को मिटाता है और जब कामुकता का शिकार होता है तो कामुकता का उपचार करता है। वासना को मिटाना चाहता है। किन्तु जब तक मूल कंबल—प्रियता को नहीं पकड़ लेता, तब तक सारा प्रयत्न व्यर्थ है, तात्कालिक है। मूल पर प्रहार किए बिना समाधि नहीं होगी, असमाधि के कोण उभरते रहेंगे। क्रोध को मिटाने का प्रयत्न किया तो भय जाग गया और भय को मिटाने का प्रयत्न किया तो घृणा जाग गई। क्रम चलता ही रहेगा।

राजस्थान में एक सुन्दर कहानी प्रचलित है। चोर जा रहा था। रास्ते में खेत आ गया। चोरी की भावना जाग उठी। उसने खेत में से तुंबे चुरा लिये। मालिक ने देख लिया। उसने पीछा किया। चोर दौड़ा। पानी की तलैया आ गई।

विकृतियां बाहर निकलती हैं। आप मानेंगे कि यह शारीरिक उपचार मात्र है। लम्बा श्वास लेने से ऑक्सीजन अधिक प्राप्त होगा और लम्बा श्वास छोड़ने से कार्वन का अधिक रेचन होगा। यह मात्र शारीरिक है।

यह कथन ठीक है। यदि कोरा दीर्घश्वास ही हो तो यह शारीरिक उपचार-मात्र होगा। किन्तु साधक दीर्घश्वास के साथ-साथ चित्त को निर्मल बनाने की भावना भी रखता है। उसका उद्देश्य होता है—चित्त को निर्मल बनाना, चित्त के विकारों को मिटाना। यह भावना अपना काम करती है और मूल प्रियता पर प्रहार करती है। दीर्घश्वास की प्रक्रिया में प्रियता की अनुभूति का भी साथ ही साथ रेचन होता है।

आप प्रयोग करें। गुस्सा आने लगे तब दो-चार दीर्घश्वास लें। पांच-दस दीर्घ-श्वास लें। क्रोध का आवेग शांत होने लगेगा। मन में अकस्मात् भय या वासना जाग जाए, तत्काल पांच-दस दीर्घश्वास लें। भय और वासना का आवेग कम हो जाएगा। आपको अनुभव होने लगेगा कि मन का भार कम हो रहा है, दबाव कम हो रहा है, समाधि प्राप्त हो रही है।

समाधि मानसिक समस्याओं का स्थायी समाधान है। यह लम्बे समय में पचने वाला होता है, जल्दी नहीं पचता। समाधि की सिद्धि समय-सापेक्ष होती है।

समस्या का मूल है—प्रियता और उसका स्थायी समाधान है—समाधि का जागरण।

बारह

नींव : ध्वज

हमारी दृष्टि कभी ऊपर जाती है और कभी नीचे, कभी पत्तों पर जाती है और कभी जड़ पर, कभी ध्वज पर जाती है और कभी नींव पर। जब केवल सुन्दरता की बात होती है या कोई सूचना प्राप्त करनी होती है तब ध्वज उसका माध्यम बनता है। मकान पर ध्वज लहराता है, पता लग जाता है कि यह किसका है? ध्वज सुन्दर भी लगता है। किन्तु जब तीन मंजिले मकान को सात मंजिला बनाना होता है तब दृष्टि ध्वज की ओर नहीं जाती, वह नींव को देखती है कि नींव मजबूत है या नहीं? वह सात मंजिलों के भार को झेलने में सक्षम है या नहीं? यदि नींव मजबूत है तो उस पर कितनी ही मंजिलें खड़ी की जा सकती हैं। उस समय ध्वज नहीं देखा जाता और यदि कोई सुन्दर ध्वज के आधार पर मंजिलें चढ़ाना चाहे तो वह निरा मूर्ख होगा।

प्रत्येक दृष्टि का अपना उपयोग है, अपना मूल्य है। ध्वज का अपना मूल्य है और नींव का अपना मूल्य है।

व्यक्ति जीवन का निर्माण करना चाहता है। इसके लिए उसे आधार पर दृष्टिपात करना होगा। यदि जीवन की नींव सुदृढ़ है तो उस पर अनेक मंजिलें खड़ी की जा सकती हैं। जो व्यक्ति अपने जीवन की नींव को देखे बिना निर्माण प्रारम्भ कर देता है, वह पछताता है। निर्माण कभी पूरा हो नहीं सकता।

समाधि के पांच आधार

जीवन की समस्याओं और दुःखों से निपटने के लिए समाधि बहुत जरूरी है। किन्तु समाधि तब घटित होती है जब मूल आधार सुदृढ़ होता है। समाधि के मूल आधार क्या हैं?

समाधि का पहला आधार है—आत्मा की अमरता। जो व्यक्ति अपने आपको इस शरीर की निष्पत्तिमात्र मानता है—मेरा अस्तित्व, मेरा चैतन्य इस

समाधि का दूसरा आधार-सूत्र है—आनन्द मेरा स्वभाव है। वह आनन्द जो सहज और वस्तु-निरपेक्ष है। वह आनन्द जिसके लिए पदार्थ अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जिसके लिए मान-सम्मान अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जिसके लिए पूजा-प्रतिष्ठा अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जो सहज है, अकृत्रिम है। वह असीम आनन्द मेरा स्वभाव है। दुःख मेरा स्वभाव नहीं है, आनन्द मेरा स्वभाव है। शक्ति-हीनता मेरा स्वभाव नहीं है, शक्ति-संपन्नता मेरा स्वभाव है। अज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है, ज्ञान मेरा स्वभाव है। आनन्द, शक्ति और चेतना या ज्ञान—यह मेरा स्वभाव है। दुःख, अशक्ति और अज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है। मैं दुःख का, दुर्बलता का और अज्ञान का या अंधकार का अनुभव करता हूं—यह मेरा अपना भाव नहीं है, आरोपित या थोपा हुआ भाव है।

अज्ञान आरोपित है, स्वभाव नहीं है। व्यक्ति जैसे-जैसे आत्मज्ञान को उपलब्ध होता है, अपने अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हो जाता है, उसे इस सचाई का स्पष्ट भान हो जाता है कि अज्ञान मेरा धर्म नहीं है, आरोपित धर्म है। जब तक व्यक्ति सचाई को नहीं जानता तब तक उसका दर्शन मिथ्या होता है। जब वह सचाई को जान जाता है तब उसका दर्शन सम्यक् होने लग जाता है। वह सम्यक् दर्शन बन जाता है। इसमें यथार्थ दर्शन होता है। मिथ्यादर्शन में होता कुछ है और जाना कुछ और ही जाता है।

एक वैज्ञानिक था। उसका नौकर अनपढ़ था। वैज्ञानिक अन्तरिक्ष के ग्रहों, नक्षत्रों और तारों की खोज करता था। वह कभी-कभी रात भर तारों को दूरवीक्षण यंत्र से देखता रहता। उनका अध्ययन करता। नौकर भी कभी-कभी रात भर बैठा रहता। एक दिन वैज्ञानिक तारों के अध्ययन में बहुत व्यस्त था। अचानक एक तारा टूटा। नौकर ने देख लिया। वह उछला और जोर से चिल्ला उठा—मेरा स्वामी कितना अचूक निशानेबाज है कि तारे को भी टूटना पड़ा।

अज्ञान या मिथ्यादर्शन के कारण होता कुछ है और आदमी पकड़ता कुछ और है, जानता कुछ और है।

समाधि का दूसरा आधार-सूत्र है—आनन्द मेरा स्वभाव है। वह आनन्द जो सहज और वस्तु-निरपेक्ष है। वह आनन्द जिसके लिए पदार्थ अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जिसके लिए मान-सम्मान अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जिसके लिए पूजा-प्रतिष्ठा अपेक्षित नहीं। वह आनन्द जो सहज है, अकृत्रिम है। वह असीम आनन्द मेरा स्वभाव है। दु:ख मेरा स्वभाव नहीं है, आनन्द मेरा स्वभाव है। शक्ति-हीनता मेरा स्वभाव नहीं है, शक्ति-संपन्नता मेरा स्वभाव है। अज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है, ज्ञान मेरा स्वभाव है। आनन्द, शक्ति और चेतना या ज्ञान—यह मेरा स्वभाव है। दु:ख, अशक्ति और अज्ञान मेरा स्वभाव नहीं है। मैं दु:ख का, दुर्बलता का और अज्ञान का या अंधकार का अनुभव करता हूं—यह मेरा अपना भाव नहीं है, आरोपित या थोपा हुआ भाव है।

अज्ञान आरोपित है, स्वभाव नहीं है। व्यक्ति जैसे-जैसे आत्मज्ञान को उपलब्ध होता है, अपने अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हो जाता है, उसे इस सचाई का स्पष्ट भान हो जाता है कि अज्ञान मेरा धर्म नहीं है, आरोपित धर्म है। जब तक व्यक्ति सचाई को नहीं जानता तब तक उसका दर्शन मिथ्या होता है। जब वह सचाई को जान जाता है तब उसका दर्शन सम्यक् होने लग जाता है। वह सम्यक् दर्शन बन जाता है। इसमें यथार्थ दर्शन होता है। मिथ्यादर्शन में होता कुछ है और जाना कुछ और ही जाता है।

एक वैज्ञानिक था। उसका नौकर अनपढ़ था। वैज्ञानिक अन्तरिक्ष के ग्रहों, नक्षत्रों और तारों की खोज करता था। वह कभी-कभी रात भर तारों को दूरवीक्षण यंत्र से देखता रहता। उनका अध्ययन करता। नौकर भी कभी-कभी रात भर बैठा रहता। एक दिन वैज्ञानिक तारों के अध्ययन में बहुत व्यस्त था। अचानक एक तारा टूटा। नौकर ने देख लिया। वह उछला और जोर से चिल्ला उठा--मेरा स्वामी कितना अचूक निशानेबाज है कि तारे को भी टूटना पड़ा।

अज्ञान या मिथ्यादर्शन के कारण होता कुछ है और आदमी पकड़ता कुछ और है, जानता कुछ और है।

जब तक दृष्टि सम्यग् नहीं होती समाधि की बात व्यर्थ है। समाधि के लिए ज्ञान, शक्ति, प्राणवत्ता और आनन्द का होना अनिवार्य है। सम्यग्-दर्शन होने पर इस सचाई का अनुभव हो जाता है कि सत्य और आनन्द मेरा स्वभाव है, चेतना और ज्ञान मेरा स्वभाव है। उस स्थिति में भ्रांतियां और दु:ख टूटने शुरू हो जाते हैं और असमाधि के सारे तत्त्व हटने लग जाते हैं। समाधि का आधार दृढ़ बनता जाता है।

समाधि का तीसरा आधार है—आत्मा की स्वतन्त्रता। इस अवस्था में व्यक्ति मानने लगता है कि मैं परिस्थिति से संचालित यंत्र नहीं हूं। मेरा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। मेरा अपना स्वतन्त्र कर्तृत्व है। जब व्यक्ति को अपनी

स्वतंत्रता का बोध होता है और 'मैं परिस्थिति का दास नहीं हूं'—इसका स्पष्ट भान हो जाता है तब उसमें हजार गुना साहस जाग जाता है। उसकी कर्मजा-शक्ति इतनी विकसित हो जाती है कि वह असंभव कार्य करने के लिए भी तैयार हो जाता है। जब तक अपनी स्वतंत्रता का बोध नहीं होता तब तक मन की दुर्बलता, मन का भय नष्ट नहीं होता। वह सदा डरा-डरा रहता है और लक्ष्य की ओर कदम बढ़ा नहीं सकता। वह समाधि की दिशा में कभी प्रस्थान नहीं कर सकता। यदि प्रस्थान कर भी लेता है तो आगे नहीं बढ़ सकता।

ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व की एक ऐतिहासिक घटना है। कोल जाति के लोगों ने क्षत्रियों पर आक्रमण करना चाहा। परस्पर संघर्ष चल रहा था। कोल जाति के लोग एकत्रित हुए। सेना बनाई। आगे प्रस्थान कर दिया। आगे जा रहे थे, पर मनों में क्षत्रियों का भय सता रहा था। क्षत्रियों के प्रहार उन्हें याद आने लगे। मन कमजोर हो गया। शरीर भी भय से कांपने लगा। प्रथम पंक्ति में चलने वाले सैनिकों ने सोचा—हम व्यर्थ ही मारे जाएंगे। वे पीछे खिसक गए। इसी प्रकार सारी सेना पीछे खिसकने लगी। वह अपने गांव आ पहुंची। न संग्राम प्रारम्भ हुआ था और न क्षत्रियों के प्रहार ही प्रारंभ हुए थे। उससे पूर्व ही वे कमजोर हो गए और घर आ पहुंचे।

जब तक आत्मा के अमरत्व का बोध नहीं होता, अपने स्वतंत्र कर्त्तृत्व का बोध नहीं होता, अपने अस्तित्व और चैतन्य का बोध नहीं होता तब तक वह समाधि की दिशा में प्रस्थान कर लेने पर भी संकल्प-विकल्प के जाल में फंसकर पीछे खिसक जाता है। समाधि की दिशा निर्विकल्प चेतना की दिशा है। समाधि की दिशा सारे विकल्पों और संकल्पों को समाप्त करने की दिशा है। वहां पहुंचने पर सारे संकल्प और विकल्प समाप्त, मन को भटकाने वाली सारी प्रेरणाएं समाप्त, सारी बाधाएं समाप्त हो जाती हैं।

जिस व्यक्ति को सचाई का अवबोध नहीं होता, वह समाधि की दिशा में प्रस्थान करते ही यह सोचने लगता है—मैं आगे क्यों जाऊं ? मैं ही आगे क्यों बढ़ूं ? मैं आंखें बन्द कर ध्यान में क्यों बैठूं ? आंखें देखने के लिए हैं। उन्हें बन्द रखने का प्रयोजन ही क्या है ? कान सुनने के लिए हैं, जीभ रसास्वादन के लिए है। फिर कानों का संयम और जीभ का संयम क्यों करूं ? इस प्रकार वह व्यक्ति अपने मार्ग से खिसकते-खिसकते मूल स्थान पर आ जाता है। इसलिए यह अनिवार्य है कि समाधि की साधना करने वाले प्रत्येक साधक में अपने अस्तित्व और कर्त्तृत्व के प्रति आस्था हो, उसका भान हो। जिसमें यह आस्था नहीं होती, जिसको इन सचाइयों का बोध नहीं होता, जिसको आत्मा की अमरता और स्वतन्त्रता का भान नहीं होता, जिसे चेतना की त्रैकालिकता का ज्ञान नहीं होता, वह समाधि की दिशा में प्रयाण नहीं कर सकता और यदि करता है तो वह शीघ्र

ही खिसक कर असमाधि के दलदल में फंस जाता है, वहां से फिर निकल नहीं पाता।

समाधि का चौथा आधार है—मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जिस व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि उसके भीतर असीम आनन्द है, वह व्यक्ति दुःख क्यों भोगेगा ? कैसे भोगेगा ? जिसको अपने असीम आनन्द का ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति दुःख भोग सकता है। जो व्यक्ति यह मानता है कि जैसी परिस्थिति होती है, वैसा ही उसे भुगतना पड़ता है। यदि कठिनाई आती है तो उसे दुःख भुगतना पड़ेगा, उलझन आती है तो उलझना पड़ेगा और समस्या आती है तो उसे भोगना पड़ेगा। किन्तु जिसे यह पता है कि उसके भीतर अनन्त आनन्द का महासागर हिलोरें ले रहा है, उसमें नयी चेतना जागती है और उसमें इस आस्था का निर्माण होता है कि मैं दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं। जिस अज्ञान के कारण मैं दुःख भोग रहा हूं, उस अज्ञान को मैं मिटा दूंगा और आनन्द के महासागर में गोते लगाऊंगा। वह कभी दुःखी नहीं हो सकता।

आशा : निराशा

जीवन के दो पक्ष हैं—एक है आशा का पक्ष और दूसरा है निराशा का पक्ष। एक है उल्लास और हर्ष का पक्ष और दूसरा है चिन्ता और विषाद का पक्ष एक है अभय का पक्ष और दूसरा है भय का पक्ष। मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह शुक्लपक्ष की ओर ध्यान कम देता है, सदा कृष्णपक्ष को ही देखता रहता है। मनुष्य की चेतना का निर्माण ही कुछ ऐसा हुआ है कि वह सदा कमी की ओर देखता है। वह चिन्ता, निराशा और भय को जल्दी पकड़ता है। आनन्द, आशा और अभय को वह जल्दी पकड़ नहीं पाता।

बीमारी मीने तक

कुछ ही दिनों में मैं स्वस्थ हो गया। डॉक्टरों को बहुत विस्मय हुआ।'

डॉक्टरों ने टी० वी० की दिशा में अनेक प्रयोग किए हैं। उन्होंने लिखा है—जो रोगी अपनी टी० वी० की बीमारी को सीने तक ही रखता है, वह खतरनाक स्थिति में जाकर भी जी लेता है। वह मरते-मरते बच जाता है। जो रोगी उस पर नियंत्रण नहीं कर पाते, जिनकी बीमारी मस्तिष्क तक पहुंच जाती है, वे चिन्ताओं से ग्रस्त होकर, बीमारी से नहीं, उस चिन्ता से शीघ्र ही मर जाते हैं। बीमारी को मस्तिष्क तक पहुंचाने का अर्थ है—चिन्ताओं से मस्तिष्क को भर देना, निरंतर उसकी चिन्ता से ग्रस्त रहना।

आनन्द के क्षण

प्रश्न एक रहता है कि व्यक्ति सदा उज्ज्वल पक्ष का चिन्तन करे, प्रकाश का अनुभव करे। वह अन्धकार में न भटके। वह सदा इन सूत्रों को याद रखे—'मैं दु ख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं। मैं रोग की शय्या पर तड़पते रहने के लिए नहीं जन्मा हूं।' जो व्यक्ति इन सूत्रों को साक्षात् जीने लगता है वह कभी विषाद से नहीं भरता, वह कभी दुःखी जीवन नहीं जीता। जो विषाद और दुःख के क्षण आते हैं, वे बीत जाते हैं, व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर पाते। वह व्यक्ति जैसे सुख के क्षणों में प्रसन्न और आनन्दित रहता था, वैसे ही भयंकर दुःख के क्षणों में भी प्रसन्न और आनन्दित रह जाता है। वह सभी कठिन समस्याओं, बाधाओं और दु खों को झेलने में सक्षम हो जाता है। वह दुःखों से तप्त नहीं होता, टूटता नहीं।

मृगचर्या

जैन मुनियों की एक श्रेणी है—जिनकल्प। जो मुनि जिनकल्प की साधना स्वीकार करते हैं, उन्हें अत्यन्त कठोर आचार का पालन करना पड़ता है। मृगापुत्र राजकुमार था। वह मुनि बनना चाहता था। उसने माता-पिता से आज्ञा मांगी। माता-पिता ने उसे प्रव्रजित होने से रोका। दोनों के बीच लंबा संवाद चला। तर्क-वितर्क हुए। माता पिता चाहते थे कि बच्चा हाथ से न निकल जाए। प्रव्रजित होने का अर्थ है—संसार से विमुख हो जाना। माता-पिता ऐसा नहीं चाहते थे। उन्होंने पुत्र से कहा—वत्स! मुनिचर्या बहुत कठोर होती है। मुनि बनने के बाद चिकित्सा नहीं करानी है। तुम्हें जीवन भर निश्चिकित्स्य रहना होगा। कितना कठोर कर्म है। शरीर रोगों का आलय। चिकित्सा के अभाव में शरीर का क्या नहीं हो जाएगा? कितने कष्ट सहने होंगे। सोचो! राजकुमार ने कहा—यह ठीक है। जंगल का एक हिरण बीमार हो जाता है तो उसकी चिकित्सा कौन करता है? कौन उसे दवाई देता है? कौन उसकी परिचर्या करता

है ? जब वह अस्वस्थ होता है तब छांह में बैठ जाता है और स्वस्थ होते ही खाने-पीने के लिए चल देता है। मैं भी इस मृगचर्या में रहूंगा। मुझे कोई परवाह नहीं है।'

दवा लेना विवशता

जिस व्यक्ति में इस आस्था का निर्माण हो जाता है, वह रोगों के भयंकर आक्रमणों से बच जाता है। भीतर की शक्तियों के साथ जिसका संपर्क हो जाता है, वह चिकित्सा के लिए इतना व्यग्र नहीं होता। दवा लेना मनुष्य की दुर्बलता है, विवशता है। जिसमें आस्था का पूरा निर्माण नहीं होता वह अधिक दवा लेता है। ऐसे लोग भी हैं जो इतनी दवा लेते हैं कि उनके शरीर का अणु-अणु औषधिमय बन जाता है। पता नहीं वे कैसे जीते हैं? शरीर में कितना विष जमा हो जाता है। विष विष की मांग करता रहता है। आदमी जहर से भरा हुआ जहर पीता चला जाता है।

अभी-अभी फूलकुमारी सेठिया अमेरिका की यात्रा कर लौटी हैं। उन्होंने बताया—अमेरिका में 'साइन्स क्रिश्चियन सोसायटी' है। उसके पचासों चर्च हैं और हजारों सदस्य। उस सोसायटी का एक नियम है कि कोई भी सदस्य दवाई नहीं ले सकता। चाहे बुखार हो या जुकाम, चाहे टी० बी० हो या हार्ट ट्रबल, चाहे हाथ टूट गया हो या पांव—वह दवा नहीं ले सकता, इलाज नहीं करा सकता। वह किसी भी प्रकार की चिकित्सा नहीं करा सकता। फूलबाई ने उस सोसायटी के सदस्य से पूछा—आप लोग बीमार तो होते ही होंगे। फिर आप अपनी बीमारी कैसे मिटाते हैं? उस सदस्य ने कहा—'God is love'—परमात्मा इतना उदार और शक्तिशाली है कि वह करुणा की वर्षा करता है और हमारी सारी बीमारियां मिट जाती हैं। हम रोगी में एक ऐसी आस्था जगाते हैं, ईश्वर के प्रति इतनी सघन आस्था का निर्माण करते हैं कि उसकी बीमारियां समाप्त हो जाती हैं।'

फेथ हीलिंग

वर्तमान में एक चिकित्सा-पद्धति प्रचलित है। उसका नाम है—फेथ हीलिंग। इसका अर्थ है—आस्था के द्वारा रोग-चिकित्सा। आस्था के आधार पर होने वाले लाभों का विवरण हमारे ग्रंथों में भरा पड़ा है। प्रश्न है आस्था घनीभूत कैसे हो? हमारा अपने अन्तर् के साथ संपर्क कैसे हो? जब तक अपने अस्तित्व के आन्तरिक स्रोतों के साथ संपर्क स्थापित नहीं होता तब तक हमें बाहर के भरोसे पर जीना पड़ता है और बाहरी साधनों का सहारा लेना पड़ता है। जब हमारी दृष्टि बदलती है, वह बाहर से मुड़कर भीतर में जाती है तब आन्तरिक स्रोतों के साथ संपर्क स्थापित होता है और व्यक्ति पूरे अस्तित्व के साथ जीने लग जाता है।

नहीं करते, कुछेक ही करते हैं। चिटियां और मधुमक्खियां संचय करती हैं, पर थोड़ा। शेष बहुत सारे पशु-पक्षी अपरिग्रही होते हैं, असंग्रही होते हैं। गाय, भैंस के सामने चारा डाला। जितना खाना था खा लिया, संचय नहीं। कहीं ग्रामान्तर जाना है तो घास साथ ले जाने की चिन्ता नहीं। यह है—असंग्रहवृत्ति। उससे अधिक तनाव होता है मैथुन का। उससे अधिक तनाव होता है भय का और सबसे अधिक तनाव होता है भोजन का। यह पशु में होने वाले तनावों का तारतम्य है।

मनुष्य में सबसे कम तनाव होता है भय का। उससे अधिक तनाव होता है भोजन का। उससे अधिक तनाव होता है परिग्रह का, संचय का और सबसे ज्यादा तनाव होता है कामवासना का, मैथुन का।

पशु में सबसे ज्यादा तनाव होता है—भोजन का और मनुष्य में सबसे ज्यादा तनाव होता है—कामवासना का।

जब तक मनुष्य में काम का तनाव नहीं मिटता तब तक समाधि की बात घटित नहीं होती। क्रोध, भय आदि का तनाव होता है और दो-चार-दस घंटों में मिट जाता है, उपशान्त हो जाता है परंतु कामवासना का तनाव, जाने-अनजाने, चौवीस घंटा भी रह जाता है। यह सबसे भयंकर तनाव है। इस एक तनाव के कारण और अनेक तनाव घटित होते हैं। आर्यरक्षित ने प्रज्ञापना सूत्र में इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

समाधि है भीतर

समाधि तक पहुंचने के सारे आलम्बन हमारे भीतर हैं। बाहर से कुछ भी नहीं लेना है। मैं जो बाहर से लेने की बात कह रहा हूं, वह सापेक्ष है। हमें सबका रेचन करना है। शरीरशास्त्रियों, आयुर्वेद के आचार्यों और मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के स्वभाव का जो वर्णन किया है वह मौलिक स्वभाव नहीं है। वह अर्जित स्वभाव है। उसका रेचन करना होगा। शरीर की सीमा में पनपने वाले स्वभाव मूल स्वभाव नहीं हैं। उनका रेचन करना होगा। उनका रेचन होने पर ही मूल स्वभाव के साथ संपर्क स्थापित होगा। उस 'संपर्क' की स्थापना के लिए 'पूरक' भी आवश्यक है। हम ध्यान की अवस्था में आएं, और पूरक करें। पूरक करते समय यह संकल्प करें—[illegible] आत्मा जिसका आनन्द अबाधित है, [illegible] है, जिसकी चेतना अनावृत हो चुकी [illegible] मैं श्वास के साथ भीतर ले जा [illegible] रहा हूं' इस संकल्प के साथ [illegible] इसका अभ्यास पुष्ट होने पर यह [illegible] आनन्द का प्रवाह प्रवाहित

इसके साथ जुड़ेगा। शक्ति है पर वह तब काम आएगी जब प्राण-शक्ति का प्रवाह इसके साथ जुड़ेगा। आनन्द है पर वह कार्यकर तब बनेगा जब चैतन्य का प्रवाह इसके साथ जुड़ेगा। शक्ति के साथ प्राण का प्रवाह जुड़े और आनन्द के स्रोतों के साथ चैतन्य का प्रवाह जुड़े इसके लिए श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा और चैतन्य-प्रेक्षा का उपाय काम में लेना होता है।

शरीर-प्रेक्षा से चेतना का साक्षात्कार

शरीर-प्रेक्षा की बात सुनकर आपको कुछ अटपटा-सा लगता था। आए थे ध्यान सीखने और हमें सिखाया जा रहा है शरीर को देखना। ललाट और भौंहों को देखो, आंख और कान को देखो। यह सब एक कांच में देखा जा सकता है। यह कार्य घर पर भी सम्पन्न हो सकता है, फिर इन शिविरों का प्रयोजन ही क्या है? दर्पण में शरीर को देखने वाले चमड़ी को देखते हैं, रंग-रूप को देखते हैं, आकृति को देखते हैं। बस, इतना ही देख पाते हैं। क्या कभी आपने चमड़ी के भीतर क्या है, देखा है? क्या प्राण के प्रवाह से होने वाले प्रकंपनों और स्पन्दनों को पकड़ा है? नहीं, इन्हें जानने का कौन प्रयत्न करे? प्राण के स्पन्दनों के नीचे जो चेतना की सक्रियता है, चेतना का प्रवाह है, आदमी कभी उस ओर ध्यान नहीं देता। हमारे शरीर का एक छोटा हिस्सा भी, ऑलपिन टिके उतना हिस्सा भी, प्राण से खाली नहीं है और जिस क्षण वह प्राणशून्य होता है, वह अवयव निर्जीव हो जाता है। शरीर-प्रेक्षा इसलिए नहीं की जाती कि रंग-रूप को देखा जाए, पर इसलिए की जाती है कि इस मांस और चमड़ी के पुतले के भीतर जो प्राण और चेतना का प्रवाह है, उससे संपर्क स्थापित हो। उसका साक्षात् अनुभव करने का एक उपाय है—शरीर-प्रेक्षा। यह समाधि तक पहुंचने का उपाय है। हम इस उपाय का आलम्बन लें।

तनाव

आदमी ही नहीं, पशु भी तनाव से भरा रहता है। बड़े तनाव आठ हैं। इनमें चार तनाव व्यापक हैं—आहार का तनाव, भय का तनाव, काम (मैथुन) का तनाव और परिग्रह का तनाव। सैद्धान्तिक भाषा में इन्हें आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा कहा जाता है। ये चार व्यापक तनाव हैं। ये सब प्राणियों में पाए जाते हैं। ये गहरे तनाव हैं।

तनाव का तारतम्य

पशु में भी ये तनाव पाए जाते हैं। उनमें परिग्रह का तनाव सबसे कम होता है। पशु संचय नहीं करता और यदि करता है तो बहुत थोड़ा। सारे पशु संचय

१३. प्रतिक्रिया से मुक्ति और समाधि

● चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥
[उत्तरा० ३२/२२]

● चक्षु का विषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

● रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं॥

● तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

● मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

● रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥
[उत्तरा० ३२/२९, ३०, ३१, ३२]

● जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरों की रूपवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

● वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्त दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

● असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रूप में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

● रूप में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी

हो रहा है।

हम रेचन और पूरक का अभ्यास भावना के साथ करें। हमारी आवृत शक्तियां अनावृत होंगी और समाधि का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा।

समाधि के अनेक उपाय हैं, सूत्र हैं। मैंने पांच मूलभूत सूत्रों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की है। इन पर चिन्तन-मनन हो। इनका साक्षात् प्रयोग हो, अनुभव हो। जिस क्षण हम अनुभव की सीमा में प्रवेश करेंगे तब इन्द्रिय, मन और बुद्धि की चेतना नीचे दब जाएगी, अनुभव की चेतना जाग जाएगी और समाधि की घटना अपने आप घटित हो जाएगी।

१३. प्रतिक्रिया से मुक्ति और समाधि

- चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
  तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

  [उत्तरा० ३२/२२]

- चक्षु का विषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

- रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
  अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥

- तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य।
  मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

- मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरन्ते।
  एवं अदत्ताणि समाययन्तो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

- रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?
  तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

  [उत्तरा० ३२/२९, ३०, ३१, ३२]

- जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असंतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभग्रस्त होकर दूसरों की रूपवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

- वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्त दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

- असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रूप में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

- रूप में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी

कहां से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख [अतृप्ति का दुःख] बना रहता है।

१. समाधि का आदि-बिन्दु है—संयम।
जीवन का सूत्र है सरसता।

२. हम सरसता का जीवन जीएं या संयम का जीवन जीएं ?

३. समता, निर्विचारता या संयम का क्षण ही सुख का क्षण।

४. रस का वर्जन नहीं, दुःख चक्र का वर्जन।

तेरह

दोहराना और जीना दो है

समाधि का आदि-बिन्दु है संयम और जीवन का सूत्र है सरसता। जब समाधि का प्रश्न आता है तब एक विकल्प उठता है कि संयम का रूखा जीवन जीएं या सरसता का जीवन जीएं? जब मनुष्य योनि मिली है, स्वस्थ शरीर, मस्तिष्क और स्वस्थ इन्द्रियां प्राप्त हैं तब सरस जीवन जीना समझदारी की बात है, रूखा या नीरस जीवन जीना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। नास्तिकों का यह सूत्र आनन्द-दायी है—जीवन का स्वाद लेकर जीओ। खूब खाओ-पीओ और मौज करो। आस्तिक भी इस बात में पीछे नहीं हैं। वे संयम की बात दोहराते हैं किन्तु संयम का जीवन नहीं जीते। जहां केवल दोहराना होता है वहां जीवन का कोई अनुभव नहीं होता। जिसे अपने जीवन का अनुभव है वह दोहराएगा नहीं। दोहराएगा वही जिसे अपना अनुभव नहीं है। तोता दोहराता है। जैसे रटाया वैसे ही दोहरा दिया। न कुछ जोड़ा और न कुछ तोड़ा। टेपरिकार्डर दोहराता है। उसमें जो आवाज भर दी, वैसे ही वह पुनः दोहरा देगा। जिस व्यक्ति को अपना थोड़ा-सा भी अनुभव है वह अनुभव करेगा, दोहराएगा नहीं।

समाधि है : चेतना की गहराई

समाधि की दो कठिनाइयां हैं। समाधि की चर्चा चेतना के सूक्ष्म स्तर पर की गई थी। वह चेतना की ऐसी भूमिका है जहां स्थूल दृष्टि या स्थूल जगत् से संबंध नहीं रहता। समाधि की चर्चा चेतना की गहराई में जाकर हुई थी, किन्तु सभी आदमी चेतना के उस स्थूल स्तर पर जी रहे हैं जिसका संबंध इस बाह्य जगत् के साथ और विषयों के साथ जुड़ा हुआ है। दोनों के दो भिन्न स्तर हैं। फिर सामंजस्य कैसे हो?

सार संदर्भहीन नहीं

समाधि की बात सुनने में अच्छी लगती हैं। मन की समाधि, चित्त की समाधि, मानसिक शान्ति, चैतसिक शान्ति —ये सब इसके फलित हैं। जी ललचाता है समाधि का जीवन जीने के लिए, क्योंकि इसमें सारे तनाव समाप्त हो जाते हैं, अशान्ति समाप्त हो जाती है। किन्तु जब व्यक्ति चेतन मन की भूमिका पर होता है तब उसका सम्पर्क बाह्य जगत् के साथ होता है और उसकी इन्द्रियां बाह्य विषयों को ग्रहण करने में सक्रिय होती हैं। सामने रूप आता है, रस और गंध आता है, शब्द आता है। आदमी इनमें उलझ जाता है और समाधि की बात बहुत पीछे रह जाती है। तब उसे लगने लगता है कि यह संसार ही सार है। इसमें जीवित रहना ही सरसता है। चेतन मन के स्तर पर शब्द, रूप, रस, गंध आदि की प्रिय अनुभूति ही सार लगती है। इसके अतिरिक्त सार कुछ भी नहीं लगता। मनुष्य चाहे अपने आन्तरिक भावों को छिपा कर कह दे—'धर्म और सत्य जीवन का सार है, अहिंसा और ब्रह्मचर्य जीवन का सार है।' चेतन मन के स्तर पर जो ये बातें कहेगा तो यह स्पष्ट है कि यह उसकी अपनी अनुभूति नहीं होगी, उधार ली हुई बात होगी। क्योंकि उस व्यक्ति ने ऐसा सुना है, विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में पढ़ा है। यह सार ज्ञानगत है, अनुभवगत नहीं है। उन व्यक्तियों और शास्त्रों के प्रति उसकी श्रद्धा है इसलिए वह इन बातों को दोहराता जाता है, किन्तु जैसे ही वह चेतन मन के स्तर पर एक पैर रखता है वह यह कहने लगता है—पैसा सार है, पदार्थ सार है, खाना-पीना सार है, शेष सारा असार है।

करनी-कथनी एक क्यों नहीं ?

लोग सोचते हैं—कथनी और करनी में अन्तर क्यों होता है ? क्या इस अन्तर को पाटा नहीं जा सकता ? अन्तर अवश्य ही होगा। क्योंकि आदमी दोहराता है उस बात को जो अवचेतन मन के स्तर पर या चेतना की गहरी परतों को उद्घाटित कर कही गई थी और जीता है चेतन मन के स्तर पर। तब कथनी और करनी में सामंजस्य कैसे होगा ?

बहुत सारे लोग इस उलझन में हैं कि उनकी कथनी और करनी एक क्यों नहीं है ? वे कहते हैं वैसा कर क्यों नहीं पाते ? कथनी और करनी की दूरी मिटनी चाहिए। राजनीति के लोग और सामाजिक लोग भी कहते हैं कि कथनी और करनी की दूरी मिटनी चाहिए। धर्म के मंच से भी यही उद्घोष सुना जाता है। सारे साधु-संन्यासी भी यही कहते हैं, किन्तु यह प्रश्न कभी समाहित नहीं होता। आज यह प्रश्न जैसा है वैसा ही हजार वर्ष पूर्व था। इसका समाधान नहीं हो सकता। जब तक हमारी सभ्यता, संस्कृति और जीवन का आधार स्थूल चेतना

रहेगी, चेतन मन की प्रवृत्तियां रहेंगी तब तक यह प्रश्न कभी समाहित नहीं होगा। इस प्रश्न को केवल समाधि की भूमिका पर ही समाहित किया जा सकता है। हमें हमारी सभ्यता, संस्कृति और जीवन के आधार को ही बदलना होगा और एक नयी पीढ़ी का निर्माण करना होगा, जो केवल चेतन मन के स्तर पर ही न जीए किन्तु अवचेतन मन के स्तर पर भी जीना सीखे। जिस दिन पूरी सभ्यता में अवचेतन मन के आधार पर जीने की बात आ जाएगी, आदमी सूक्ष्म मन के स्तर पर जीने लग जाएगा, उस दिन कथनी-करनी की दूरी अपने आप मिट जाएगी।

वीतराग : अवीतराग

हमारे जीवन की दो अवस्थाएं हैं—वीतराग अवस्था और अवीतराग अवस्था। जब तक आदमी अवीतराग अवस्था में जीता है, राग-द्वेष की अवस्था में जीता है, उसकी कथनी और करनी में अन्तर होगा। भगवान् महावीर ने कहा—अवीतराग या छद्मस्थ व्यक्ति का यह एक लक्षण है कि उसकी कथनी और करनी में अन्तर होगा। जो वीतराग होगा वह जैसा कहेगा, वैसा करेगा, जैसा करेगा, वैसा कहेगा। कोई अन्तर नहीं होगा। वीतराग होने का अर्थ है—चेतन की सूक्ष्म भूमिका में प्रवेश पा जाना। यह अतीन्द्रिय मन की भूमिका है।

अतीन्द्रिय चेतना : अनुभव चेतना

मनोविज्ञान ने चेतन मन और अवचेतन मन की चर्चा की है, किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने इनसे भी सूक्ष्म चेतना के स्तरों की चर्चा की है। अवचेतन मन से परे अतीन्द्रिय मन की भूमिका है। जब व्यक्ति अतीन्द्रिय मन की भूमिका पर चला जाता है तब उसके सारे विरोधाभास मिट जाते हैं। उसकी कथनी और करनी में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। अतीन्द्रिय चेतना के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति दोहराता नहीं, स्वयं सत्य को जीता है, अनुभव करता है। वह यह कभी नहीं कहेगा कि अहिंसा इसलिए अच्छी है कि महावीर ने या बुद्ध ने उसकी गुण-गाथा गायी है, किन्तु यह अच्छी इसलिए है कि मैंने स्वयं उसका साक्षात् अनुभव किया है। वैसा व्यक्ति अपनी अनुभव की भाषा में बोलेगा, उधार की भाषा में नहीं। किन्तु जब तक व्यक्ति उस अतीन्द्रिय चेतना के स्तर तक नहीं पहुंचता तब तक वह दूसरों की भाषा की पुनरावृत्ति करता है और उसे दोहराता जाता है। दोहराने वाली चेतना कोई दूसरी है और करने वाली चेतना कोई दूसरी है तो फिर कैसे आशा की जा सकती है कि कथनी और करनी में एकता हो?

कथनी-करनी की दूरी

राजनीति के मंच पर तो कथनी और करनी का सामंजस्य हो ही नहीं सकता।

कुशल राजनीतिज्ञ वह है जो प्रातः एक बात कहे, मध्याह्न में दूसरी बात कहे और सायं तीसरी बात कहे और फिर यह समझा दे कि मैंने जो सुबह कहा था वह भी सच था, मध्याह्न में कहा था वह भी सच था और सायं कहा था वह भी सच था और अब जो कुछ कहता हूं वह भी सच है। इस स्थिति में कथनी और करनी की एकता का स्वर कैसे प्रतिफलित होगा ?

सामाजिक स्तर पर भी यह एकता संभव नहीं है। जहां व्यक्ति में स्वार्थ होता है वहां एकता की बात नहीं हो सकती।

धर्म के मंच पर भी कथनी-करनी की एकता का स्वर संभव नहीं है, क्योंकि धर्म के अनुयायी और गुरु भी चेतन मन के स्तर पर जी रहे हैं। वे उस भूमिका का अतिक्रमण कर सूक्ष्म भूमिका पर जाने का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। जब तक यह प्रयोग नहीं होगा तब तक अवीतरागता बाधक बनी रहेगी और कथनी-करनी का भेद मिटेगा नहीं।

सामंजस्य-सूत्र—समाधि

कथनी-करनी की दूरी को मिटाने के लिए समाधि का अभ्यास तथा सूक्ष्म चेतना पर पहुंचने का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। समाधि का अर्थ है—उस चेतना में चला जाना जहां जाने पर बाह्य दशाएं अपने आप दूर हो जाती हैं, उनका संपर्क छूट जाता है। समाधि की अवस्था में हमारा संपर्क भीतरी दुनिया से हो जाता है, अपने अस्तित्व से हो जाता है।

आस्तिक : नास्तिक

आज के लोग आस्तिकता की बात करते हैं। किन्तु वास्तव में वे आस्तिक हैं कहां ? जो व्यक्ति सूक्ष्म भूमिका की चेतना पर नहीं जाता वह कभी आस्तिक नहीं हो सकता। जो व्यक्ति सूक्ष्म चेतना की भूमिका पर आरोहण नहीं करता वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। लोग स्वयं सोचें। अपने आपको आस्तिक मानने वाले कितने लोग यथार्थ में आस्तिक हैं ? अपने आपको धार्मिक मानने वाले कितने लोग वास्तव में धार्मिक हैं ? बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है। आस्तिक और नास्तिक तथा धार्मिक और अधार्मिक में आज अन्तर ही क्या है ? दोनों के बीच भेद-रेखा खींचना संभव नहीं है। दोनों चेतन मन के स्तर पर जी रहे हैं। एक आस्तिक भी चेतन मन की भूमिका पर जी रहा है और एक नास्तिक भी चेतन मन की भूमिका में जी रहा है। एक धार्मिक भी उसी भूमिका पर स्थित है और एक अधार्मिक भी उसी भूमिका पर स्थित है। फिर अंतर ही क्या है ? जो व्यक्ति चेतन मन की भूमिका पर जीता है, उसके लिए शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का मूल्य होगा, समाधि का मूल्य नहीं होगा। वह अशब्द, अरूप, अरस, अगंध और

अस्पर्श को कभी मूल्य नहीं देगा। उसे शब्दात्मक या विषयात्मक जगत् ही सरस लगेगा। फिर हम क्यों किसी को आस्तिक मानें और क्यों किसी को नास्तिक मानें? उनको आस्तिक या नास्तिक मानने का आधार क्या है? हमने स्थूल मन के आधार पर एक भेद-रेखा खींच ली—अमुक रेखाओं पर चलने वाला आस्तिक और अमुक रेखाओं पर चलने वाला नास्तिक। अमुक रेखाओं पर चलने वाला धार्मिक और अमुक रेखाओं पर चलने वाला अधार्मिक। इस कृत्रिम भेद-रेखा के कारण ही धर्म की तेजस्विता समाप्त हो गयी, आस्तिकता का मूल्य भी समाप्त हो गया।

धर्म का भ्रान्त आधार

आज जिस आधार पर धर्म को चलाया जा रहा है, वास्तव में वह धर्म का आधार बनता ही नहीं। चेतन मन या स्थूल मन के स्तर पर जीने वाले लोगों को हम यह कहें—विषय खराब हैं। सब दुःख देने वाले हैं। वे आदमी को उलझन में फंसाते हैं—तो वे इन बातों को सुन लेते हैं। सुनने में अच्छी भी लगती हैं। किन्तु जब वे ही व्यक्ति भोजन करने बैठते हैं, सामने अच्छे-अच्छे भोजन दीखते हैं, खाते हैं, स्वादिष्ट लगते हैं तब यह विरोधाभास पनपता है कि विषय खराब नहीं हैं। वे भोगने योग्य हैं। कहा जाता है—परिग्रह पाप का मूल है। पर ये सब बड़े-बड़े परिग्रही मंच पर बैठे हैं, इनका आदर-सम्मान होता है। जहां जाते हैं वहां इनकी बात मानी जाती है। इनकी पूजा-प्रतिष्ठा होती है, फिर कैसे मानें कि परिग्रह पाप का मूल है। मैंने परिग्रह छोड़ा तो आज दर-दर का भिखारी बना हुआ हूं। कोई पूछता तक नहीं। विचारों में संघर्ष होगा। वह मानेगा—मैंने परिग्रह को छोड़कर भयंकर भूल की है।

राजकुमारी अमृतकौर ने गांधीजी से कहा—मैं अपनी सारी संपत्ति को छोड़-कर सेवा-कार्य में लग जाना चाहती हूं। गांधीजी ने कहा—संपत्ति को मत छोड़ो। अपने पास रखकर सेवा में लगी रहो। उसने परामर्श मान लिया। वह कुछ वर्षों तक मिनिस्ट्री में रही। फिर जब वह वहां से मुक्त हो गयी तब सारी परिस्थितियां बदल गयीं। पूछ कम हो गयी। लोगों का घेराव कम हो गया। निकट के लोग भी दूर जाने लगे। अमृतकौर ने लिखा—बापू यदि संपत्ति रखने का परामर्श नहीं देते तो आज मैं भिखारिन बन जाती। मुझे दर-दर भटकना पड़ता। मैं सचमुच दुःखों से बच गयी। कम से कम रोटी की तो मुझे तकलीफ नहीं है।

आप मानेंगे कि बापू अपरिग्रह में विश्वास करते थे, फिर उन्होंने परिग्रह रखने का परामर्श कैसे दिया। व्यवहार की भूमिका पर जीने वाला व्यक्ति यही परामर्श दे सकता है। यह सही परामर्श है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा परामर्श हो नहीं सकता।

हम यदि अतीन्द्रिय जगत् की बात को, सूक्ष्म चेतना के स्तर पर घटित होने

वाली घटना को चेतन मन के स्तर पर जीने वाले व्यक्तियों को सिखा दें तो वे उलझन में फंस जाएंगे।

धर्म का मूल आधार : अनुभव की चेतना

धर्म का मूल आधार है—सूक्ष्म चेतना का स्तर। जब तक यह उद्घाटित नहीं होगा तब तक धर्म का यथार्थ आधार प्रतिष्ठित नहीं होगा और धर्म और कर्म की दूरी, धर्म और व्यवहार की दूरी मिट नहीं पाएगी। आदमी उपवास करता है और जब रात को भूख लगती है तब सारी रात तारे गिनते रहता है। मन में सोचता है—सूरज उगते ही यह खाऊंगा, वह खाऊंगा। यह बनवाऊंगा, वह बनवाऊंगा। वह इतनी कल्पनाएं कर लेता है जितनी कल्पना वह बिना उपवास के नहीं करता। फिर हम कैसे मानें कि उपवास करने में सुख है, खाने में सुख नहीं है? इस असंगति या विरोधाभास का निदान क्या है? चिकित्सा क्या है? अध्यात्म के आचार्यों ने इसकी चिकित्सा पद्धति को खोजा। वह है समाधि की चेतना का अवतरण। जब तक इस चेतना का अवतरण नहीं होता तब तक इन विरोधी प्रश्नों को नहीं सुलझाया जा सकता। समाधि इसलिए समाधान है कि चेतना की उस भूमिका में शब्द काम नहीं करते, अनुभव काम करने लग जाता है। भीतर सुख ही सुख है। बाहर दुःख ही दुःख है।

उपदेश की पकड़ क्यों नहीं ?

सन्तों ने कहा—कस्तूरी मृग के भीतर है, पास है, पर वह उसकी खोज अन्यत्र कर रहा है। सुख आदमी के भीतर है, पर वह उसकी खोज दूसरे स्थान पर कर रहा है। वह भटक रहा है सुख की खोज में। जिन्होंने सत्य का उद्घाटन किया उन्होंने सूक्ष्म चेतना के स्तर पर जाकर उस सत्य को कहा होगा, किन्तु सुनने वालों के लिए इसका कोई अर्थ ही नहीं है। क्योंकि सुनने वालों का स्तर वह नहीं है। वे सुनते समय इसको अच्छा कहेंगे, परन्तु व्यवहार-काल में उन्हें लगेगा कि ये काल्पनिक बातें हैं, माइथोलॉजी है। ये रीयल नहीं हैं, सत्य नहीं हैं। संत भी धुनी होते हैं, जो मन में आया कह देते हैं। वे वास्तविकता को कैसे जानेंगे? व्यवहार को छोड़कर वे पलायन कर गए हैं। उन्हें न कमाना पड़ता है और न कोई अन्य व्यवसाय करना पड़ता है। सारे दिन यों ही बैठे रहते हैं, जो मन में आया कह देते हैं। उनकी बातों में सार नहीं है। व्यवहार में रहने वाले हम लोग जानते हैं कि सचाई क्या है? हम संघर्षों से जूझते हैं, संघर्षों का जीवन जीते हैं। वास्तविक समस्याओं का सामना करते हैं, उनका समाधान निकालते हैं। हमें ज्ञात है, सुख क्या है, दुःख क्या है। धन के होने से क्या होता है और न होने से क्या होता है। प्रतिष्ठा और नाम कमाने के क्या-क्या लाभ हैं और उनके न होने से क्या-क्या

हानि होती है। प्रिय शब्दों का क्या असर होता है और अप्रिय शब्दों का क्या असर होता है। सरलता का जीवन जीने से क्या होता है और माया-कपट का जीवन जीने से क्या होता है। बच्चे को दुलारने, थपकी देने और मीठा बोलने से क्या होता है और उसको दुत्कारने और कठोर शब्द बोलने से क्या होता है। हम यह सब जानते हैं, क्योंकि हम वास्तविकता का जीवन जीते हैं। हम व्यवहार के धरातल पर खड़े हैं, अतः व्यवहार को जानते हैं और उसका पग-पग पर पालन करते हैं। सामाजिक धरातल पर जीने वाले व्यक्ति के लिए ये सारी सचाइयां हैं। इन्हें झुठलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उसके जीवन के प्रत्येक क्षण में ये तथ्य अनुभूत होते रहते हैं। उसके समक्ष संतों की वाणी या अन्यान्य उपदेश कहीं के कहीं रह जाते हैं। वह इन सत्यों को, जो संतों द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं, कभी वास्तविक मानकर आचरण नहीं कर सकता। समाधि की बात आकाश में त्रिशंकु की भांति लटक जाती है। उस व्यक्ति को कैसे समझाया जाए? क्या समाधि या मानसिक शान्ति के प्रश्न को यों ही छोड़ दिया जाए? क्या ध्यान और धर्म की बात आदमी को न बताई जाए? क्या आदमी को यों ही जीवन बिताने दिया जाए? क्या उसे विषयों के साथ जीने दें और जो उलझनें बढ़ती हैं, दुःख का अन्तहीन चक्र बनता है, क्या आदमी को उसमें ही फंसा रहने दें? क्या उसे उस विसियस सर्कल से निकालने का प्रयत्न न करें? ये सारे प्रश्न हैं।

समाधि : विज्ञान के संदर्भ में

आज के इस वैज्ञानिक युग ने समाधि को समझने के लिए अनेक सुविधाएं प्रस्तुत की हैं। आज से सौ-पचास वर्ष पहले समाधि की बात केवल शास्त्रों के आधार पर ही कही जा सकती थी। सुख बाहर नहीं है, भीतर है यह बात सिद्धान्त के आधार पर कही जा सकती थी। आज ऐसा नहीं है। आज प्रयोगों के आधार पर इन तथ्यों को प्रमाणित किया जा सकता है। वैज्ञानिकों ने ऐसे यंत्रों का आविष्कार किया है जिनसे मनुष्य के विभिन्न संवेदनों का अनुमापन किया जा सकता है और उसे बताया जा सकता है कि वर्तमान क्षण में कौन-से संवेदन सुप्त हैं और कौन-से संवेदन जागृत हैं। इन सारी बातों में विश्वास न करने वाले व्यक्ति को भी प्रमाण प्रस्तुत कर, विश्वास दिलाया जा सकता है।

एक प्रश्न आता है—संयम से सुख होता है या असंयम से सुख होता है? शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के भोग से सुख होता है या इनको छोड़कर मन की एकाग्रता और तन्मयता को साधने से सुख होता है? इस प्रश्न को हम वैज्ञानिक आधार पर समझने का प्रयत्न करें।

तरंगें ही सुख-दुःख

विज्ञान मानता है कि सुख-दुःख की अनुभूति विभिन्न प्रकार की तरंगों पर आधारित है। जब मस्तिष्क में अल्फा तरंगें उत्पन्न होती हैं तब सुख का अनुभव होता है। यह विज्ञान का सूत्र है। वह मानता है—पदार्थ के भोग में सुख नहीं होता। धन कमाने या खर्चने में सुख नहीं होता। आदमी को लगता है कि सुख मिल रहा है। विज्ञान इस कथन को यों ही स्वीकार नहीं करेगा। वह देखेगा कि आदमी के मस्तिष्क में किस घटना ने, किस परिस्थिति में कौन-सी तरंगें पैदा की हैं। उन सबके आधार पर वह कहेगा कि इस क्षण आदमी सुख का संवेदन कर रहा है और इस क्षण वह दुःख का संवेदन कर रहा है। जब व्यक्ति संयम, समाधि या ध्यान की स्थिति में होता है, जब उसकी एकाग्रता सघन बनती है तब उसके मस्तिष्क में अल्फा तरंगें लयबद्ध रूप में पैदा होनी शुरू हो जाती हैं। जब अल्फा तरंगें बढ़ती हैं तब व्यक्ति को इतने सुख का अनुभव होता है कि वह उसकी तुलना किसी पदार्थजन्य सुख से नहीं कर पाता। वह अनिर्वचनीय, अतुलनीय होता है। जब एकाग्रता की स्थिति टूटती है, अल्फा तरंगों की उत्पत्ति कम हो जाती है, उनकी लयबद्धता समाप्त हो जाती है तब बेटा, थेटा आदि तरंगें उभरती हैं और आदमी का मन अवसाद से भरने लग जाता है। मन में विषाद, चिन्ता, भय और बुरे विचार आते हैं और आदमी अत्यन्त दुःखी बन जाता है। हमारे भाव क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। दिन में न जाने कितनी बार, आदमी के मन में अच्छे विचार आते हैं, कल्याणकारी संकल्प उभरते हैं और कितनी बार बुरे विचार आते हैं, अकल्याणकारी भावना उभरती है। कितनी बार उसके मन में हिंसा, घृणा, ईर्ष्या, वासना आदि के भाव जागते हैं और कितनी बार वह प्रेम, अहिंसा और मैत्री के विचारों से लबालब भर जाता है। ऐसा क्यों होता है? केवल बाह्य कारण ही इस परिवर्तन के हेतु नहीं हैं। वे केवल इन भावों का उद्दीपन कर सकते हैं, किन्तु इन्हें उत्पन्न नहीं कर सकते। इनकी उत्पत्ति का स्रोत हमारे भीतर है। जब हमारे भीतर की क्रिया बदलती है, रसायन बदलते हैं,स्राव बदलते हैं और भीतरी विद्युत् का प्रवाह बदलता है, उनकी तरंगें बदलती हैं. तब ये सारे परिवर्तन घटित होते हैं। विभिन्न तरंगों के कारण ही ऐसा चक्र चलता रहता है। अध्यातम की भाषा में इसे दुःख का चक्र और विज्ञान की भाषा में इसे तरंगों का चक्र कहा जाता है। जिस व्यक्ति के मस्तिष्क में बीटा, थीटा आदि तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं, वह चाहे अरबपति हो या सारी सुख-सुविधाओं में झूलता हो, वह दुःख ही दुःख भोगता चला जाता है। रोकफेलर का जीवन इसका स्पष्ट उदाहरण है। वह विश्व का महान् धनपति था। धन से कभी सुख का अनुभव नहीं हुआ। वह अपने विशाल आर्थिक साम्राज्य को छोड़, एक वर्ष भर के लिए छुट्टियां मनाने अन्यत्र चला गया। वहां

उसे धनहीनता में भी जो सुख की अनुभूति हुई वह अनिर्वचनीय थी।

पदार्थ न अच्छा न बुरा

दुःख-चक्र की उत्पत्ति की मीमांसा करते हुए समाधि के प्रसंग में भगवान् महावीर ने एक सुन्दर दर्शन दिया—जीभ रस का संवेदन करती है। यह उसका विषय है। किन्तु वह प्रिय है या अप्रिय, यह जीभ नहीं जान सकती। यह उसका विषय भी नहीं है। वह यह जान सकती है कि यह मीठा है और कड़वा है। परन्तु यह अच्छा है या बुरा, यह वह नहीं जान सकती। क्योंकि पदार्थ न अच्छा होता है और न बुरा, न मनोज्ञ होता है और न अमनोज्ञ, न प्रिय होता है और न अप्रिय। आदमी चाहे पदार्थ को कैसा ही माने, पर वस्तु में यह विभाजन नहीं होता।

मन से जुड़े हुए हैं संवेदन-युगल

दर्शन के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण चर्चा हो रही है। उसका आधार है—अस्तित्ववादी दृष्टिकोण और उपयोगितावादी दृष्टिकोण। जंगल में फूल खिलता है। उसका अस्तित्व निर्विवाद है, पर उसकी उपयोगिता निर्विवाद नहीं है। अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से हम कहेंगे—जंगली फूल का अस्तित्व है, पर उपयोगिता उसकी कोई भी नहीं है। वह जंगल में खिलता है और जंगल में ही मुरझा जाता है, नष्ट हो जाता है। अपने आप खिला और अपने आप समाप्त हो गया। किन्तु नगर के उद्यान में खिलने वाले फूल का अस्तित्व भी है और उपयोगिता भी है। उसका अपना अस्तित्व है, उसकी अपनी उपयोगिता है। नगर के फूल का आदमी उपयोग करता है। वह उसे अच्छा-बुरा, प्रिय-अप्रिय, मनोज्ञ-अमनोज्ञ आदि बनाता है। ये सारे उपयोगिता के बिन्दु हैं। आंख फूल को देखती मात्र है, नाक उसके गन्ध का ग्रहण मात्र करती है और जीभ उसके रस का आस्वादन मात्र करती है। इन इन्द्रियों को कुछ भी ज्ञात नहीं होता कि यह प्रिय है या अप्रिय। अच्छा है या बुरा। यह सब ज्ञात होता है मन को। मन के साथ ये सारे संवेदन-युगल जुड़े हुए हैं। उसके साथ प्रियता-अप्रियता, मनोज्ञता-अमनोज्ञता, अच्छा-बुरा—ये सब जुड़े हुए होते हैं। ये संवेदन-युगल इन्द्रियों के साथ जुड़े हुए नहीं हैं, क्योंकि सुन्दर-असुन्दर रूप की मीमांसा आंख नहीं करती, मन करता है। [illegible] की मीमांसा कान नहीं करता, मन करता है। [illegible] जीभ नहीं करती, मन करता है। मृदु-कर्कश स्पर्श की [illegible] नहीं करती, मन करता है। सुगन्ध-दुर्गन्ध की मीमांसा नाक नहीं [illegible] करता है। इसीलिए जब मन के प्रतिकूल कुछ होता है तब वह [illegible] बुरा है। जब मन के अनुकूल कुछ होता है तब वह [illegible] अच्छा है।

एक प्रोफेसर अपने कमरे में बैठे थे। एक व्यक्ति आकर बोला—'धन्यवाद, आप जैसा परिश्रमी और योग्य प्रोफेसर मैंने नहीं देखा। आपके परिश्रम से ही मेरा लड़का उत्तीर्ण हो सका है। सौ-सौ साधुवाद !' इतने में दूसरा व्यक्ति आकर बोला—'आप जैसा निकम्मा और परिश्रम से जी चुराने वाला प्रोफेसर मैंने कहीं नहीं देखा। आपके कारण ही मेरा लड़का अनुत्तीर्ण हुआ।'

पहले व्यक्ति की बात सुनकर प्रोफेसर प्रसन्नता से झूम उठा और दूसरे व्यक्ति की बात सुनकर वह विषण्ण हो गया। यह सारा खेल मन का है। एक घटना मन के अनुकूल थी तो प्रसन्नता का प्रवाह चल पड़ा। दूसरी घटना मन के प्रतिकूल थी तो विषण्णता का वातावरण बन गया।

जब भोजन अच्छा बनता है तो पत्नी को सौ-सौ साधुवाद दिया जाता है। जब कभी भोजन स्वादिष्ट नहीं बनता या नहीं लगता तब परोसी हुई थाली को ठोकर भी मार दी जाती है। यह सारा मन का कार्य है। भोजन भोजन होता है। पदार्थ पदार्थ होता है। उसमें स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट का आरोपण हम करते हैं, मन करता है।

हम इस सचाई को अच्छी तरह से जान लें कि इन्द्रियों का कार्य केवल विषयों को ग्रहण करना मात्र है। जब मन जुड़ता है तब प्रियता या अप्रियता की बात भी जुड़ जाती है। प्रियता या अप्रियता न पदार्थ में है और न इन्द्रियों में है। वह मन के द्वारा आरोपित की जाती है। मन की चंचलता ही इसका कारण है। जब किसी के साथ प्रियता जुड़ती है तो उसका परिणाम होता है अतृप्ति, क्योंकि प्रियता का भोग अतृप्ति को ही बढ़ाता है। दुःख का चक्र इस प्रियता के साथ ही प्रारंभ होता है। जब इन्द्रियों से पदार्थ का संयोग होता है तब संवेदन जन्म लेता है। संवेदन संवेदन तक सीमित रहे तो कोई दुःख नहीं होता। किन्तु संवेदन के साथ जब प्रियता या अप्रियता जुड़ती है तब दुःख का चक्र बनता है। एक सर्कल या वलयाकार चक्र होता है कि उससे बाहर निकलना हर किसी के लिए सरल नहीं होता। पदार्थ-भोग से अतृप्ति होती है। अतृप्ति लोभ को पैदा करती है। प्रियता से अतृप्ति और अतृप्ति से लोभ। जब मन में लोभ जागता है तब चोरी की भावना जागती है। जब चोरी की वृत्ति उभरती है तब मायामृषा—कपट और झूठ की वृत्तियां जागृत होती हैं।

१४. समाधि के सोपान

- सोइन्दियणिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?
- सोइन्दियणिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसणिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

(उत्त० २९।६२)

- भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?
श्रोत्रेन्दिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह शब्द-संबंधी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।
- इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रस इन्दिय और स्पर्श इन्द्रिय के निग्रह से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष और मिथ्यादर्शन के विजय से... वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध और लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन को उपलब्ध होता है।

१. समाधि का अभ्यास कहां से शुरू करें ?
२. समाधि का पहला सोपान—प्रिय-अप्रिय संवेदन को कम करें।
३. मंद संवेदन प्रतिक्रिया पैदा नहीं करता—
अध्यात्म की भाषा में शब्द आदि विषय-हेतुक कर्म का बंध नहीं होता। मानसशास्त्र की भाषा में एक्शन सबकोन्शियस माइण्ड पर छाप डालता है। उससे प्रतिक्रिया होती है। संवेदन को नियन्त्रित रखकर कोई कर्म किया जाए तो वह प्रतिक्रिया पैदा करने वाली छाप नहीं डालता।
४. प्रतिक्रिया रहित संवेदन होने पर दुःख-चक्र टूट जाता है।
५. संवेदन मन्द होने पर दर्शन समाधि, मंदतर होने पर समता समाधि और क्षीण होने पर वीतराग समाधि फलित होती है।

एक प्रोफेसर अपने कमरे में बैठे थे। एक व्यक्ति आकर बोला—'धन्यवाद, आप जैसा परिश्रमी और योग्य प्रोफेसर मैंने नहीं देखा। आपके परिश्रम से ही मेरा लड़का उत्तीर्ण हो सका है। सौ-सौ साधुवाद !' इतने में दूसरा व्यक्ति आकर बोला—'आप जैसा निकम्मा और परिश्रम से जी चुराने वाला प्रोफेसर मैंने कहीं नहीं देखा। आपके कारण ही मेरा लड़का अनुत्तीर्ण हुआ।'

पहले व्यक्ति की बात सुनकर प्रोफेसर प्रसन्नता से झूम उठा और दूसरे व्यक्ति की बात सुनकर वह विषण्ण हो गया। यह सारा खेल मन का है। एक घटना मन के अनुकूल थी तो प्रसन्नता का प्रवाह चल पड़ा। दूसरी घटना मन के प्रतिकूल थी तो विषण्णता का वातावरण बन गया।

जब भोजन अच्छा बनता है तो पत्नी को सौ-सौ साधुवाद दिया जाता है। जब कभी भोजन स्वादिष्ट नहीं बनता या नहीं लगता तब परोसी हुई थाली को ठोकर भी मार दी जाती है। यह सारा मन का कार्य है। भोजन भोजन होता है। पदार्थ पदार्थ होता है। उसमें स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट का आरोपण हम करते हैं, मन करता है।

हम इस सचाई को अच्छी तरह से जान लें कि इन्द्रियों का कार्य केवल विषयों को ग्रहण करना मात्र है। जब मन जुड़ता है तब प्रियता या अप्रियता की बात भी जुड़ जाती है। प्रियता या अप्रियता न पदार्थ में है और न इन्द्रियों में है। वह मन के द्वारा आरोपित की जाती है। मन की चंचलता ही इसका कारण है। जब किसी के साथ प्रियता जुड़ती है तो उसका परिणाम होता है अतृप्ति, क्योंकि प्रियता का भोग अतृप्ति को ही बढ़ाता है। दुःख का चक्र इस प्रियता के साथ ही प्रारंभ होता है। जब इन्द्रियों से पदार्थ का संयोग होता है तब संवेदन जन्म लेता है। संवेदन संवेदन तक सीमित रहे तो कोई दुःख नहीं होता। किन्तु संवेदन के साथ जब प्रियता या अप्रियता जुड़ती है तब दुःख का चक्र बनता है। एक सर्कल या वलयाकार चक्र होता है कि उससे बाहर निकलना हर किसी के लिए सरल नहीं होता। पदार्थ-भोग से अतृप्ति होती है। अतृप्ति लोभ को पैदा करती है। प्रियता से अतृप्ति और अतृप्ति से लोभ। जब मन में लोभ जागता है तब चोरी की भावना जागती है। जब चोरी की वृत्ति उभरती है तब मायामृषा—कपट और झूठ की वृत्तियां जागृत होती हैं।

१४. समाधि के सोपान

- **सोइन्दियणिग्गहेणं भंते! जीवे किं जणयइ ?**
- **सोइन्दियणिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसणिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।**

(उत्त० २९।६२)

- भन्ते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?
  श्रोत्रेन्दिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेप का निग्रह करता है। वह शब्द-संबंधी राग-द्वेप के निमित्त से होने वाला कर्म-बंधन नहीं करता और पूर्वबद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।
- इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रस इन्दिय और स्पर्श इन्द्रिय के निग्रह से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेप और मिथ्यादर्शन के विजय से···वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध और लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन को उपलब्ध होता है।

१. समाधि का अभ्यास कहां से शुरू करें ?
२. समाधि का पहला सोपान—प्रिय-अप्रिय संवेदन को कम करें।
३. मंद संवेदन प्रतिक्रिया पैदा नहीं करता—
अध्यात्म की भापा में शब्द आदि विपय-हेतुक कर्म का बंध नहीं होता। मानसशास्त्र की भापा में एक्शन सबकोन्शियस माइण्ड पर छाप डालता है। उससे प्रतिक्रिया होती है। संवेदन को नियन्त्रित रखकर कोई कर्म किया जाए तो वह प्रतिक्रिया पैदा करने वाली छाप नहीं डालता।
४. प्रतिक्रिया रहित संवेदन होने पर दुःख-चक्र टूट जाता है।
५. संवेदन मन्द होने पर दर्शन समाधि, मंदतर होने पर समता समाधि और क्षीण होने पर वीतराग समाधि फलित होती है।

चौदह

गर्मी बहुत तेज है, अच्छी नहीं लगती। ठंडी हवा का एक झोंका आता है, मन उसके लिए तड़प उठता है। पंखा चलता है, मन को भाता है। बादल आता है, मन प्रसन्न हो जाता है। मनुष्य चाहता है बादल आए, धूप कम हो, गर्मी कम हो। वर्षा आ जाए, तब तो कहना ही क्या! आदमी गर्मी को नहीं चाहता। नहीं चाहना एक बात है, होना दूसरी बात है। होता है, आदमी उसे नहीं चाहता। दोनों के बीच पूरा सामंजस्य नहीं होता, कभी नहीं होता। यदि आदमी चाहे वही घटित हो तो यह दुनिया दुनिया नहीं रहेगी, कुछ और ही बन जाएगी। दुनिया की यह प्रकृति है कि जो चाहता है वह नहीं होता और जो नहीं चाहा जाता, वह हो जाता है। यह चाहने और होने में जो अन्तर है, दोनों के बीच जो दूरी है वही वास्तव में असमाधि है। असमाधि, दुःख और अशांति एक ही हैं। यही तो अशांति है कि आदमी जैसा चाहता है वैसा नहीं होता। यही तो असमाधि है कि आदमी चाहता कुछ है और होता कुछ है। यही दुःख है। जैसा चाहे वैसा हो जाए तो असमाधि और अशांति का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर ध्यान-साधना की अपेक्षा समाप्त हो जाती है। समाधि के लिए लंबे प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती।

मनुष्य शांति चाहता है। वह समस्या का समाधान चाहता है, समाधि चाहता है। वह चाहता है कि समस्या न आए और यदि आए तो वह समाहित हो जाए। वह [illegible] समस्या को नहीं चाहता और आ जाए तो उसको असमाहित रखना नहीं चाहता। किन्तु समस्याएं आती भी हैं और समस्याओं का समाधान नहीं भी होता। तब समाधान दूर चला जाता है तब बेचैनी बढ़ती है। असमाधि इतनी [illegible] कि समाधि-प्राप्ति का प्रयत्न तीव्र हो जाता है। भावना और तड़प भी [illegible] जाती है।

[illegible] समाधि [illegible] होना चाहता है। परंतु प्रश्न है कि समाधि का [illegible] किया जाए? समाधि का प्रारंभ-बिन्दु क्या है? उसका पहला [illegible] किया जाए? असमाधि से समाधि की ओर [illegible] आदि-बिन्दु क्या है?

यह एक विमर्शणीय प्रश्न है। अध्यात्म के आचार्यों ने अपने अनुभव के आधार पर इस प्रश्न को समाहित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा—समाधि का आदि बिन्दु है—संवेदन की तीव्रता को कम करना, संवेदन चाहे प्रियता का हो या अप्रियता का हो। संवेदन को कम करना बहुत कठिन होता है। आदमी प्रियता को भी नहीं छोड़ सकता और अप्रियता को भी नहीं छोड़ सकता। संवेदन को छोड़ना अच्छा है। अच्छा होना एक बात है और उस तक पहुंच जाना दूसरी बात है। आदर्श और लक्ष्य ऊंचे होते हैं। आदमी सदा ऊंचा आदर्श बनाता है। अच्छा साध्य निश्चित करता है, किन्तु उस तक पहुंच नहीं पाता। लक्ष्य तक पहुंचना सहज-सरल मार्ग नहीं है। उसमें सतत अभ्यास, निरंतरता और दृढ़ अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। यदि आदमी लक्ष्य की ओर एक पैर उठाते ही लक्ष्य तक पहुंच जाता तो आज कुछ भी असंभव नहीं रहता, सब कुछ संपादित कर दिया जाता। परंतु ऐसा कभी नहीं होता। लक्ष्य तक पहुंचने में मार्गगत अनेक बाधाएं, अनेक प्रतिरोध और खतरे आते हैं। उनको पार करना हर एक साधक के लिए सरल नहीं होता। लक्ष्य तक पहुंचना इतना सीधा रास्ता नहीं है। समाधि और मन की शांति अच्छी है। उसे प्राप्त करना चाहिए। यह प्रत्येक मनुष्य चाहता है। पर वह उसे प्राप्त नहीं कर पाता। अनेक रुकावटें आ जाती हैं। उसके सामने यह प्रश्न बना रहता है कि उन रुकावटों का पार कैसे पाया जाए? उनकी सीमाओं का अतिक्रमण कैसे किया जाए?

असमाधि का मूल कारण है—प्रियता और अप्रियता का संवेदन। संवेदन जितना तीव्र होता है असमाधि भी उतनी ही तीव्र होती है। समाधि की प्राप्ति के लिए हम इस संवेदन को कम करें। प्रियता और अप्रियता का सवेदन तब कम होता है जब आदमी को भीतर की झलक मिल जाती है। जब ममुष्य विषय के जगत् में जीता है, इन्द्रिय-संवेदनों को सुख मानता है तब तक उसे समाधि का अनुभव नहीं हो सकता। आदमी सदा प्रवृत्ति को देखता है, परिणाम को नहीं देखता। वह आपातभद्र होता है, परिणामभद्र नहीं होता। वह यही देखता है कि प्रवृत्ति का क्षण सुखदायक है या नहीं? प्रवृत्ति-काल में यदि प्रिय संवेदन होता है तो वह उसे अच्छा मानता है। परिणाम उसका चाहे कितना भी अनिष्ट हो, आदमी उस ओर ध्यान नहीं देता। आदमी उसे अच्छा मानता है जो प्रवृत्ति-काल में अच्छा हो। आदमी उसे बुरा मानता है जो प्रवृत्ति-काल में बुरा हो। इन्द्रिय-संवेदन में सुख मानने वाले व्यक्ति को यदि कहा जाए कि इन सवेदनों के परे भी कोई सुख है, आनन्द है, तो उसे विश्वास ही नहीं होगा। उसे कहा जाए कि ऐसी भी प्रवृत्तियां हैं जो परिणामभद्र होती हैं, जिनका परिणाम सुखद होता है, वह उसे स्वीकार तभी करेगा जब वे प्रवृत्तियां भी प्रवृत्ति-काल में सुख देने वाली हों।

मूल बात है, आदमी को भीतर का साक्षात् हुए बिना प्रियता और अप्रियता

का संवेदन कम नहीं हो सकता। यह तीव्रता तब मिलती है जब कोई दूसरी झलक मिल जाती है। नया आकर्षण हुए बिना, पुराना आकर्षण मिट नहीं सकता। इन्द्रियजन्य सुख का आकर्षण तब तक बना रहता है जब तक उसमें विशिष्ट आनन्द का आकर्षण मन में पैदा नहीं हो जाता। जब इन्द्रिय-विषयों के सेवन से सुख मिलता है तब आदमी वह उपदेश कैसे स्वीकार करेगा कि इन्द्रिय-विषय बुरे हैं, दुःख देने वाले हैं, विकार उत्पन्न करने वाले हैं। यह उपदेश कभी कारगर नहीं होगा। यह उपदेश तभी सफल हो सकता है जब व्यक्ति को अपने आन्तरिक सुख का स्पष्ट और साक्षात् अनुभव हो जाए। इस अनुभव का एक क्षण भी प्रियता और अप्रियता के मजबूत बंधन को ढीला कर देता है। तब संवेदन की तीव्रता मंद हो जाती है। संवेदन की तीव्रता का कम होना समाधि का पहला सोपान है, आदि-बिन्दु है।

जब समाधि का यह आदि-बिन्दु प्राप्त हो जाता है तब उसका परिणाम यह होता है कि आदमी में प्रतिक्रिया की शक्ति कम हो जाती है। दुःख-चक्र का अंतिम तत्त्व है—प्रतिक्रिया। तनाव होता है, तनाव से प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया से प्रियता-अप्रियता होती है, फिर अतृप्ति, चोरी, माया, झूठ—यह चक्र चलता रहता है। प्रतिक्रिया तब तक रहती है जब तक संवेदन की तीव्रता होती रहती है। जब संवेदनों पर नियंत्रण हो जाता है, उनकी तीव्रता समाप्त हो जाती है तब प्रतिक्रिया भी समाप्त हो जाती है। फिर प्रतिक्रिया नहीं होती।

एक व्यक्ति बीज बो रहा था। दूसरे ने पूछा—क्या बो रहे हो? उसने कहा—नहीं बताऊंगा। तब उसने कहा—आज नहीं बताओगे तो क्या! जब बीज उगेगा तब पता लग ही जाएगा कि वह क्या बीज है? वह व्यक्ति बोला—ऐसा बीज बोऊंगा जो उगेगा ही नहीं।

यदि हम ऐसा बीज बोएं जो उग न सके, जो प्रतिक्रिया न कर सके, तो कर्म होगा, प्रतिक्रिया नहीं होगी। उगे और प्रतिक्रिया न हो, ऐसा संभव नहीं है। उगने के साथ प्रतिक्रिया जुड़ी हुई है। प्रतिक्रिया से मूल बीज का पता लग जाता है। पेड़ प्रतिक्रिया है। पेड़ को देखकर बीज को जान लिया जाता है। आम के वृक्ष को देखकर पूछने की आवश्यकता नहीं होती कि यह किस बीज का परिणाम है, प्रतिक्रिया है?

भगवान् महावीर ने कहा—जो व्यक्ति श्रोत्र-इन्द्रिय का संयम करता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त से(शब्द के निमित्त से) होने वाले कर्मबंध को रोक देता है। शब्द के निमित्त से नया कर्मबंध नहीं होता। जो व्यक्ति जीभ का संयम करता है, वह रस के निमित्त से होने वाले कर्मबंध को रोक देता है।

आज के शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र भी इसी भाषा में बोल रहे हैं। मानसशास्त्री कहता है—कार्य जितना तीव्र होता है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी

ही तीव्र होती है। एक्शन जितना तीव्र होगा, रिएक्शन भी उतना ही तीव्र होगा। जब छाप गहरी होती है तब उसका प्रतिफलन या प्रतिक्रिया होती है। रिफ्लेक्शन होता है तो रिएक्शन होता है। जितनी प्रतिवर्तित क्रियाएं होती हैं, ये सारी गहरी छाप के कारण होती हैं। आदमी बाजार से गुजरता है। हजारों दृश्य देखता है। हजारों वस्तुएं देखता है। किन्तु सारी वस्तुओं की स्मृति उसे नहीं होती। वह कुछ-एक वस्तुओं के ही नाम गिना पाता है। जिन वस्तुओं पर उसने गहरा ध्यान दिया है, जिन वस्तुओं ने उसे गहरा प्रभावित किया है, उस पर गहरी छाप छोड़ी है, वे स्मृति-कोष्ठों में अंकित हो जाते हैं, शेष सारे दृश्य या वस्तुएं आंखों के सामने आई और चली गई।

तर्कशास्त्र में प्रमाण के तीन दोष माने गए हैं—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। संशय होता है तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। विपर्यय ज्ञान भी प्रमाण नहीं माना जाता। रण में पानी दीखता हैं, पर पास जाने पर कुछ भी नहीं। यह मृग-मरीचिका विपर्यय है। यह ज्ञान प्रमाण नहीं होता। अनध्यवसाय भी प्रमाण नहीं होता। अध्यवसाय ही प्रमाण होता है। अनध्यवसाय में सामने आने वाली वस्तु अपना गहरा प्रतिबिम्ब नहीं डालती, गहरी छाप नहीं डालती। जिसकी छाप गहरी नहीं होती उसकी स्मृति भी नहीं हो सकती।

अध्यात्म की भाषा में कहा गया है कि जिसका संवेदन तीव्र नहीं होता उससे नया कर्मबंध नहीं होता। जब कर्मबंध नहीं होता तो उसका विपाक भी नहीं होता। उसको भुगतना नहीं पड़ता।

यही बात शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र में प्राप्त होती है। तथ्यों में कोई अन्तर नहीं है, केवल भाषा का अन्तर है। अध्याम कर्मशास्त्र की भाषा मे बोलता है और यह शरीरशास्त्रीय, मानसशास्त्रीय भाषा है।

सचाई यह है कि क्रिया की गहरी छाप तब पड़ती है जब संवेदन तीव्र होता है। आदमी कर्म को सर्वथा नहीं छोड़ सकता। पर यह संभव है कि कर्म चले पर उसकी छाप न पड़े। जब ऐसा होता है तब समाधि का पहला सोपान प्राप्त हो जाता है। यही असमाधि पर पहला प्रहार है। प्रियता और अप्रियता के संवेदन पर नियंत्रण पाना—यह असमाधि की सघनता को मिटाने का पहला प्रयत्न है। प्रियता और अप्रियता को सर्वथा छोड़ देना असंभव कार्य है। क्योंकि इतना दीर्घ-कालीन संस्कार जिसे शरीर और मन प्रभावित करता है, इन्द्रियां प्रभावित करती हैं, सभी बाह्य उद्दीपन प्रभावित करते हैं, उस चक्र को सहसा कैसे तोड़ा जा सकता है? उसे सहसा तोड़ देना संभव नहीं लगता। किन्तु कभी कोई एक ऐसी घटना घटित होती है और यह बात फलित हो जाती है। हम ध्यान, कायोत्सर्ग और शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास इसीलिए करते हैं कि कोई ऐसी घटना घटित हो जाए जिससे शरीर से भिन्न अपने चैतन्य का बोध हो जाए, उसकी झलक मिल

का संवेदन कम नहीं हो सकता। यह तीव्रता तब मिलती है जब कोई दूसरी झलक मिल जाती है। नया आकर्षण हुए बिना, पुराना आकर्षण मिट नहीं सकता। इन्द्रियजन्य सुख का आकर्षण तब तक बना रहता है जब तक उसमें विशिष्ट आनन्द का आकर्षण मन में पैदा नहीं हो जाता। जब इन्द्रिय-विषयों के सेवन से सुख मिलता है तब आदमी वह उपदेश कैसे स्वीकार करेगा कि इन्द्रिय-विषय बुरे हैं, दुःख देने वाले हैं, विकार उत्पन्न करने वाले हैं। यह उपदेश कभी कारगर नहीं होगा। यह उपदेश तभी सफल हो सकता है जब व्यक्ति को अपने आन्तरिक सुख का स्पष्ट और साक्षात् अनुभव हो जाए। इस अनुभव का एक क्षण भी प्रियता और अप्रियता के मजबूत बंधन को ढीला कर देता है। तब संवेदन की तीव्रता मंद हो जाती है। संवेदन की तीव्रता का कम होना समाधि का पहला सोपान है, आदि-बिन्दु है।

जब समाधि का यह आदि-बिन्दु प्राप्त हो जाता है तब उसका परिणाम यह होता है कि आदमी में प्रतिक्रिया की शक्ति कम हो जाती है। दुःख-चक्र का अंतिम तत्त्व है—प्रतिक्रिया। तनाव होता है, तनाव से प्रतिक्रिया होती है और प्रतिक्रिया से प्रियता-अप्रियता होती है, फिर अतृप्ति, चोरी, माया, झूठ—यह चक्र चलता रहता है। प्रतिक्रिया तब तक रहती है जब तक संवेदन की तीव्रता होती रहती है। जब संवेदनों पर नियंत्रण हो जाता है, उनकी तीव्रता समाप्त हो जाती है तब प्रतिक्रिया भी समाप्त हो जाती है। फिर प्रतिक्रिया नहीं होती।

एक व्यक्ति बीज बो रहा था। दूसरे ने पूछा—क्या बो रहे हो? उसने कहा—नहीं बताऊंगा। तब उसने कहा—आज नहीं बताओगे तो क्या! जब बीज उगेगा तब पता लग ही जाएगा कि वह क्या बीज है? वह व्यक्ति बोला—ऐसा बीज बोऊंगा जो उगेगा ही नहीं।

यदि हम ऐसा बीज बोएं जो उग न सके, जो प्रतिक्रिया न कर सके, तो कर्म होगा, प्रतिक्रिया नहीं होगी। उगे और प्रतिक्रिया न हो, ऐसा संभव नहीं है। उगने के साथ प्रतिक्रिया जुड़ी हुई है। प्रतिक्रिया से मूल बीज का पता लग जाता है। पेड़ प्रतिक्रिया है। पेड़ को देखकर बीज को जान लिया जाता है। आम के वृक्ष को देखकर पूछने की आवश्यकता नहीं होती कि यह किस बीज का परिणाम है, प्रतिक्रिया है?

भगवान् महावीर ने कहा—जो व्यक्ति श्रोत्र-इन्द्रिय का संयम करता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय के निमित्त से (शब्द के निमित्त से) होने वाले कर्मबंध को रोक देता है। शब्द के निमित्त से नया कर्मबंध नहीं होता। जो व्यक्ति जीभ का संयम करता है, वह रस के निमित्त से होने वाले कर्मबंध को रोक देता है।

आज के शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र भी इसी भाषा में बोल रहे हैं। मानसशास्त्री कहता है—कार्य जितना तीव्र होता है, उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी

तीव्र होती है। एक्शन जितना तीव्र होगा, रिएक्शन भी उतना ही तीव्र होगा।
छाप गहरी होती है तब उसका प्रतिफलन या प्रतिक्रिया होती है। रिफ्लेक्शन
ता है तो रिएक्शन होता है। जितनी प्रतिवर्तित क्रियाएं होती हैं, ये सारी गहरी
प के कारण होती हैं। आदमी बाजार से गुजरता है। हजारों दृश्य देखता है।
ारों वस्तुएं देखता है। किन्तु सारी वस्तुओं की स्मृति उसे नहीं होती। वह कुछ-
क वस्तुओं के ही नाम गिना पाता है। जिन वस्तुओं पर उसने गहरा ध्यान दिया
, जिन वस्तुओं ने उसे गहरा प्रभावित किया है, उस पर गहरी छाप छोड़ी है, वे
मृति-कोष्ठों में अंकित हो जाते हैं, शेष सारे दृश्य या वस्तुएं आंखों के सामने आईं
ओर चली गई।

तर्कशास्त्र में प्रमाण के तीन दोष माने गए हैं—संशय, विपर्यय और अनध्यव-
साय। संशय होता है तो ज्ञान प्रमाण नहीं होता। विपर्यय ज्ञान भी प्रमाण नहीं
माना जाता। रण में पानी दीखता है, पर पास जाने पर कुछ भी नहीं। यह मृग-
मरीचिका विपर्यय है। यह ज्ञान प्रमाण नहीं होता। अनध्यवसाय भी प्रमाण नहीं
होता। अध्यवसाय ही प्रमाण होता है। अनध्यवसाय में सामने आने वाली वस्तु
अपना गहरा प्रतिबिम्ब नहीं डालती, गहरी छाप नहीं डालती। जिसकी छाप
गहरी नहीं होती उसकी स्मृति भी नहीं हो सकती।

अध्यात्म की भाषा में कहा गया है कि जिसका संवेदन तीव्र नहीं होता उससे
नया कर्मबंध नहीं होता। जब कर्मबंध नहीं होता तो उसका विपाक भी नहीं
होता। उसको भुगतना नहीं पड़ता।

यही बात शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र में प्राप्त होती है। तथ्यों में कोई
अन्तर नहीं है, केवल भाषा का अन्तर है। अध्याम कर्मशास्त्र की भाषा में बोलता
है और यह शरीरशास्त्रीय, मानसशास्त्रीय भाषा है।

सचाई यह है कि क्रिया की गहरी छाप तब पड़ती है जब संवेदन तीव्र होता
है। आदमी कर्म को सर्वथा नहीं छोड़ सकता। पर यह संभव है कि कर्म चले पर
उसकी छाप न पड़े। जब ऐसा होता है तब समाधि का पहला सोपान प्राप्त हो
जाता है। यही असमाधि पर पहला प्रहार है। प्रियता और अप्रियता के संवेदन
पर नियंत्रण पाना—यह असमाधि की सघनता को मिटाने का पहला प्रयत्न है।
प्रियता और अप्रियता को सर्वथा छोड़ देना असंभव कार्य है। क्योंकि इतना दीर्घ-
कालीन संस्कार जिसे शरीर और मन प्रभावित करता है, इन्द्रियां प्रभावित करती
हैं, सभी बाह्य उद्दीपन प्रभावित करते हैं, उस चक्र को सहसा कैसे तोड़ा जा
सकता है? उसे सहसा तोड़ देना संभव नहीं लगता। किन्तु कभी कोई एक ऐसी
घटना घटित होती है और वह बात फलित हो जाती है। हम ध्यान, कायोत्सर्ग
और शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास इसीलिए करते हैं कि कोई ऐसी घटना घटित हो
जाए जिससे शरीर से भिन्न अपने चैतन्य का बोध हो जाए, उसकी झलक मिल

जाए। शरीर को देखते-देखते प्राण का प्रवाह पकड़ में आ जाए। प्राण के प्रवाह को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर के प्रकंपन पकड़ में आ जाएं और उनसे आगे सूक्ष्मतम शरीर—कर्म शरीर के प्रकंपन अनुभव में आने लग जाएं। चैतन्य के स्पन्दन भी अज्ञात न रहें। जब आनन्द का वह महास्रोत हमारी पकड़ में आ जाता है तब बाहर का जगत् फीका लगने लग जाता है। हमारी समस्याएं इसीलिए उभरती हैं कि हम बाह्य जगत् में अधिक जीते हैं, आंतरिक जगत् में जीने का प्रयास नहीं करते। जब तक भीतर के दरवाजे नहीं खुलते तब तक हमारी अपार संपदा का हमें भान नहीं होता। भीतर के शब्द कितने सुखद हैं, भीतर की गंध कितनी मीठी है, भीतर का रूप कितना मोहक है, इनका हमें तब तक अनुभव नहीं होता जब तक हम भीतरी दरवाजों और खिड़कियों को नहीं खोल देते। जब तक भीतर के शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श और आनन्द का अनुभव नहीं होता तब तक आदमी कितना ही पढ़े, ज्ञान करे, सुने, उसका आकर्षण बाह्य जगत् में ही होगा। इस आकर्षण को नहीं तोड़ा जा सकता। धर्म का कितना ही उपदेश सुनें, धर्म के क्रियाकांडों की उपासना करें, किन्तु जब तक भीतर का जागरण घटित नहीं होगा, भीतर की झलक नहीं मिलेगी, तब तक आकर्षण बाहर ही जाएगा, भीतर नहीं। कान की बात कान तक पहुंचकर रह जाएगी और मस्तिष्क की बात मस्तिष्क के तंतुओं को झंकृत कर समाप्त हो जाएगी। वह भीतर तक नहीं पहुंच सकेगी। भीतर का साम्राज्य अनोखा है। उसका अपना सिद्धान्त है, नियम है, अनुभव है। उसकी व्याख्या और परिभाषा दूसरी है।

संन्यासी ने राजा से कहा—मुझे सोने की गंध आती है, इसलिए मैं राजमहल में नहीं जाऊंगा, क्योंकि वहां सर्वत्र सोना ही सोना है। राजा ने कहा—सोने में गंध होती ही नहीं, फिर आएगी कैसे? संन्यासी राजा को चमारवाड़े में ले गया। चमड़े की दुर्गन्ध से राजा का सिर फटने लगा। चमारों से पूछा—क्या तुम्हें कभी दुर्गन्ध का अनुभव होता है? उन्होंने कहा—महाराज! चमड़े की दुर्गन्ध होती ही नहीं। संन्यासी ने कहा—राजन्! चमड़े के बीच रहने वाले को कभी बदबू नहीं सताती। इसी प्रकार सोने के मध्य में जीने वालों को सोने की गंध नहीं आती। चमड़े की गंध उसे आएगी जो चमड़े के बीच नहीं रहता। सोने की गंध उसे आएगी जो सोने के बीच नहीं रहता, सोने से दूर रहता है। जो सोने से दूर रहता है वही सोने की बुराई का अनुभव कर सकता है। जो सोने में रचा-पचा रहता है, वह सोने की बुराई का क्या अनुभव करेगा?

जो व्यक्ति भीतर के जगत् में प्रवेश नहीं करता, जो अपने चैतन्य का अनुभव नहीं करता, जो अपने भीतर विद्यमान आनन्द, शक्ति और ज्ञान का स्पर्श नहीं करता, उस व्यक्ति को कोई उपदेश बदल नहीं सकता। उस व्यक्ति के आकर्षण-बिंदु को कोई मिटा नहीं सकता। उस व्यक्ति का आकर्षण केन्द्र

बाह्य में है और रहेगा। कोई परिवर्तन नहीं आएगा, फिर चाहे उसके लिए कितने ही नियम, सिद्धान्त और उपदेश बना दें। आज का यह ज्वलन्त प्रश्न है कि आज धर्म के द्वारा वह घटित नहीं हो रहा है, जो होना चाहिए। आज इतने धर्म और धर्मगुरु हैं, इतने शास्त्र और इतने धर्मस्थान हैं—फिर भी धर्म का जो परिणाम आना चाहिए वह नहीं आ रहा है, किन्तु सब कुछ विपरीत हो रहा है, यह क्यों?

तीन प्रकार की चेतनाएं हैं—इन्द्रिय-चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक-चेतना। आदमी इन तीनों को काम में लेता है और इन तीनों पर पूरा विश्वास करता है। अनुभव की बात यह है कि ये तीनों चेतनाएं मनुष्य को उलझाती हैं, सुलझाती नहीं। इन्द्रिय-चेतना का जागरण होने पर आसक्ति का जागरण होता है। वैराग्य दब जाता है। आदमी इन्द्रिय-चेतना को काम में ले पर उस पर भरोसा न करे। यही बात मनश्चेतना के विषय में है। मन चपल है, नटखट है। उस पर पूरा भरोसा करने पर वह धोखा दे जाता है। आदमी बुद्धि की चेतना में काम करता है। वह तर्क का व्यवहार करता है पर उसे यह मान लेना चाहिए कि तर्क भीतर तक नहीं पहुंचता। वह आदमी को उलझा देता है। यह इस दुनिया का सबसे बड़ा सक्षम शस्त्र है। इससे बड़े-बड़े पहाड़ काटे जा सकते हैं। तर्क हर बात को काट सकता है, फिर वह बात चाहे किसी के द्वारा ही क्यों न कही गई हो। ऐसे बौद्धिक प्रश्न सामने आते हैं जहां हार-जीत का प्रश्न होता है। बुद्धि आखिर बुद्धि है। जो बुद्धि के व्यायाम में निपुण है वह जीत जाता है और जो उस क्षेत्र में निपुण नहीं है, वह हार जाता है। आदमी व्यवहार की दुनिया में बुद्धि के सहारे जीत सकता है, पर वह सचाई तक नहीं पहुंच सकता।

पंडित रघुनन्दन शर्मा अलीगढ़ के निवासी थे। वे संस्कृत के प्रकांड पंडित और बेजोड़ आशुकवि थे। एक बार वे रेल में यात्रा कर रहे थे। साथ में उनका एक शिष्य था। पास में एक पंडित बैठा था। शिष्य ने उस पंडित से कुछ लिखा—श्रीमशाना कि नामधेयं? आपका नाम क्या है? उस पंडित का अहं फुफकार उठा। उसने कहा—'श्रीमशाना' यह अशुद्ध प्रयोग कैसे किया? पंडित रघुनन्दनजी ने शिष्य की बात को सहारा देते हुए कहा—यह प्रयोग अशुद्ध नहीं है, शुद्ध है। इसका विग्रह इस प्रकार किया जा सकता है—श्रीः मत्स्यः [illegible] श्रीमद, तेषां श्रीमशाना। पंडित चुप हो गया।

यह तर्क और बुद्धि के आगे [illegible] की [illegible] और [illegible] जाता है। मेरे जीवन में भी ऐसे अनेक प्रसंग आए हैं [illegible], दूसरों के अशुद्ध प्रयोगों को शुद्ध प्रमाणित किया है और [illegible] और [illegible] प्रयोगों के द्वारा। पर मैं बुद्धि और तर्क पर पूरा भरोसा कभी नहीं करता।

हमारी चेतना की पहली भूमिका है—इन्द्रिय-चेतना। दूसरी भूमिका है

मनश्चेतना और तीसरी मंजिल है बौद्धिक-चेतना। हमें सचाई तक पहुंचना है, धर्म या आन्तरिक संपदा तक पहुंचना है तो इन तीनों भूमिकाओं से परे जाकर चौथी भूमिका को हस्तगत करना होगा। वह चौथी भूमिका है—अनुभव-चेतना।

आज धर्म इसीलिए निष्प्राण-सा हो रहा है कि उसकी आराधना अनुभव-चेतना के स्तर पर नहीं की जा रही है। वह केवल मनश्चेतना और बौद्धिक-चेतना के आधार पर की जा रही है। तर्क तर्क को उत्पन्न करता है। वह समस्या पैदा करता है, कभी समाधान नहीं देता।

जब अनुभव की चेतना जागती है तब बुद्धि, जो कभी बहुत शक्तिशाली लग रही थी, शक्तिहीन लगने लगती है। मन भी कमजोर लगने लगता है। फिर विश्वास टूटता है और फिर इन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा जो प्राप्त होता है उसमें कुछ सार नहीं लगता। अनुभव की चेतना नहीं जागती तब आदमी आंख, कान, जीभ द्वारा प्राप्त संवेदनों को ही सारभूत मानता है। उसकी दृढ़ धारणा बन जाती है कि इन्द्रियों द्वारा जो उपलब्ध होता है वही सार है। मन के द्वारा जो उपलब्ध होता है वही सार है। मन के तीन कार्य हैं—स्मृति, कल्पना और चिन्तन। इनके द्वारा प्राप्त होता है वही सार है। उसे भीतर में कोई सार नजर नहीं आता। जब आदमी इन सब भूमिकाओं को पार कर ऊपर चढ़ जाता है तब उसे लगता है कि जिसे वह सार मान रहा था, वे वास्तव में सारहीन हैं और जो सार है वह भीतर में पड़ा है। यह जागरण दो प्रकार से हो सकता है—स्वभाव से या अभ्यास से—'निसर्गाद् वा अधिगमाद् वा।' अचानक भी ऐसी घटना घटित हो सकती है, अचानक कोई संवेग दर्शन हो सकता है कि व्यक्ति में अनुभव की चेतना जागृत हो जाती है। अभ्यास के द्वारा भी इसका जागरण किया जा सकता है। किसी प्रबुद्ध व्यक्ति से सुनकर या स्वयं में विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि होने पर भी यह जागरण हो सकता है। जब यह जागरण होता है तब बाह्य सीमाओं का अतिक्रमण कर साधक आन्तरिक सीमा में प्रवेश पा जाता है।

आदमी अनुभव की मंजिल पर चढ़ नहीं पाता और कहता है इन्द्रियों में कोई सार नहीं है। इन्द्रियां हंसती हैं कि आदमी कितना पागल है। वह हमें भोगता जा रहा है और कहता भी जा रहा है कि इनमें कोई सार नहीं है। आदमी कहता है—मन भटकाता है, मन दुःख देता है। मन सोचता है—कितना मूर्ख है आदमी कि वह मुझे भोगता भी जा रहा है और कोसता भी जा रहा है।

लोग पूछते हैं—हम किस मन को चंचल कहें और किस मन को स्थिर कहें? किस मन के द्वारा हम दुःख भोग रहे हैं और किस मन के द्वारा हम दुःख को काट रहे हैं? क्या मन भी दो हैं? एक दुःख देने वाला और दूसरा दुःख काटने वाला। मन सोचता है—मेरी छाया में पलने-घूमने वाला आदमी मेरी छाया को ही बुरा-भला कह रहा है। बुद्धि भी यही सोचती है कि आदमी मेरे से खेल खेल रहा है

और मुझे ही गालियां दे रहा है।

जो व्यक्ति इन्द्रिय-चेतना, मनश्चेतना और बौद्धिक-चेतना की परिधि में जीता है, उसे इन्द्रिय, मन और बुद्धि को कोसने का कोई अधिकार ही नहीं है और उनके उपभोग में सार नहीं है, यह कहना सत-प्रतिशत झूठ है। इन्हें असार कहने का अधिकार तब प्राप्त होता है जब साधक इन तीनों चेतनाओं से ऊपर उठकर अनुभव की चेतना में जीने लगता है।

अनुभव की चेतना समाधि का पहला सोपान है। यहां पहुंचने पर प्रियता और अप्रियता का संवेदन समाप्त हो जाता है या कम हो जाता है। इस स्थिति में जीवन के सारे व्यवहार, प्रवृत्तियां और कर्म प्रतिक्रियाशून्य हो जाते हैं। काम चलता है, पर प्रतिक्रिया नहीं होती। पैर चलता है, पर उसका पदचिह्न नहीं बनता। रोटी खाते हैं, शेष कुछ नहीं बनता। काम हो और शेष कुछ भी न रहे, यह है प्रतिक्रियाशून्य जीवन। यही दुःख-चक्र को तोड़ने वाला है। यह तब उपलब्ध होता है जब व्यक्ति चौथी मंजिल पर आरोहण कर लेता है। धर्म की सारी व्याख्या, परिभाषा और धर्म का सारा प्रतिपादन अनुभव की चेतना से प्रवेश कर किया गया है। धर्म का बोध और धर्म की समझ उन्हीं लोगों को हुई है जिन्होंने अपना पैर अनुभव की चेतना में जमा दिया। यदि ऐसा नहीं होता तो वे न धर्म की बात कहने का अधिकार पाते और न इन्द्रिय-विषयों को असार कहने का अधिकार पाते। यह तभी घटित होता है जब समाधि का पहला सोपान हमारे पैरों के नीचे आ जाता है।

१५. संयम और समाधि

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ? तवेणं वोदाणं जणयइ।

भगवन् ! तपस्या से जीव क्या प्राप्त करता है ? तपस्या से व्यक्ति व्यवदान—पूर्व-संचित कर्मों को क्षीण कर विशुद्धि को प्राप्त होता है।

१. दस विधा समाधि पण्णत्ता, तं जहा—

- पाणातिवायवेरमणे
- मुसावायवेरमणे
- अदिण्णादाणवेरमणे
- मेहुणवेरमणे
- परिग्गहवेरमणे
- इरिया समिति
- भासा समिति
- एसणा समिति
- आयाणभंडमत्त णिक्खेवणा समिति
- उच्चार पासवण-खेल-सिंघाणग-जल्ल-पारिट्ठावणिया समिति

- समाधि के दस प्रकार हैं—
- प्राणातिपात-विरमण
- मृपावाद-विरमण
- अदत्तादान-विरमण
- मैथुन-विरमण
- परिग्रह-विरमण
- ईर्या समिति
- भाषा समिति
- एपणा समिति
- आदानभण्ड-अमत्र-निक्षेप समिति
- उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाण-जल्ल-पारिष्ठापनिका समिति

- समाधि के चार साधन—

१. वैराग्य
२. एकाग्रता
३. श्वास-संयम
४. प्रसन्नता
५. समाधि है भीतर में जागना।

२. मनोविज्ञान की भापा में अवचेतन मन को सक्रिय करना।

३. मस्तिष्क—मेरुप्रणाली (सेरेब्रो स्पाइनल सिस्टम) द्वारा संचालित सक्रियता

जिस सीमा तक कम होती है, उस सीमा तक अवचेतन मन की सक्रियता बढ़ती है।

४. संयम के दो अर्थ—नियंत्रण और अनुभव।

५. संकल्प-नियंत्रण से वैराग्य,
विचार-नियंत्रण से एकाग्रता,
संवेदन-नियंत्रण से प्रसन्नता—उपलब्ध होती है।

६. श्वास नियंत्रण द्वारा संवेदन-नियंत्रण,
स्वायत्त नाड़ी तंत्र पर धीरे-धीरे नियंत्रण।
संवेदन-नियंत्रण विचार-नियंत्रण में सहायक।
विचार-नियंत्रण संवेदन-नियंत्रण में सहायक।

७. संवेग का संबंध ग्रन्थियों के स्राव से और ग्रन्थियों का संबंध स्वायत्त-नाड़ी तंत्र से और स्वायत्त-नाड़ीतंत्र का संबंध हाइपोथेलेमस से। हाइपोथेलेमस का संबंध तैजस शरीर से।

पन्द्रह

शब्दों की कारा

चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा का प्रयोजन यही है कि वे जागृत हों, सक्रिय हों। उनके माध्यम से हम चेतना की गहराई तक पहुंचे, समाधि प्राप्त करें।

समाधि की अनेक परिभाषाएं हैं। उनमें एक है—जब ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद नहीं रहता तब समाधि घटित होती है। जब तक ध्याता अलग, ध्येय अलग और ध्यान अलग होता है तब तक समाधि नहीं होती। यह परिभाषा अच्छी है। परन्तु आज के संदर्भ में लगता है कि यह अनुभवहीन परिभाषा है। कुछ समझ में नहीं आता कि समाधि क्या है? जब अनुभव समाप्त हो जाता है, कोरा शब्द रह जाता है तब हर वस्तु का मूल्य कम हो जाता है। समाधि का मूल्य भी कम हो गया, क्योंकि यह परिभाषा निर्जीव और प्राणहीन बन गई, अनुभवहीन बन गई। इसी प्रकार धर्म का उपदेश भी अनुभवहीन हो गया। धर्म का उपदेष्टा यदि अनुभव की वाणी में बोलता है तब उसकी वाणी प्राणवान् और सार्थक होती है। यदि बोलने वाला स्वयं अनुभवशून्य होता है तो उसके शब्द केवल प्रपंचमात्र रह जाते हैं, शब्दों का मायाजाल बिछता है। कोई भी व्यक्ति उसके उपदेश से लाभान्वित नहीं हो जाता।

एक प्रबुद्ध व्यक्ति धर्म-स्थान में गया। प्रवचन सुना। घर आकर उसने प्रवचनकार को पत्र लिखा—'मैंने आज आपका अनुभवहीन प्रवचन सुना। आपके प्रवचन का एक-एक शब्द मेरी पुस्तक में है। मैं वह पुस्तक आपके चरणों में भेंट स्वरूप भेज रहा हूं।' उसने पत्र के साथ पुस्तक भेज दी। प्रवचनकार ने पत्र पढ़ा। पुस्तक खोली। वह था शब्दकोश। वह आश्चर्यचकित रह गया। लज्जित भी हुआ।

यह एक सीधा व्यंग है। जब अनुभव कुछ भी नहीं होता और केवल वाणी दोहराई जाती है, केवल शाब्दिक घटाटोप होता है, तो वे सारे शब्द शब्दकोश में मिल जाते हैं। जीवन में उनका आचरण कभी नहीं होता। न प्रवचनकार के जीवन में वे शब्द मिलते हैं और न सुनने वालों के जीवन में वे शब्द मिलते हैं। प्रवचन-

सामायिक का अर्थ है—समताभाव में अवस्थिति। सामायिक करने वाला समाधि में रहता है। यह कभी नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति सामायिक करे और असमाधि में रहे, मन की अशान्ति को भोगता रहे। जब सामायिक होगी, समता होगी तो समाधि अपने आप होगी। सामायिक, समता, संयम और समाधि—ये एकार्थक हैं। समता का अवतरण तब होता है जब प्रियता और अप्रियता की गांठ खुलती है, राग और द्वेष की ग्रन्थि का विमोचन होता है। इस गांठ के खुले बिना समता का अवतरण नहीं हो सकता।

समाधि के तीन साधन

ग्रन्थि कैसे खुले, यह एक प्रश्न है। समाधि और संयम कैसे प्राप्त हो, इसे समझना है। समाधि को प्राप्त करने के अनेक साधन हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—वैराग्य, एकाग्रता और चित्त की प्रसन्नता। ये तीन बड़े साधन हैं, तीन बड़े सोपान हैं, पर इन पर आरोहण कैसे किया जाए? सोपान-श्रेणी ऊपर तक पहुंचाती है, पर प्रश्न है कि उस पर चढ़ा कैसे जाए? प्रश्न वैसा ही बना रह जाता है।

एक आदमी नौका पर चढ़ा। कुछ अंधेरा था। उसने नाव को खेना प्रारंभ किया। नाव खेता रहा। रात बीतती गई। रातभर नाव खेता रहा। कुछ उजाला हुआ। उसने सोचा दूसरा तट आ गया है। वह नौका से उतरा। उसने देखा कि तट वही है जहां से वह नौका पर चढ़ा था। रात भर नौका खेता रहा, पर पहुंचा कहीं नहीं। उसने ध्यान से देखा। नौका एक रस्से से बंधी थी। वह उस रस्से को खोलना भूल गया था। नौका आगे नहीं चली। वह कहीं नहीं पहुंचा।

आदमी के जीवन में ये घटनाएं घटित होती रहती हैं। वह अपनी जीवन नौका को खेए जा रहा है। वह नौका रस्से से बंधी हुई है। आदमी उस रस्से को खोलना भूल गया है। वह मानता है कि नौका चल रही है। फिर भी वह कहीं नहीं पहुंच पा रहा है।

इसी प्रकार समाधि की बात वहीं की वहीं रह गई है। आदमी जानता है वैराग्य से समाधि घटित होती है, एकाग्रता से समाधि घटित होती है और चित्त की प्रसन्नता से समाधि घटित होती है। परंतु मूल प्रश्न है कि वैराग्य कैसे आए? पदार्थ के प्रति होने वाला राग कैसे मिटे? एकाग्रता की निष्पत्ति कैसे हो? मन की चंचलता कैसे मिटे? चित्त की प्रसन्नता कैसे बढ़े? संवेग कैसे कम हो? ये प्रश्न यथावत् अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

हम इन प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ें। मैं मानता हूं कि जिस व्यक्ति ने श्वास-नियंत्रण करना सीख लिया, उसमें वैराग्य, एकाग्रता और चित्त की प्रसन्नता—ये तीनों स्वतः फलित होंगे। जो श्वास-नियंत्रण के सूत्र को नहीं जानता उसमें न वैराग्य फलित होता है और न एकाग्रता तथा चित्त की प्रसन्नता फलित होती है।

जाती है। लीवर अपना काम करता है। आमाशय अपना काम करता है और पक्वाशय अपना काम करता है। आदमी को इन क्रियाओं के लिए प्रयत्न करने की जरूरत नहीं होती। सारी क्रियाएं ऑटोमेटिक होती रहती हैं। जितने भी आंतरिक अवयव हैं, इन्टरनल ओरगन्स हैं, और जो ग्रन्थियां हैं उनके लिए आदमी को कुछ भी नहीं करना पड़ता। गुस्सा आता है। आप क्या करेंगे? जब भी एड्रीनल ग्रन्थि का स्राव बढ़ता है, आदमी गुस्से से भर जाता है। मधुमेह की बीमारी हुई और आदमी चिड़चिड़ा हो जाएगा। ये सब स्वतः होते हैं।

अनुकंपी-सहानुकंपी तंत्रिकाएं

नाड़ी-संस्थान में तंत्रिका-तंत्र की कुछ प्रवृत्तियां ऐसी हैं जो स्वतःसंचालित होती हैं और कुछ प्रवृत्तियां मेरुदंड और मस्तिष्क के द्वारा संचालित होती हैं। हाथ उठाना है। आदमी की इच्छा होगी तो हाथ उठेगा, अन्यथा नहीं। बोलना है। आदमी की इच्छा होगी तो वह बोलेगा अन्यथा नहीं। इसी प्रकार चलना, बैठना, घूमना, धूप से छांह में आना या छांह से धूप में जाना—ये सब प्रवृत्तियां इच्छा पर निर्भर करती हैं। आदमी चाहता है तो ये सब होती हैं, नहीं चाहता तो ये कभी नहीं होतीं। ये ऐच्छिक प्रवृत्तियां मस्तिष्क और मेरुदंड के द्वारा संचालित और नियंत्रित होती हैं। आन्तरिक अवयवों के कार्य, ग्रन्थियों का स्राव आदि सारे कार्य स्वायत्त तंत्रिका-तंत्र से निष्पादित होता है। मेरुदंड के दोनों ओर सिम्पेथेटिक और पेरा-सिम्पेथेटिक—अनुकंपी और सहानुकंपी ये दो प्रकार की तंत्रिकाओं के गुच्छ होते हैं। वहां से स्वायत्ततंत्रिका-तंत्र संचालित होता है। उसमें मस्तिष्क और मेरुदंड का विशेष उपयोग नहीं होता। किन्तु संबंध अवश्य जुड़ा रहता है।

परिवर्तन का मूलघटक : बायो-एलेक्ट्रीसिटी

आदमी संवेदनों, विचारों और संवेगों पर नियंत्रण करना चाहता है किन्तु जब तक आन्तरिक क्रियाओं में कोई परिवर्तन नहीं आता तब तक नियंत्रण संभव नहीं होता। व्यक्ति को संचालित करते हैं आन्तरिक रसायन, आन्तरिक विद्युत्-प्रवाह और आन्तरिक तंत्रिका-तंत्र। जब तक हमारे रसायन न बदल जाएं, जब तक हमारी बोड़ीकेमिस्ट्री में कोई परिवर्तन न आ जाए, बायो-इलेक्ट्रीसिटी में कोई परिवर्तन न आ जाए तब तक कुछ भी परिवर्तन नहीं हो सकता। संवेगों का परिवर्तन तो हो ही नहीं सकता।

आत्मप्रतिष्ठित क्रोध : एक सचाई

एक आदमी प्रसन्न रहता है और दूसरा खिन्न रहता है। एक निश्चित है और दूसरा चिन्ताओं के भार से आक्रान्त है। इन वृत्तियों का मूल कारण है भीतरी

से कितना ही बचे, किन्तु जिस क्षण बिल्ली सामने आती है तब उसके लिए जीवन-मरण का प्रश्न खड़ा हो जाता है । व्यक्ति दस वर्षों तक निमित्तों से बचता रहा। एक दिन निमित्त मिलते हैं और वह वैसा ही आचरण करने लग जाता है जैसे दस वर्ष पूर्व करता था। निमित्तों से बचना अच्छा है, पर पर्याप्त नहीं। ब्रह्मचारी से कहा गया—वह निमित्तों से बचे। स्त्री का संसर्ग न करे; शब्द, रूप, रस और गंध से बचे; प्रिय भोजन और कुतूहल से बचे। एक पूरी सूची है निमित्तों से बचने की। वह निमित्तों से बचता रहा। किन्तु भीतरी परिवर्तन घटित नहीं हुआ। परिवर्तन का प्रयत्न ही नहीं किया। प्रसंग आया। तीव्र निमित्त मिला और वह वर्षों से बचने वाला फिसल गया। निमित्तों से बचने की बात समाप्त हो गई। वह ठीक उसी परिस्थिति में चला गया, जिसमें वह पहले स्थित था।

मुनि स्थूलभद्र वेश्या के यहां चार मास बिताकर आचार्य के पास आये। आचार्य ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक मुनि सिंह की गुफा पर चार मास बिताकर आए। आचार्य ने उनकी कोई प्रशंसा नहीं की। उन्होंने सोचा—यह क्या? इतना पक्षपात! मेरा स्थान कितना भयंकर था और स्थूलभद्र का स्थान कितना मनोरम! फिर भी आचार्य ने स्थूलभद्र की प्रशंसा की, मेरी नहीं। स्थूल-भद्र प्रधानमंत्री का पुत्र है, ऐश्वर्यशाली है, इसलिए उसकी प्रशंसा हो गई। मेरी प्रशंसा कौन करे? उसके मन में ईर्ष्या का भाव जाग गया। वह आचार्य के पास आकर बोला—अब मैं वेश्या के घर चातुर्मास करूंगा। आचार्य ने समझाया। वह नहीं माना। वेश्या के घर जाकर रहा। कुछ दिनों तक निमित्तों से बचता रहा। उसमें आन्तरिक परिवर्तन पूर्णरूप से घटित नहीं हुआ था। एक दिन ऐसा आया कि वह वेश्या के मायाजाल में फंस गया। श्रामण्य से च्युत हो गया। लंबी कहानी है।

केवल निमित्तों से बचना पर्याप्त नहीं होता। दोनों ओर से बचना होता है। बाहर के निमित्तों से भी यथासंभव बचना चाहिए और आन्तरिक ग्रन्थियों के स्राव को भी बदलना चाहिए। कर्म का विपाक ग्रन्थियों के माध्यम से होता है। उसे भी बदलना चाहिए। हम अब इसे शरीरशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय व्याख्या के संदर्भ में समझें। हमारा यह शरीर स्थूल है। इससे आगे है सूक्ष्म-शरीर और उससे आगे है अति सूक्ष्म शरीर। जैन दर्शन की शब्दावली में स्थूल-शरीर को औदारिक शरीर, सूक्ष्म शरीर को तैजस शरीर और अति सूक्ष्म-शरीर को कार्मण शरीर कहते हैं। हमारे भावों पर नियंत्रण करता है यह तैजस शरीर और तैजस शरीर पर नियंत्रण करता है कर्म शरीर। तैजस शरीर मस्तिष्क के एक भाग 'हाइपो-थेलेमस' पर नियंत्रण करता है। हमारे शरीर का तापमान, चयापचय की प्रक्रिया (मेटाबोलिज्म)—यह सब तैजस शरीर द्वारा नियंत्रित होता है। शरीर में भूख, नींद आदि के जो नियंत्रण-केन्द्र हैं वे सारे मस्तिष्क से हाइपोथेलेमस भाग में हैं।

विधिपूर्वक करना ही सब कुछ

जैसे-जैसे श्वास पर नियंत्रण बढ़ता जाता है वैसे-वैसे स्वचालित नाड़ी-संस्थान की प्रवृत्ति में भी परिवर्तन होता चला जाता है। श्वास-संयम की प्रक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्वास की संख्या को घटाने का मूल्यांकन करना प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है। दीर्घश्वास, मंदश्वास, सूक्ष्मश्वास—ये तीनों बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। श्वास की क्रिया को बदलना समूचे व्यक्तित्व की धारा को बदलना है। जो श्वास को बदलना नहीं जानता, वह व्यक्तित्व की धारा को भी बदलना नहीं जान पाता। वह व्यक्तित्व के रहस्य को भी नहीं जानता। जिसने यह रहस्य खोजा कि श्वास-परिवर्तन के द्वारा समूचे जीवन को बदला जा सकता है, समूचे व्यक्तित्व को बदला जा सकता है, अध्यात्म के क्षेत्र में वह व्यक्ति सबसे बड़ा वैज्ञानिक था। वह सबसे बड़ा संत था। जो ध्यान करना प्रारम्भ कर देते हैं, परन्तु श्वास पर नियन्त्रण करना नहीं जानते, वे ध्यान में कभी सफल नहीं होते। ध्यान तभी सफल होता है जब वह विधिपूर्वक किया जाए। आज ही एक दम्पति आया। पति-पत्नी दोनों ध्यान करते हैं। उन्हें ध्यान करते दस वर्ष बीत गए। प्रतिदिन नियमितरूप से एक घंटा लगाते हैं। पर वे कह रहे थे कि उन्हें कुछ भी सफलता नहीं मिली। मन वैसा ही चंचल है। एकाग्रता सध नहीं पाती। मैंने पूछा—कौन-सी विधि से ध्यान करते हैं? उन्होंने कहा—कोई विधि नहीं। ऐसे ही आंखें बन्द कर बैठ जाते हैं। मैंने कहा—अभी तो दस वर्ष ही बीते हैं, यदि पचास वर्ष भी इस प्रकार बैठे रहें तो एकाग्रता नहीं आएगी, मन शान्त नहीं होगा। आप मुड़कर देखेंगे तो पता लगेगा कि आप उसी पदचिह्न पर खड़े हैं जहां पहला पदचिह्न अंकित किया था। कुछ भी आगे नहीं बढ़ पाए। ध्यान ही क्या, प्रत्येक साधना विधि से ही सफल होती है।

नियंत्रण का क्रम

१६. समाधि : साध्य या साधन

- **जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं ।**

(आयारो ३।४)

- जो पुरुष इन शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शों को भलीभांति जान लेता है, उनमें, राग-द्वेष नहीं रहता, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान्, और ब्रह्मवान् होता है।
- **विरज्जमाणस्य य इन्दियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा ।**
  न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा, निव्वत्तयन्ती अमणुन्नयं वा ॥
- **एवं ससंकप्पविकप्पणासुं, संजायई समयमुवट्ठियस्य ।**
  अत्थे य संकप्पयओ तओ से, पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥

(उत्तरा० ३२।१०६, १०७)

- जितने प्रकार के शब्द आदि इन्द्रिय-विषय हैं, वे सब विरक्त मनुष्य के मन में मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं करते ।
- 'अपने राग-द्वेपात्मक संकल्प ही सब दोषों के मूल हैं'—जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है तथा 'इन्द्रिय-विषय दोषों के मूल नहीं हैं'—इस प्रकार का संकल्प करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी काम-गुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

१. • आत्म-दर्शन का उपादान—समाधि ।

२. • उपादान एक अवस्था में साधन, दूसरी अवस्था में साध्य। आदि और मध्य में समाधि साधन और चरम विन्दु पर समाधि साध्य ।

३. • आत्म-दर्शन का साधन है—विरक्ति ।
जितनी विरक्ति उतना संकल्प—नाश ।
पूर्ण विरक्ति पूर्ण समाधि ।

४. • समाधि है—चैतन्य का अनुभव ।

५. • जिस साधन से चैतन्य का अनुभव न हो वह समाधि नहीं ।

क्षमता का उपयोग कितना ?

हमारे नाड़ी-संस्थान में बड़ी क्षमता है कार्य करने की। मनुष्य इतना बड़ा कार्य कर सकता है जितना कोई नहीं कर सकता। यदि शारीरिक बल की दृष्टि से देखें, तो मनुष्य वहुत कमजोर पड़ता है। एक शेर, बाघ, हाथी, बैल या भैंसा भी सामने आ जाये तो मनुष्य की शक्ति बहुत कम होती है। उनकी तुलना में एक कुत्ता भी आदमी को भगा देता है। आदमी की शारीरिक शक्ति निश्चित ही कम होती है। उसका शरीर-बल वहुत कम होता है किन्तु नाड़ी-संस्थान का बल ज्यादा होता है। उसी वल के आधार पर आज यह हाथी भी मनुष्य की कैद में है। मनुष्य हाथी पर सवारी भी करता है और हाथी से भार भी ढोता है। बाघ, चीते, शेर, जितने भयंकर जानवर भी मनुष्य के बन्दी बने हुये हैं। भैंसों की और बैलों की बात ही छोड़ दें। नाड़ी-शक्ति के आधार पर उसकी बुद्धिजा-शक्ति और कर्मजा-शक्ति दोनों इतनी हैं कि वह जो चाहे वैसा कर सकता है। वह किसी भी प्राणी की नाक में नकेल डाल सकता है। कोई भी उसकी शक्ति से परे नहीं है। हमारे नाड़ी-संस्थान में ये दोनों—ज्ञान और कार्य की क्षमताएं बहुत अधिक हैं। जितनी क्षमता है उसका वीस प्रतिशत उपयोग मात्र हम कर पा रहे हैं, अस्सी प्रतिशत क्षमता अनुपयोग में ही पड़ी रहती है। केवल सत्ता में पड़ी रहती है, उसका परिणाम नहीं भी होता। सामान्य आदमी दस-पन्द्रह प्रतिशत क्षमता का ही उपयोग करता है नाड़ी-संस्थान की शक्ति का और यदि वीस-पच्चीस प्रतिशत उपयोग कर लेता है तो वह वहुत वड़ा आदमी वन जाता है। वह वौद्धिक-क्षेत्र में और कर्म के क्षेत्र में बड़ा आदमी वन जाता है। कल्पना करें—दस-पन्द्रह प्रतिशत क्षमता का उपयोग करने वाला क्या सचमुच न्याय करता है अपने जीवन के प्रति ? क्या न्याय करता है अपने नाड़ी-संस्थान के प्रति ? जिसे इतनी क्षमता उपलव्ध हुई है, वह उपयोग ही नहीं कर पा रहा है। सचमुच जीवन व्यर्थ चला जाता है। धर्मगुरु कहते हैं—जीवन सफल नहीं वना। धर्म के विना जीवन विफल चला गया। उसका रहस्य समझें। धर्म के विना जीवन विफल कैसे चला गया ? यानी जो क्षमता मिली उसका हमने पूरा उपयोग नहीं किया। जो शक्ति मिली, उसे पूरा काम में नहीं ले सके। शक्ति सोई की सोई रह गई, उसे जागने का मौका नहीं मिला। आदमी सोया का सोया रह गया उसे जागने का अवसर ही नहीं मिला। जव आदमी सोया का सोया रह जाता है तव क्षमता समाप्त हो जाती है।

साधना का उद्देश्य

साधना का सारा उद्देश्य है— क्षमता को जगाना। साधना का एक ही उद्देश्य है—सुप्त शक्तियों का जागरण। जो अस्सी प्रतिशत ज्ञान की और कर्म

शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास नहीं करता, वह शरीर को नहीं देख सकता। एक-एक अवयव पर चित्त को ले जायें। बाहर और भीतर चित्त को टिकायें, एकाग्र करें। शरीर के भीतर जो प्राण के प्रकम्पन हो रहे हैं, जो रसायन काम कर रहे हैं, जो विद्युत् काम कर रही है, उसे देखें। शरीर के भीतर कितना परिवर्तन हो रहा है, कभी जैविक-रासायनिक परिवर्तन, कभी कर्म के विपाक से होने वाले परिवर्तन, कभी सर्दी और गर्मी के कारण होने वाले परिवर्तन, कभी भोजन आदि के द्वारा होने वाले परिवर्तन—इन सबको हम देखें। हमारे शरीर की 'Chemistry' अलग है, अलग ही काम कर रही है। उन सारे परिवर्तनों को जब तक हम नहीं देख पाते, तब तक आत्म-दर्शन की बात नहीं होती। इस शरीर में आत्मा तो बहुत आगे है। उस पर तो न जाने कितने अवरोध जमे पड़े हैं। उन सबको देखे बिना उस सूक्ष्म सत्य को, परम सूक्ष्म सत्य को नहीं देख सकते, उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते। हमें सारे दरवाजों को, सारे तालों को और सारी खिड़कियों को खोलना पड़ेगा। सब खुल जायेंगे तब आत्मा का साक्षात्कार होगा। हमारे चैतन्य के कण-कण पर, चैतन्य के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म के परमाणु चिपके पड़े हैं। जो चंचलता के परमाणु चिपके पड़े हैं वे हमारी चंचलता को बढ़ाते हैं। इन सारे वलयों को जब तक हम नहीं तोड़ पायेंगे और उन्हें प्रकम्पित नहीं कर पायेंगे तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होगा। आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए, हमें स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण करना होगा। स्थूल से चलें और सूक्ष्म तक पहुंचे। आप पहले ही क्षण में स्थूल से सूक्ष्म तक पहुंच जाना चाहते हैं, बहुत अजीब बात है। आज ही अभ्यास शुरू किया और आज ही सूक्ष्म तक पहुंच जाना चाहते हैं। आज ही तो यात्रा प्रारम्भ की, पहले क्षण में तो यात्रा प्रारम्भ की और दूसरे क्षण में ही मंजिल तक पहुंच जाना चाहते हैं, यह संगत बात नहीं होती। ऐसा कभी संभव भी नहीं होता। हर यात्रा का एक क्रम है। वाहन चाहे कितना ही द्रुतगामी क्यों न हो, चाहे कितना ही शक्ति से चलने वाला क्यों न हो, उसकी गति का क्रम होता है। समय लगता है। रेल को कुछ घंटे लगते हैं, वायुयान को कुछ मिनट लग सकते हैं और उससे और कमजोर हो, बैलगाड़ी हो तो और ज्यादा घंटे लग सकते हैं। एक क्रम होता है। ऐसा तो नहीं होता कि वायुयान पर अभी चढ़े, पहले क्षण चढ़े और दूसरे क्षण में लन्दन पहुंच जाएं।

रसायन हैं घटक आवेगों के

हम शरीर को पहले देखें, शरीर का साक्षात्कार करें। शरीर में अनन्त-अनन्त रसायन घटित हो रहे हैं। हजारों-हजारों परिणमन हो रहे हैं। हजारों घटनाएं घटित हो रही हैं। उनको हम जानें, देखें। आदमी हंसता है तो हमें यह पता होना चाहिए कि हंसना इसलिए है कि हंसाने वाला एक रसायन शरीर में

हमें सम्भव नहीं लगता।

आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया

हम एक क्रम से चलें। स्थूल से चलें। पहले शरीर के स्थूल-कम्पनों का साक्षात्कार करें फिर शरीर के भीतर होने वाले सूक्ष्म परिणामों का साक्षात्कार करें, रसायनों का साक्षात्कार करें, शरीर को संचालित करने वाली विद्युत् का साक्षात्कार करें, फिर उन सबको संचालित करने वाली प्राण-धारा का साक्षात्कार करें। जब इन सबका साक्षात्कार करते हैं तो सूक्ष्म-शरीर का साक्षात्कार होने लग जाता है। और जब सूक्ष्म-शरीर का साक्षात्कार होने लगता है तो अतिसूक्ष्म-शरीर में होने वाले प्रकम्पनों का भी साक्षात्कार होने लगता है, कर्म-संस्कारों का साक्षात्कार होने लग जाता है। जब उनका साक्षात्कार होने लगता है तो फिर चैतन्य का साक्षात्कार होता है, आत्मा का दर्शन होता है। हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलें। एक प्रक्रिया के साथ चलें। छलांग की बात न करें। छलांगों से काम नहीं होगा, प्रक्रिया से होगा। हो सकता है कि सौ में एक व्यक्ति छलांग भी लगा दे, किन्तु निन्यानवे व्यक्ति छलांग नहीं भर सकते। एक व्यक्ति की छलांग से नियम नहीं बना सकते। नियम अलग होता है। मैं मानता हूं, हर घटना का नियम अलग होता है। हर जगत् का नियम अलग होता है। अध्यात्म की साधना का अपना नियम है, पदार्थ की साधना का अपना नियम है। भौतिक जगत् के अपने नियम हैं और अध्यात्म जगत् के अपने नियम हैं। हम जिसकी सीमा में काम करें उसके नियमों को समझें।

आदमी वायुयान की यात्रा पर चला। वायुयान आकाश में उड़ा। सब लोग शान्त बैठे हैं। एक भोला आदमी था। पहली बार यात्रा कर रहा था। नियमों का पता नहीं था। खड़ा हो गया तत्काल। सब लोग बैठे हैं। वह खड़ा हुआ और वायुयान में बहुत तेजी से चलने लगा। लोगों ने पूछा—अरे! क्या कर रहे हो? यह क्या अभिनय कर रहे हो? उसने कहा—आपको पता नहीं, मुझे जल्दी जाना है। बहुत जल्दी काम है। लोगों ने कहा—यह वायुयान है। तुम स्थल पर नहीं चल रहे हो। तुम कितना ही जल्दी चलो, पहुंचोगे हमारे साथ ही, जल्दी नहीं पहुंच पाओगे।

वायुयान का अपना नियम होता है और थल-यात्रा का अपना नियम होता है। जो पैदल तेज चलने वाला आगे जा सकता है, जल्दी जा सकता है, पर जो प्लेन की यात्रा कर रहा है, वायुयान की यात्रा कर रहा है, वह कितना ही जल्दी चले सबके साथ पहुंचेगा, पहले नहीं पहुंच पायेगा।

समाधि साधन भी है और समाधि साध्य भी है। जब समाधि बीज के रूप में होती है, बीज के रूप में कार्य करती है तब वह साधन होती है और जब वह प्रस्फुटित होती है, समाधि साध्य बन जाती है। समाधि का पहला बिन्दु है— विराग। विराग से समाधि शुरू होती है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के प्रति जितना विराग, उतनी समाधि। विराग का प्रारम्भ समाधि का प्रारम्भ। विराग बढ़ा समाधि बढ़ी। वैराग्य का पहला बिन्दु समाधि का साधन है। वैराग्य के सारे मध्य-बिन्दु समाधि के साधन हैं और वैराग्य का चरम बिन्दु समाधि है। वैराग्य का आदि-बिन्दु एक साधन है। वैराग्य का मध्य-बिन्दु साधन है और वैराग्य का अन्तिम-बिन्दु साध्य बन जाता है। प्रथम बिन्दु पर समाधि साधन होती है और जब वह चरम बिन्दु पर पहुंचती है तब साध्य बन जाती है। समाधि स्वयं फलित हो जाती है, स्वयं वीतरागता बन जाती है और सब कुछ कृतकृत्य हो जाता है। समाधि के चरम बिन्दु पर पहुंचने पर साध्य शेष नहीं रहता। कुछ करना शेष नहीं रहता। सब अपने आप घटित हो जाता है। हम चरम बिन्दु की बात छोड़ दें। साध्य की बात छोड़ दें। साध्य तो हमारे सामने रहेगा। वह हमारी दिशा का नियामक रहेगा। साध्य हमेशा नियामक होता है। जब साध्य सामने होता है, व्यक्ति ठीक उसी दिशा में प्रस्थान करता है। आगे चलता चला जाता है। साध्य होता है नियामक।

साधन की यात्रा

हमें साधनरूप समाधि की यात्रा करनी है। जो समाधि साधन है, हमारे काम की आज वही है। हम साधन की यात्रा करें। ध्यान-साधना का प्रयोजन है— समाधि की यात्रा, साधन की यात्रा। हम यात्रा शुरू करें वैराग्य के साथ। जितना वैराग्य होता है उतना ही हमारा अनुभव स्पष्ट होता है। वैराग्य अनेक चीजों का करने की जरूरत नहीं। त्याग की बहुत लम्बी तालिका बनाने की जरूरत नहीं होती। केवल पांच ही तो हैं हमारे सामने। पांच के अतिरिक्त और किसी के प्रति हमें विराग करने की जरूरत नहीं होती। बार-बार दोहरा रहा हूं, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। बस,सारा पदार्थ जगत् समाप्त। इन पांचों के प्रति विराग की जरूरत है और छठा कोई नहीं है। वैराग्य शुरू करें। इसी वैराग्य की साधना के लिए सामायिक का, समता का और संयम का उपदेश दिया गया। शब्द आदि के जगत् से अलग होने के लिए यह सारा उपदेश दिया गया। समता, संयम बहुत प्रिय शब्द हैं, किन्तु वैराग्य के बिना समता घटित नहीं होती। वैराग्य के बिना संयम घटित नहीं होता।

है और नौकर के पास भी सोने का ढेर है। अब कोई नौकर नहीं रहा, कोई कर्मचारी या सेवक नहीं रहा। सेठ बैठे हैं, नौकर और मुनीम गायब। व्यापार बंद हो गया। कौन बेचे और कौन खरीदे। राजा के सभी कर्मचारी घर पर आ गए। कोई सैनिक सेना में नहीं रहा। सब मालोमाल हो गए थे। राजा अकेला, सेठ अकेला, सेठानी अकेली। कोई पानी पिलाने वाला भी नहीं बचा। रसोई कौन पकाए? बाजार से माल कौन लाये? घर की सफाई कौन करे? सबके लिए मुसीबत हो गई। सब दुःखी हो गए। सारी जनता इन्द्र को गालियां देने लगी। इन्द्र ने सबको दुःखी बना डाला। इन्द्र और इन्द्राणी पुनः उसी गांव में आए। जनता के दुःखों की आवाज सुनी। इन्द्राणी ने कहा—क्या आपने सबको सुखी बना डाला? इन्द्र ने घूम-घूम कर देखा। सब अपने आपको दुःखी बतला रहे थे। इन्द्र जहां भी गया—गालियां पड़ीं।

समता अपच होती है। आदमी समता को पचा नहीं सकता। पदार्थ की दुनिया में जीने वाला व्यक्ति विषमता चाहता है, समता नहीं। वह चाहता है, एक बड़ा बना रहे, दूसरा छोटा। एक स्वामी बना रहे, दूसरा सेवक। एक आदेश देने वाला हो, दूसरा आदेश मानने वाला।

यह सारा वैभव, ठाट-बाट और सम्पन्नता विपन्नता के आधार पर टिकी हुई है। कोई निर्धन नहीं है तो धनी होने का कोई प्रयोजन नहीं है। कोई विपन्न नहीं है तो सम्पन्न होने का अर्थ ही नहीं रहता। फिर हम कम्युनिस्ट को साम्यवादी, कम्यूनिज्म को साम्यवाद कैसे कह सकते हैं? कम्यून का अर्थ होना चाहिए समूह। कम्यूनिज्म अर्थात् समूहवाद। किन्तु कम्यून के लिये साम्य का प्रयोग करना बिल्कुल गलत प्रयोग है। हमारी भ्रान्ति हो गयी। क्या साम्यवादी-शासन प्रणाली में साम्य मिलेगा, नहीं मिल सकता। साम्य का दर्शन केवल अध्यात्म में ही हो सकता है। पदार्थ जगत् में कभी साम्य का दर्शन नहीं हो सकता और साम्य सहा भी नहीं जा सकता। समता का विकास केवल अध्यात्म के जगत् में, समाधि के क्षेत्र में होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह,—इनका विकास हुआ। सामाधि के प्रारम्भिक बिन्दुओं में इनका विकास हुआ। मनुष्य ने समाधि की यात्रा शुरू की। अशान्ति को मिटाना चाहा। भोग के कारण होने वाली ऊब को मिटाना चाहा।

पानी में आग

पदार्थ की प्रचुरता के कारण एक पागलपन बढ़ता है, एक अतृप्ति बढ़ती है और ऐसी अतृप्ति बढ़ती है कि जिसको बुझाने का कोई साधन नहीं होता। जब तक पदार्थों की कमी होती है तब तक अतृप्ति थोड़ी होती है। यह भी एक उल्टा

से समाधि नहीं होगी, सम्भोग से सामाधि हो जायेगी। विचार का वहुत बड़ा अन्तर है। एक ओर महाव्रत पहला विन्दु है और उसका विकास होते-होते समाधि की घटना घटित होती है। दूसरी ओर यम व्यर्थ, महाव्रत व्यर्थ, ब्रह्मचर्य व्यर्थ, अहिंसा व्यर्थ, सम्भोग पहला बिन्दु और उससे समाधि की घटना घटित होती है। विचार का इतना अन्तर है, इतनी दूरी है कि इस दूरी को कभी नहीं पाटा जा सकता। हम इस बात में विश्वास करते हैं कि महाव्रतों की साधना के बिना, समता के आदि विन्दुओं का विकास किये बिना जीवन में समाधि कभी नहीं हो सकती। जो लोग सम्भोग से समाधि में विश्वास करते हैं, हम उन्हें भ्रान्ति में मानते हैं। हम उन्हें सही नहीं मानते। उस रास्ते को ही गलत मानते है। वह रास्ता मनुष्य को और अधिक पदार्थों की ओर, विलास की ओर, भोग की ओर ले जाने वाला और अतृप्ति को बढ़ाने वाला है। अतृप्ति के द्वारा कभी अतृप्ति को नहीं मिटाया जा सकता। घी के द्वारा आग को प्रदीप्त किया जा सकता है, बुझाया नहीं जा सकता। हम समता में विश्वास करते हैं, संयम में विश्वास करते हैं। हमने समता का अनुभव किया है, संयम का अनुभव किया है। जिस व्यक्ति ने संयम का अनुभव किया, जिस व्यक्ति ने जीवन में समता अनुभव किया, संयम और समता के आदि-बिन्दुओं का थोड़ा भी स्पर्श किया, वह स्पर्श करता है इन पांच महाव्रतों का पांच अणुव्रतों का। एक मुनि और अधिक स्पर्श करता है। और वह स्पर्श जैसे-जैसे बढ़ता है, समाधि अपने आप विकसित होती चली जाती है। पदार्थ की यात्रा से अपदार्थ की ओर नहीं जा रहे हैं किन्तु अपदार्थ की यात्रा में आने वाले पदार्थों को तटस्थदृष्टि से, समदृष्टि से देखते हुए यात्रा चला रहे हैं। एक आदमी यात्रा शुरू करता है। रास्ते में पेड़ आते हैं। रास्ते में घाटियां भी आती हैं, पहाड़ भी आते हैं, ऊबड़-खाबड़ जमीनें भी आती हैं। सुगन्ध भी आती है, दुर्गन्ध भी आती है, भले भी आते हैं, बुरे भी आते हैं, सब आते हैं। चलने वाला चलते जाता है। ठीक हमारी वही यात्रा है। एक वह भी आदमी होता है कि जो भी मिला उसी से उलझ गया। वहां यात्रा थोड़ी कठिन वन जाती है। हम एक निश्चित लक्ष्य के साथ चलें और बीच में जितने आने वाले हैं, उनको देखते जायें, समझते जायें, पर उलझें नहीं। हम तटस्थ होकर चलते चलें। लक्ष्य की दिशा में चलते जायें तो हमारी यात्रा तो पदार्थो को चीरकर ही होगी। आत्मा को देखना है तो वीच में तो न जाने कितने पदार्थ आयेंगे, किन्तु जब हम निश्चित लक्ष्य की ओर सम और तटस्थ होकर चलेंगे तो पहुंच जायेंगे और यदि वीच में उलझ जायेंगे तो भटक जायेंगे।

सत्रह

खोजना-खोदना

आत्मा की ज्योति एक पवित्र ज्योति है, अखण्ड ज्योति है। वह ऐसी है जो कभी नहीं बुझती। ऐसी लौ, ऐसी दीप-शिखा, जो कभी प्रकम्पित नहीं होती। पर जब तक हम समाधि का अनुभव नहीं करते, उस ज्योति का हमें पता ही नहीं चलता और जब पता ही नहीं चलता तो उसके प्रति हमारा कोई झुकाव नहीं होता, कोई आकर्षण नहीं होता और उसकी दिशा में प्रस्थान भी नहीं होता। प्रस्थान के लिए ज्ञान होना जरूरी है। समाधि की साधाना का सारा प्रयत्न उस महाज्योति की दिशा में जाना और उसका पता लगाना है। लोग कहते हैं, आत्मा का दर्शन नहीं होता, आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। आपने कब खोजा उस महाज्योति को? कब खोजने का प्रयत्न किया? पानी पृथ्वी के तल में भरा पड़ा है, पर आदमी खोजता नहीं तब तक पानी का पता नहीं चलता। चाहे अनुभवी आदमी खोजे, चाहे यन्त्र के द्वारा खोजे, आखिर खोजना ही पड़ेगा। खोजता है तो पता चलता है कि यहां पानी का सोता है। पर केवल खोजने से ही काम नहीं चलता। खोजना और खोजने के बाद खोदना पड़ता है। अगर खोज ले और खोदे नहीं तो काम नहीं बनता। पहले खोजना पड़ता है और फिर कुआं खोदना पड़ता है। तब भीतर सोता फूटता है। अन्तराल में जो पानी बहता है वह ऊपर की ओर आता है, जल उपलब्ध हो जाता है। हमारी प्यास बुझ जाती है। खोजना और खोदना—ये दोनों बातें जरूरी हैं। आत्मा का दर्शन हो सकता है, आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, चैतन्य का अनुभव हो सकता है, पर दोनों शर्तें पूरी करनी होंगी। पहले खोजना होगा, फिर खोदना होगा। खूब गहराई में जाना होगा। गहरे, गहरे और गहरे में जाना होगा।

शरीर की गहराई

एक भाई ने आज पूछा—'आप कहते हैं प्रयोग-काल में कि गहरे में जाओ, गहरे में जाओ। कहां जाएं? शरीर के आगे से पीछे तक एक वितस्ती मात्र है।

आकस्मिक समाधि। सायास समाधि का एक क्रम होता है। जो छलांग है उसमें कोई क्रम नहीं होता। यह तो आकस्मिक घटना है। तत्काल घट गई। इसके लिए किसी प्रयत्न की जरूरत नहीं। इसके लिए साधना की पद्धति की जरूरत नहीं। आंख खुली और सब कुछ उपलब्ध। एक सपना जैसा होता है। एक दिव्य ज्योति उपलब्ध होती है और घटना घट जाती है। किन्तु सायास समाधि का एक क्रम होता है। और उसी क्रम की साधना अध्यात्म में रस लेने वाले, प्रेक्षा-शिविर में आने वाले लोग करते हैं।

समाधि का क्रम

समाधि के क्रम में सबसे पहला क्रम है—वैराग्य-भावना का विकास। जो व्यक्ति समाधि को उपलब्ध होना चाहता है, समाधि की साधना करना चाहता है और चाहता है मन की अशांति मिटे, कठिनाइयां मिटें, उलझनें मिटें, चित्त स्थिर हो जाये, उसे एक क्रम से साधना करनी पड़ती है। हजारों-हजारों परिस्थितियों के आ जाने पर भी चित्त विचलित न हो, प्रकम्पित न हो, यह हो सकता है। यह न मानें कि समस्या आई और चित्त विचलित हो गया। समस्या के आने पर चित्त विचलित नहीं भी होता। किन्तु चित्त शक्तिशाली नहीं होता इसलिए विचलित हो जाता है। चित्त तरल होता है, जो कुछ भी मिलता है उससे वह गंदला बन जाता है। पानी तरल है, उसमें जो कुछ भी मिला, वह गंदला बन जाता है। बर्फ जम गई। आप उस पर कोई गंदी चीज भी डालें तो लुढ़क कर नीचे चली जायेगी। गंदा पानी डालें तो भी उसमें मिलेगा नहीं, वह बहकर नीचे चला जायेगा, क्यों कि पानी जम गया। जमने के बाद उसमें घुलनशीलता नहीं रहती। वह अपने में कुछ भी मिश्रित नहीं कर पाता। जब तक हमारा चित्त चंचल होता है, सामने जो घटना घटित होती है, चित्त उसे पकड़ लेता है और विचलित हो जाता है; गंदला हो जाता है और वैसा ही बन जाता है जैसी घटना सामने घटित होती है। किन्तु जब चित्त जम जाता है, उसकी तरलता समाप्त हो जाती है, फिर सामने चाहे जैसी घटना घटे, वह उसमें घुलता नहीं और उसे पकड़ता भी नहीं, उस जैसा नहीं बनता किन्तु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। पारा चंचल होता है। पारे को पकड़ने का प्रयत्न करें, वह आगे सरक जाएगा। यदि मन की तुलना किसी से की जा सकती है तो वह पारे से ही की जा सकती है। दुनिया में और कोई चीज इतनी चंचल नहीं होती जितना पारा चंचल होता है। वह किसी का स्पर्श नहीं चाहता। वह आगे से आगे सरकता चला जाता है, गतिशील होता चला जाता है। उसकी गोली बन जाती है, फिर पकड़ में आ जाता है। उसकी चंचलता समाप्त हो जाती है। जब तक चित्त में चंचलता होती है, हर घटना उसे पकड़ती रहती है। जैसे फुटबाल इधर से उधर, उधर से इधर लुढ़कता रहता है,

होती है शारीरिक आवश्यकताओं के साथ। हमें जो शरीर उपलब्ध है उसमें एक वृत्ति है—भूख। यह हमारी मौलिक मनोवृत्ति है। एक वृत्ति है—काम। यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। ये दोनों मनोवृत्तियां संघर्ष के लिए परिस्थितियां निर्मित करती हैं। भूख शरीर की जीवित अपेक्षा है। उसके कारण मनुष्य को कितना संघर्ष करना पड़ता है। यदि भूख नहीं होती तो हमारी प्रवृत्तियां सिमट जातीं। ये इतने बड़े-बड़े व्यवसाय, धन्धे, काम, इतने प्रयत्न नहीं चलते यदि भूख की वृत्ति नहीं होती। किन्तु भूख की आग को बुझाने के लिए मनुष्य को कितना प्रयत्न करना पड़ता है। दूसरी प्रवृत्ति है—काम। कामना की पूर्ति के लिए मनुष्य को कितना करना पड़ता है। भूख अतृप्ति पैदा करती है। कुछ खाया-पीया, तृप्त हो जाता है आदमी। शरीर के स्तर पर हमारी अतृप्ति को भरना बहुत सरल काम है, जटिल काम नहीं है। शरीर की मांग बहुत छोटी होती है। अतृप्ति बहुत सीमित होती है। उसे भरना, कोई जटिल काम नहीं होता, किन्तु वह अतृप्ति जब मानसिक स्तर पर पहुंच जाती है, वहां मनुष्य को बहुत संघर्ष करना पड़ता है, अनेक महा-युद्ध लड़ने पड़ते हैं। मानसिक स्तर पर आदमी न जाने कितने विश्व युद्ध लड़ता है और कितना संघर्ष का सामना करता है। मन की अतृप्तियां कितनी बढ़ जाती हैं। यदि मानसिक अतृप्तियां नहीं होतीं तो धर्म की बात आदमी को नहीं सूझती। यदि मानसिक अतृप्ति नहीं होती तो समाधि का सूत्र आदमी को उपलब्ध नहीं होता। मानसिक अतृप्ति ने मनुष्य को इतना व्यथित बना दिया, इतना संकट में डाल दिया कि वह अतृप्ति भरती ही नहीं है। मनुष्य ने सोचा कि यह अतृप्ति पदार्थ के द्वारा नहीं मिट सकती। इसका कोई दूसरा ही उपाय होना चाहिए। खोज शुरू हुई। खोज करते-करते पता चला कि मन की अतृप्ति को मिटाने की शक्ति पदार्थ में नहीं है। मन की अतृप्ति को मिटाने की शक्ति विराग में है, वैराग्य में है। यह वैराग्य का पहला सूत्र उपलब्ध हुआ मानसिक अतृप्ति की उलझनों के कारण। जैसे-जैसे मन की अतृप्तियां बढ़ती गईं, वैसे-वैसे मनुष्य विक्षिप्त होता गया।

मन की दो भूमिकाएं हैं—एक है क्षिप्तावस्था और दूसरी है—विक्षिप्ता-वस्था। पहले चंचलता होती है और चंचलता जब अधिक बढ़ जाती है तब आदमी विक्षिप्त होता है, पागल जैसा बन जाता है। पहले चंचलता बढ़ी। जैसे-जैसे अतृप्ति बढ़ी, चंचलता बढ़ी। जब अतृप्ति और बढ़ी, चंचलता और ज्यादा बढ़ी। चंचलता जब और अधिक बढ़ी, तो आदमी विक्षिप्त होने लगा, पागल होने लगा। जब आदमी ने सोचा कि अतृप्ति इतनी बढ़ गई है कि चंचलता भी सीमा पार कर रही है और मानसिक पागलपन हो रहा है, उस स्थिति में सोचना पड़ा कि कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे कि यह विक्षिप्तता मिट सके, पागलपन मिट सके। उपाय खोजा गया। अध्यात्म के क्षेत्र में उपाय मिला

के प्रति तीव्र आसक्ति को कम किये विना, यह मानसिक अशान्ति की समस्या सुलझ नहीं सकती और चित्त शक्तिशाली वन नहीं सकता।

मादक वस्तु से शांति—एक प्रश्न चिह्न

एक दूसरी धारा भी है मानसिक अशान्ति को मिटाने की। लोग सोचते हैं कि चित्त की अशान्ति को मिटाना है तो मादक वस्तुओं का उपयोग करें। न जाने कितने ट्रेंक्वेलाइजर्स चल रहे हैं, कितने ड्रग्स चल रहें हैं, कितनी औषधियां चल रही हैं, इस मानसिक अशान्ति को मिटाने के लिए, चित्त की समस्या को सुलझाने के लिए, किन्तु जितनी दवाइयां चल रही हैं, उतनी ही मानसिक अशान्ति वढ़ रही है। दवाई बनाने वाले खूब लाभ उठा रहे हैं। दवाई बनाने वालों को लाभ मिल रहा है, पैसे मिल रहे हैं और हमारे मानसिक चिकित्सकों को लाभ मिल रहा है कि वे जी रहे हैं।

एक व्यंग है। बहुत तीखा व्यंग है। वीमारी है तो डाक्टर का परामर्श लो, इसलिए कि डाक्टर जी सके। डाक्टर जो दवा वताए वह दवा खरीदो जिससे कि दवा बनाने वाले जी सकें और दवा बेचने वाले जी सकें। दवा लो मत, इसलिए कि तुम भी जी सको।

आज डाक्टर भी जी रहा है। दवाई बनाने वाली कम्पनियां भी जी रही हैं और दवाई बेचने वाले स्टोर के मालिक भी जी रहे हैं। कठिनाई यह है कि आदमी मर रहा है, क्योंकि वह दवा ले रहा है। तीन सूत्र वरावर चल रहे हैं, किन्तु आदमी दवा ले रहा है। इतनी दवा ले रहा है कि पागलपन को और अधिक वढ़ाने वाली दवा ले रहा है। मानसिक शांति के लिए, चित्त की समाधि के लिए आज न जाने कितनी दवाइयां चल पड़ी हैं। दवाइयां लेते हैं, पर बात वनती नहीं, समाधि मिलती नहीं, शांति मिलती नहीं। मादक वस्तु का काम है एक वार विस्मृति ला देना, भुलावे में डाल देना, मूर्च्छित कर देना और जो हमारे संवेदन-केन्द्र हैं, जो अशांति का अनुभव कराते हैं उन संवेदन-केन्द्रों को निष्क्रिय कर देना। यह कोई समस्या का स्थाई समाधान नहीं है। यह तो ठीक भुलावे में डाल देने वाली वात है और यह भुलावा कब तक चल सकता है? यह वास्तविकता पर पर्दा कव तक डाला जा सकता है? पर्दा डाल देने का मतलब है एक बार छिपा देना किन्तु आखिर पर्दा रहता नहीं। पर्दा उठता है और समस्या और प्रज्वलित वन जाती है। यह पर्दा नहीं डाला जा सकता और चेतना पर तो पर्दा डाला ही नहीं जा सकता क्योंकि चेतना तो भीतर से भी सक्रिय है, भीतर से अपना काम करती है। उस पर यह पर्दा नहीं डाला जा सकता।

हो गया, सामायिक होना शुरू हो गया।

पहला वैराग्य का अभ्यास, दूसरा सामायिक का अभ्यास, समता का अभ्यास। इस क्रम में तीसरा सूत्र है, प्रसन्नता। जव हम वैराग्य का अभ्यास कर चुकते हैं और हमारे जीवन में वैराग्य घटित होने लग जाता है तव समता जीवन में घटित हो जाती है। वैराग्य आया, समता आई, तव प्रसन्नता शुरू हो जाती है, चित्त की निर्मलता प्राप्त हो जाती है। चित्त में वैराग्य का अंकुर फूटा, चित्त में समता का अंकुर फूटा और चित्त में प्रसन्नता का अंकुर फूटा। वैराग्य के विना, समता के बिना प्रसन्नता नहीं हो सकती। हर्ष एक वात है, प्रसन्नता दूसरी वात है। धन मिला वड़ा हर्ष हो गया। प्रिय वस्तु का योग मिला वड़ा हर्ष हुआ। हर्ष का दूसरा पहलू है शोक। जहां हर्ष होगा, दूसरे क्षण में शोक भी झांक सकता है। एक ओर से हर्ष झांक रहा है तो दूसरी ओर से शोक झांक रहा है। दुनिया के इतिहास में आज तक एक भी ऐसी घटना घटित नहीं हुई कि जिस व्यक्ति ने हर्ष का अनुभव किया हो उसने शोक का अनुभव न किया हो। हर्ष और शोक दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक चित्र उभर जाता है तो लगता है यह हर्ष है। वह जब नीचे जाता है, दूसरा चित्र उभरता है तो लगता है शोक है। एक उभरता है, एक छिप जाता है। दूसरा उभरता है और पहला छिप जाता है। किन्तु वास्तव में हर्ष और शोक के बीच में कोई दूरी नहीं है। दोनों बिल्कुल एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रसन्नता हर्ष भी नहीं है और प्रसन्नता शोक भी नहीं है। प्रसन्नता है—चित्त की निर्मलता। जव आकाश में न वादल होते हैं, न धूल होती है तब कहा जाता है—'आकाश बड़ा प्रसन्न है।' हमारे चित्त पर जब किसी लाभ की घटा उमड़ती है, लाभ के बादल छा जाते हैं, बड़ा हर्ष होता है और जब कोई अलाभ की आंधी उतर आती है, बड़ा दुःख होता है, शोक होता है, किन्तु जब चित्त के आकाश पर न लाभ की घटा उमड़ती है, न अलाभ की आंधी उतरती है उस स्थिति में चित्त प्रसन्न होता है, निर्मल होता है। वैराग्य से समता और समता से प्रसन्नता, चित्त की निर्मलता।

यह निर्मलता की घटना जब घट जाती है, चित्त प्रसन्न वन जाता है, तव एकाग्रता सधती है। चित्त पहले एकाग्र नहीं होता। एकाग्र हो सकता है चित्त। एक निशाना साधने में क्या चित्त की एकाग्रता नहीं होती? एक शिकारी निशाना साधता है, कितना एकाग्र होता है! जब एक व्यक्ति किसी को डराना चाहता है, कितना एकाग्र होता है! एकाग्र होना ही कोई अच्छी बात नहीं हैं। किन्तु प्रसन्नता, समता और वैराग्य के कारण जो चैतन्य का अनुभव होता है, इस चैतन्य के अनुभव के प्रति एकाग्र होना अच्छी बात है। वह एकाग्रता होती है तब हमें वास्तव में अपने भीतरी सम्पदाओं का पता चलता है और आदमी अपने को पहचान लेता है।

एक ग्रामीण था केस चल रहा था कोर्ट में। प्रतिपक्षी वकील ने पूछा—इतनी

उस स्टेशन पर पहुंच गया। लक्ष्य सामने आ गया। सोचा, सुरक्षित पहुंच गया। सेठ ने कहा—"भाई साहब ! बड़े सहयोगी रहे मेरी यात्रा में, बड़ा साथ निभाया, बड़ा सहयोग किया। मैं अपने घर जा रहा हूं। नमस्कार! आनन्द से रहना।" धूर्त आया, पैरों में गिर गया। बोला—"सेठ साहब, आपने मुझे नहीं पहचाना। मैं एक ठग हूं। बहुत बड़ा ठग हूं।" सेठ ने कहा—"बहुत पहले ही पहचान लिया। तो फिर एक बात पूछना चाहता हूं। मुझे लगता है कि मैं तो ठग हूं और आप महाठग हैं। मैंने आज तक दुनियां को ठगा, और आपने मुझ को भी ठग लिया। आपने कैसे ठगा, यह बात समझ में नहीं आई। आपके पास इतना कीमती सामान और मैंने जब-जब सामान को खोला, देखा, पर कुछ भी नहीं मिला। मुझे लगता है कि आपने सचमुच मुझे ठग लिया। आप बता दें, आप का ठगने का गुर क्या है। आपकी कला क्या है? सेठ ने कहा—"मेरी और कोई कला नहीं, सिर्फ एक ही कला थी कि जब तुम बाहर जाते, मैं अपना कीमती सामान तुम्हारी पोटली में बांध देता। तुम मेरे सामान को देखते। अपनी पोटली नहीं टटोलते। आदमी दूसरे को देखता है अपने को कोई नहीं देखता।

कितनी बड़ी मर्म की कहानी है कि हर आदमी दूसरे की खोज-खबर लेता है, दूसरे को टटोलता है। अपनी कोई खोज-खबर नहीं लेता। आत्मालोचन करें, आत्मा-निरीक्षण करें, क्या हम उस ठग की भांति ठगे तो नहीं जा रहे हैं। ठग दूसरे को ठगता है पर क्या हम स्वयं तो ठगे नहीं जा रहे हैं। हम केवल दूसरों-दूसरों को ही संभाल रहे हैं। कभी पदार्थ को संभालते हैं, कभी किसी आदमी को संभालते हैं। कभी किसी को संभालते हैं। उलझन अपने मन की होती है और उसे दूसरों पर डाल देते हैं। उसने मेरा ऐसा कर लिया, इसलिए यह घटना हुई है। उसने मेरा यह कर दिया, उसने मेरा वह कर दिया। शायद ही आदमी स्वीकार करता है कि मैंने यह कर लिया। अपनी पोटली को कभी नहीं संभालता।

आज ही एक बहन आई। ध्यान किया, शरीर अकड़ गया। रीढ़ में अकड़न आ गई, फिर उसने दवा ले ली। वह ठीक हो गई। ध्यान के द्वारा, समाधि की साधना के द्वारा जो विकृतियां बाहर निकलना चाहती थीं, जो उभार बाहर निकलना चाहता था, उसे अन्दर ही रोक दिया। जो दूसरों को देखना जानता है वह नहीं चाहता कि दूसरे भीतर अड्डे जमाए बैठे हैं वे बाहर निकल जायें। बीमारियां बाहर निकल जायें, आदमी नहीं चाहता। पागलपन बाहर निकल जाये, आदमी नहीं चाहता। विकृतियां बाहर निकल जाएं, विकार बाहर निकल जाएं, आदमी नहीं चाहता। वह उन्हें भीतर रखने का प्रयत्न करता है। दवा ली, जो बाहर निकलना चाहता था विकार, फिर भीतर में सजीव हो गया। भीतर जाकर बैठ गया, जम गया। लगता है कि बड़ा आराम मिल गया। अरे भले आदमी! जो घर को खाली करना चाहता था, जो ठग बाहर जाना चाहता था, पर तुमने चाहा

उस स्टेशन पर पहुंच गया। लक्ष्य सामने आ गया। सोचा, सुरक्षित पहुंच गया। सेठ ने कहा—"भाई साहब! बड़े सहयोगी रहे मेरी यात्रा में, बड़ा साथ निभाया, बड़ा सहयोग किया। मैं अपने घर जा रहा हूं। नमस्कार! आनन्द से रहना।" धूर्त आया, पैरों में गिर गया। बोला—"सेठ साहब, आपने मुझे नहीं पहचाना। मैं एक ठग हूं। बहुत बड़ा ठग हूं।" सेठ ने कहा—"बहुत पहले ही पहचान लिया। तो फिर एक बात पूछना चाहता हूं। मुझे लगता है कि मैं तो ठग हूं और आप महाठग हैं। मैंने आज तक दुनियां को ठगा, और आपने मुझ को भी ठग लिया। आपने कैसे ठगा, यह बात समझ में नहीं आई। आपके पास इतना कीमती सामान और मैंने जब-जब सामान को खोला, देखा, पर कुछ भी नहीं मिला। मुझे लगता है कि आपने सचमुच मुझे ठग लिया। आप बता दें, आप का ठगने का गुर क्या है। आपकी कला क्या है? सेठ ने कहा—"मेरी और कोई कला नहीं, सिर्फ एक ही कला थी कि जब तुम बाहर जाते, मैं अपना कीमती सामान तुम्हारी पोटली में बांध देता। तुम मेरे सामान को देखते। अपनी पोटली नहीं देखते थे। आदमी दूसरे को देखता है अपने को कोई नहीं देखता।

कितनी बड़ी मर्म की कहानी है कि हर आदमी दूसरे की खोज-खबर लेता है, दूसरे को टटोलता है। अपनी कोई खोज-खबर नहीं लेता। आत्मालोचन करें, आत्मनिरीक्षण करें, क्या हम उस ठग की भांति ठगे तो नहीं जा रहे हैं। ठग दूसरे को ठगता है पर क्या हम स्वयं तो ठगे नहीं जा रहे हैं। हम केवल दूसरों-दूसरों को संभाल रहे हैं। कभी पदार्थ को संभालते हैं, कभी किसी आदमी को संभालते हैं, कभी किसी को संभालते हैं। उलझन अपने मन की होती है और उसे दूसरों पर डाल देते हैं। उसने मेरा ऐसा कर लिया, इसलिए यह घटना हुई है। उसने मेरा यह कर दिया, उसने मेरा यह कर दिया। शायद ही आदमी स्वीकार करता है कि मैंने ऐसा किया। अपनी पोटली को कभी नहीं संभालता।

१८. चित्त-समाधि के सूत्र [२]

- एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
  एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ ॥

(उत्तरा २९/२५)

- भंते ! एक अग्र(आलंवन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?
  एकाग्रमन की स्थापना से वह चित्त का निरोध करता है ।

१. ● एकाग्रता का अभ्यास—सालंबन ध्यान का अभ्यास ।

२. ● प्रगाढ़ एकाग्रता, तन्मयता होने पर संकल्प का नाश ।
यह समाधि है निरालंब, केवल चैतन्य में प्रतिष्ठित। बाहर का कोई आलंबन नहीं ।

३. ● ध्यान और समाधि में अन्तर—
- ध्यान—सेन्द्रिय और समनस्क चित्त दशा ।
- समाधि—अनिन्द्रिय और अमनस्क चित्त दशा ।
- ध्यान में बाह्य जागरूकता भी होती है ।
- समाधि में केवल आन्तरिक जागरूकता ।
- ध्यान में शब्द आदि विषयों का बोध होता है ।
- समाधि में भीतरी शब्द आदि विषय भी निरुद्ध हो जाते हैं ।

४. ● संकल्प का नाश होने पर तृष्णा क्षीण हो जाती है ।

५. ● ध्यान और नींद—

ध्यान	नींद
● शरीर की जैविक-क्रिया तत्काल मंद	—कई घंटों की गहरी नींद में जैविकक्रिया मंद ।
● तीन मिनट में ऑक्सीजन की खपत में १६ प्रतिशत कमी	—पांच घंटा की नींद में आक्सीजन की खपत में केवल ८ प्रतिशत कमी ।

अठारह

ध्यान और समाधि एक या दो ?

ध्यान से हमारी अन्तर की ज्योति प्रज्वलित होती है। समाधि से हमारे भीतर एक चैतन्य का प्रकाश फूटता है और वह प्रकाश ऐसा है जिसकी झलक बाहर के जगत् में कभी उपलब्ध नहीं होती। अध्यात्म की साधना के क्षेत्र में दो शब्द वहु-चर्चित हैं। एक है ध्यान और दूसरा है समाधि। कुछ आचार्यों ने केवल ध्यान के द्वारा समूची साधना को प्रस्तुत किया है और कुछ आचार्यों ने केवल समाधि शब्द के द्वारा समूची साधना का प्रतिपादन किया है। कुछ आचार्यों ने ध्यान और समाधि दोनों का प्रतिपादन किया है। हमारे सामने प्रश्न होता है—क्या ध्यान और समाधि एक हैं या दोनों में अन्तर है? यदि अन्तर है तो वह क्या है? कोई अन्तर नहीं होता। समाधि के साथ ध्यान स्वयं आ जाता है और ध्यान में समाधि स्वयं आ जाती है। भीतर में जागने का जितना प्रयत्न है वह सारा का सारा समाधि है। जब-जब आदमी भीतर में जागता है, जब-जब वह चैतन्य का अनुभव करता है, और जिस बिन्दु से जागना शुरू करता है, उस बिन्दु से लेकर चरम-बिन्दु तक पहुंचता है, वह सारा का सारा समाधि है। भीतर में जागना ध्यान और भीतर में जागना समाधि। कोई अन्तर नहीं होता। किंतु जब दोनों शब्द हमारे सामने आते हैं तो अन्तर जानने की जिज्ञासा भी मन में जाग जाती है। सहज ही प्रश्न होता है—ध्यान और समाधि में भेद-रेखा क्या है? अनेक आचार्यों ने भेदरेखा भी खींची है। समनस्कता ध्यान की स्थिति है। ध्यान में मनुष्य समनस्क और सेन्द्रिय रहता है। ध्यान में मनुष्य अमन नहीं होता, अमनस्कता नहीं आती और इन्द्रियां भी बिल्कुल निष्क्रिय नहीं बनतीं। समाधि की अवस्था आती है, मनुष्य अमनस्क और अनिन्द्रिय बन जाता है।

समाधि है तीसरी अवस्था

इन्द्रिय की एक अवस्था है वनस्पति जीवों में, जिस अवस्था में इन्द्रियों का पूरा विकास नहीं होता। अमनस्कता की एक अवस्था है वनस्पति जीवों में, जिस

वैसे-वैसे बाहरी विषयों में भी परिवर्तन आता जाता है। जो व्यक्ति ध्यान की गहराई में नहीं जाता वह आंखें बन्द करके ध्यान करने के लिए बैठता है तो कोई शब्द भी सुनेगा और शब्द के अर्थ में लग जायेगा। सोचेगा कि क्या कहा? सारी स्थिति उसमें चली जायेगी। ये शब्द बड़े भुलावे में डालने वाले होते हैं। इन्द्रियों के विकास का क्रम है—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इस क्रम से इन्द्रियों का विकास हुआ है। वनस्पति में, स्थावर जीवों में, केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय की चेतना जागती है। द्वीन्द्रिय जीवों में दो इन्द्रियां उपलब्ध होती हैं। उनमें स्पर्शन और रसन की चेतना जागती है। जिनमें तीन इन्द्रियों का विकास होता है, उनके घ्राण इन्द्रिय और जागती है। चार इद्रियों का विकास होता है उनमें चक्षु इन्द्रिय और जागती है और पांच इन्द्रियों का विकास होता है तब शब्द-चेतना जागती है। यह है—इन्द्रियों का विकास-क्रम। किन्तु साधना की दृष्टि में इससे ठीक उल्टा होता है। क्योंकि मनुष्य को सबसे ज्यादा प्रभावित करते हैं—शब्द और रूप। इसलिए ध्यान करने वाले व्यक्ति को शब्दों से बचना होता है और रूपों से बचना होता है।

मुनि जंगल में खड़े थे पेड़ के नीचे। राजा श्रेणिक अपनी सेना के साथ-साथ भगवान् महावीर के पास जा रहा था। आगे-आगे कुछ कर्मचारी चल रहे थे। एक व्यक्ति जो सबसे आगे चल रहा था, देखा, मुनि ध्यान करके खड़ा है। चलते-चलते उसने एक ढेला फेंक दिया। बोला—"ध्यान करके खड़े हो। राज्य को छोड़ आये, पता नहीं पीछे क्या हो रहा है। शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया। लड़का वेचारा छोटा है, पिसा जा रहा है। राज्य जा रहा है, क्या हुआ राज्य को छोड़-कर खड़े हो गये ?' कुछ कठोर शब्द कहे। एक और मुनि ध्यान में लीन थे, चैतन्य के अनुभव में लीन थे, किन्तु जैसे ही शब्द कानों में घुसे, उनका ध्यान छूट गया और वे शब्दों में उलझ गये। सोचा, मेरे राज्य पर आक्रमण किया है। अभी मैं जाता हूं और पूरी सेना की शक्ति के साथ शत्रु पर आक्रमण करता हूं। देखता हूं, कैसे वह मेरे राज्य को लूटता है ? ऐसी स्थिति में चले गये, ध्यान तो छूट गया, युद्ध का ध्यान लगा रहा। आत्मा का ध्यान छूट गया, युद्ध का ध्यान सारे मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा।

शव्द वहुत प्रभावित करते हैं। इसलिए ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले शब्द पर विजय पाने की जरूरत होती है। शब्दों को न सुनें और यदि सुनें तो उनके अर्थ पर चिन्तन न करें। ध्यान न दें। कानों में पड़ा और गया। लगता है जैसे शब्दों का काम कान में आना है और उस पर ध्यान न देना ध्यान करने वाले का काम है। ध्यान में यह स्थिति नहीं वनती कि शब्द कानों में न आएं और हमारे मस्तिष्क को झंकृत न करें। शब्द सुनाई देता है और मस्तिष्क झंकृत होता है। किन्तु जब तन्मयता की स्थिति बनती है, एकाग्रता प्रगाढ़

और हमें बाहर की घटनाओं का पता नहीं चलता। समाधि में बाहर का मन सोता है किन्तु भीतर का मन, भीतर की चेतना बहुत सक्रिय हो जाती है। इतनी जागरूकता बढ़ जाती है, पहले कभी नहीं बढ़ती।

ध्यान और नींद

नींद का मतलब है सो जाना, चेतना का लुप्त हो जाना, बाहर की चेतना का समाप्त होना और भीतर की चेतना का भी नहीं जागना। समाधि का मतलब है बाहर की चेतना का सो जाना किन्तु भीतर की चेतना का बहुत तीव्रता से जाग जाना। इतनी शक्तिशाली बन जाती है चेतना, जितनी पहले कभी नहीं बनी थी। बहुत बड़ा अन्तर है। अभी-अभी वैज्ञानिकों ने ध्यान और नींद का तुलनात्मक अध्ययन किया और बहुत बड़ी खोजें इस विषय में कीं। क्या अन्तर आता है? केवल ध्यान और नींद की तुलना की है, समाधि की नहीं की, किन्तु वह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने देखा कि ध्यान करने वाले व्यक्ति की, तीन मिनट में, ऑक्सीजन की खपत में सोलह प्रतिशत की कमी हो जाती है। केवल तीन मिनट में। जबकि पांच घंटा की गहरी नींद आदमी लेता है तो आठ प्रतिशत ऑक्सीजन की खपत कम होती है। कितना बड़ा अन्तर है? तीन मिनट में सोलह प्रतिशत की कमी और पांच घंटे की नींद में आठ प्रतिशत की कमी। ध्यान में त्वचा की अवरोधक-शक्ति बढ़ जाती है। हमारी त्वचा में बहुत अवरोधक-शक्ति है। यदि त्वचा में अवरोधक-शक्ति न हो तो बाहर की विद्युत्-तरंगों को आदमी पकड़ लेता है। और जब बाहर की विद्युत्-तरंगों को पकड़ लेता है तो न जाने कितनी बीमारियों को, कितने मानसिक विकारों को अनायास भीतर ले लेता है। किन्तु त्वचा में इतनी अवरोधक-क्षमता है कि वह बाहर की विद्युत् की तरंगों को नहीं पकड़ती। पास में आती है तो फेंक देती है इसलिए बाहर के प्रभावों को वह कम ग्रहण करती है। नींद की अवस्था में देखा गया कि त्वचा की अवरोधक-शक्ति तो बढ़ती है किन्तु बहुत कम मात्रा में बढ़ती है। ध्यान की तुलना में बहुत ही नगण्य बढ़ती है। ध्यान की स्थिति में मस्तिष्क में अल्फा तरंगें जाग जाती हैं। अल्फा तरंग के जागने का मतलब है शांति का अनुभव, सुख का अनुभव। हमारी मन की शांति और मन का सुख, वह अल्फा तरंगों के कारण होता है। नींद में अल्फा तरंगें नहीं जागतीं। यदि नींद शुरू होती है तो अल्फा तरंगें जो होती हैं वे भी समाप्त हो जाती हैं। तब बीटा, थीटा आदि तरंगें जागनी शुरु हो जाती हैं। किन्तु जब गाढ़ नींद बनती है, उसमें अल्फा तरंगें भी कुछ जागती हैं। इसलिए नींद में भी आदमी को कुछ सुख का अनुभव होता है। किन्तु ध्यान की तुलना में बहुत कम जागती हैं। इसलिए हम ध्यान और नींद, समाधि और नींद को एक तराजू पर नहीं तोल सकते। दोनों में

वताना अच्छा नहीं है। वाहर में क्या परिवर्तन हो रहा है बताया जा सकता है किन्तु ध्यान-काल में कुछ इस प्रकार के अनुभव जागते हैं कि वे अनुभव सब के सामने प्रस्तुत नहीं करने चाहिए। ऐसे विचित्र अनुभव बताये। किसी ने कुछ देखा। उन्होंने कभी कल्पना ही नहीं की थी कि इस प्रकार के भी दृश्य देखे जा सकते हैं। इस प्रकार के सुन्दर रंग देखे जा सकते हैं जो रंग हमारी दुनिया में नहीं हैं। वैज्ञानिक दुनिया में जिन रंगों को कभी देखने का मौका नहीं मिलता, वह ध्यान-काल में देखने का मौका मिलता है। सारी दुनिया में जो सुन्दर रूप देखने का मौका नहीं मिलता वह ध्यान-काल में मिलता है। एक भाई ने आज कहा—"हम पहले ध्यान नहीं करते थे तो बाहर के रंग और रूप दिखाई देते थे। अव ध्यान करने लग गये तो भीतर के रंग-रूप दिखाई देने लग गये। बस, क्या इतना ही होगा या और कुछ होगा?" मैंने कहा—यह तो पहला चरण है। जब भीतर की चेतना जागेगी तो इतना दिखाई देगा कि आज कोई सभावना ही नहीं की जा सकती। हमारे स्थूल जगत् में बहुत कम वस्तुएं हैं। हमारा स्थूल जगत् वहुत छोटा है। हमने बहुत वड़ा मान रखा है। किन्तु अब सूक्ष्म-जगत् के आवरण हटते हैं, हमारी चेतना सूक्ष्म होती है और जब सूक्ष्म सत्यों को पकड़ने की हमारी क्षमता जागती है तव हमें लगता है कि हमारा सूक्ष्म जगत् कितना वड़ा है, कितना विशाल और कितना विराट् है। आदमी पहले समझ भी नहीं पाता, उलझ जाता है। पता ही नहीं होता क्या हो रहा है? कुछ भी पता नहीं चलता।

भोला नौकर था, देहाती। सेठ ने कहा—"अरे भई जाओ, देखो, सूरज दिखाई दे रहा है कि नहीं।" वाहर गया। फिर आया भीतर। बोला—"सेठ साहव! सूरज दिखाई नहीं दे रहा है, क्योंकि अभी अन्धेरा है। सेठ ने कहा—"दीया जलाकर देखो कि आकाश में सूरज है या नहीं। वेचारे को पता ही नहीं कि सूरज को कैसे देखा जाता है। क्या सूरज को देखने के लिए भी दीये की जरूरत होती है। सूरज नहीं होता तो सारे दीये टिमटिमाते हैं, जलते हैं और एक सूरज आता है तो सव दीये बुझ जाते हैं। फिर दीये की कोई जरूरत नहीं होती। सूरज को देखने के लिए कभी दीये की जरूरत नहीं, किन्तु जब आदमी नहीं जानता, वह समझता है कि सूरज आकाश में तो है पर अन्धेरा है इसलिए दिखाई नहीं देता।

तृष्णा : एक अमिट प्यास

जब चेतना अपने आप में प्रतिविंवित हो जाती है तव उसके देखने के लिए किसी की जरूरत नहीं होती। जब मनुष्य अपनी स्थूल चेतना के द्वारा अपनी सूक्ष्म चेतना को देखना शुरू कर देता है, तब भीतर में जो है, वह उसे साफ दिखाई देने लगता है और भीतर में विचित्र घटनाएं घटित होने लगती हैं। फिर

मात्र होगा और बड़ा मानसिक ढोंग होगा।

राजा श्रेणिक ने रोहक, जो उस जमाने का बड़ा बुद्धिमान व्यक्ति था, से कहला भेजा कि तुम्हारे गांव में जो कुआं है, पानी बहुत मीठा है, उस कुएं को मेरी राजधानी में भेज दो। यहां अगर मीठा कुआं होगा, जनता को बहुत लाभ मिलेगा। कुएं को यहां भेज दो और यह राजाज्ञा है, तुम्हें यह शिरोधार्य करनी होगी। गांव वाले घबरा गये। कुएं को कैसे भेजा जा सकता है। कोई उपाय नहीं है, घबरा गये। वे सब इकट्ठे हुए। कहा—'रोहक! अब क्या होगा? राजाज्ञा है। उसका पालन नहीं हुआ तो पता नहीं राजा क्या करेगा? गांव का क्या होगा? रोहक ने कहा—"चिंता मत करो।" रोहक ने एक पत्र लिखा और दूत को देकर बोला—जाओ, राजा को यह मेरा पत्र दे देना। पत्र पहुंचा, राजा ने पढ़ा। पत्र में लिखा था—"महाराज! हमारा कुआं गांव का कुआं है। गांव का कुआं इतना होशियार नहीं होता। यह चलना नहीं जानता। राजधानी में रहने वाले बहुत होशियार होते हैं, बड़े दक्ष होते हैं। आप राजधानी का कुआं यहां भेज दें तो गांव का कुआं भी चलना सीख जायेगा और उसके साथ-साथ आपकी राजधानी में पहुंच जायेगा।"

मुझे लगता है अगर ऐसा कोई समाधि जगाने वाला मिल जाये कि जो कुएं को हमारे पास भेज दे। अपने होशियार कुएं को हमारे पास भेज दे तो संभव है कि हमारा देहाती कुआं भी चलना सीख जाए। आज तक राजा ने कभी उत्तर नहीं दिया और न फिर यह मांग की कि तुम्हारा कुआं हमारे यहां भेज दिया जाये। यह कुआं स्वयं को ही खोदना है, स्वयं के पास ही रखना है। कभी राजधानी में उसको भेजना नहीं है। जो लोग ऐसी घोषणाएं करते हैं कि हम अपना कुआं सबके पास भेज देंगे और सब को लाभान्वित कर देंगे, मुझे लगता है कि यह भी साधना के क्षेत्र में ठगी का प्रकार बन गया और इसने लोगों को भुलावे में डालकर अनेक कठिनाइयां पैदा कर दी हैं। समाधि का अभ्यास स्वयं को करना है। समाधि का प्रयत्न स्वयं को करना है। समाधि का अंतिम परिणाम है—तृष्णा-क्षय।

मैंने आपके सामने समाधि का अभ्यास-क्रम प्रस्तुत किया है। यदि हम समाधि का अभ्यास करना चाहें तो उसका क्रम क्या होगा, जिसकी पूरी शृंखला आपके सामने प्रस्तुत हो गई।

अनायास समाधि

दूसरा पहलू था—अनायास समाधि का। जिस समाधि के लिए अभ्यास की जरूरत नहीं होती, जिस समाधि के लिए किसी क्रम से गुजरने की जरूरत नहीं होती, कोई ऐसी आकस्मिक घटना घटती है, एकाएक समाधि की चेतना जाग

मात्र होगा और बड़ा मानसिक ढोंग होगा।

राजा श्रेणिक ने रोहक, जो उस जमाने का बड़ा बुद्धिमान व्यक्ति था, से कहला भेजा कि तुम्हारे गांव में जो कुआं है, पानी बहुत मीठा है, उस कुएं को मेरी राजधानी में भेज दो। यहां अगर मीठा कुआं होगा, जनता को बहुत लाभ मिलेगा। कुएं को यहां भेज दो और यह राजाज्ञा है, तुम्हें यह शिरोधार्य करनी होगी। गांव वाले घबरा गये। कुएं को कैसे भेजा जा सकता है। कोई उपाय नहीं है, घबरा गये। वे सब इकट्ठे हुए। कहा—'रोहक! अब क्या होगा? राजाज्ञा है। उसका पालन नहीं हुआ तो पता नहीं राजा क्या करेगा? गांव का क्या होगा? रोहक ने कहा—"चिंता मत करो।" रोहक ने एक पत्र लिखा और दूत को देकर बोला—जाओ, राजा को यह मेरा पत्र दे देना। पत्र पहुंचा, राजा ने पढ़ा। पत्र में लिखा था—"महाराज! हमारा कुआं गांव का कुआं है। गांव का कुआं इतना होशियार नहीं होता। यह चलना नहीं जानता। राजधानी में रहने वाले बहुत होशियार होते हैं, बड़े दक्ष होते हैं। आप राजधानी का कुआं यहां भेज दें तो गांव का कुआं भी चलना सीख जायेगा और उसके साथ-साथ आपकी राजधानी में पहुंच जायेगा।"

मुझे लगता है अगर ऐसा कोई समाधि जगाने वाला मिल जाये कि जो कुएं को हमारे पास भेज दे। अपने होशियार कुएं को हमारे पास भेज दे तो संभव है कि हमारा देहाती कुआं भी चलना सीख जाए। आज तक राजा ने कभी उत्तर नहीं दिया और न फिर यह मांग की कि तुम्हारा कुआं हमारे यहां भेज दिया जाये। यह कुआं स्वयं को ही खोदना है, स्वयं के पास ही रखना है। कभी राजधानी में उसको भेजना नहीं है। जो लोग ऐसी घोषणाएं करते हैं कि हम अपना कुआं सबके पास भेज देंगे और सब को लाभान्वित कर देंगे, मुझे लगता है कि यह भी साधना के क्षेत्र में ठगी का प्रकार बन गया और इसने लोगों को भुलावे में डालकर अनेक कठिनाइयां पैदा कर दी हैं। समाधि का अभ्यास स्वयं को करना है। समाधि का प्रयत्न स्वयं को करना है। समाधि का अंतिम परिणाम है—तृष्णा-क्षय।

मैंने आपके सामने समाधि का अभ्यास-क्रम प्रस्तुत किया है। यदि हम समाधि का अभ्यास करना चाहें तो उसका क्रम क्या होगा, जिसकी पूरी श्रृंखला आपके सामने प्रस्तुत हो गई।

अनायास समाधि

दूसरा पहलू था—अनायास समाधि का। जिस समाधि के लिए अभ्यास की जरूरत नहीं होती, जिस समाधि के लिए किसी क्रम से गुजरने की जरूरत नहीं होती, कोई ऐसी आकस्मिक घटना घटती है, एकाएक समाधि की चेतना जाग

जाती है और जीवन में समाधि का अवतरण हो जाता है। उसके दस सूत्र हैं। भगवान् महावीर ने चित्त समाधि के दस सूत्रों का प्रतिपादन किया। उनमें पहला सूत्र है —धर्मचिन्ता। जीवन में कभी-कभी कोई क्षण आता है, जब जो सत्य पहले कभी सामने नहीं आया, अचानक वह सत्य सामने आ जाता है। पहले जो चिन्ता कभी सामने नहीं आई और चिन्तन सामने नहीं आया, अकस्मात् वह चिन्तन सामने आता है, अवतरित होता है और जीवन में समाधि का प्रस्थान शुरु हो जाता है। दुनिया में जितने बड़े सत्य उतरे हैं वे अभ्यास के द्वारा भी उतरे हैं, प्रयत्न करते-करते भी उतरे हैं किन्तु उनमें से अधिक सहज उतरे हैं। उनका सहज अवतरण हुआ है। चाहे, अध्यात्म की खोजों में आप देखें, चाहे वैज्ञानिक खोजों में। सत्य की खोज की किसी भी दिशा में आप जायें और देखें। बड़े सत्यों का अवतरण ऐसे हुआ कि जैसे कोई झटका लगा और सत्य सामने आ गया।

समाधि घटित हो गई

थावच्चापुत्र बहुत बड़े धनी का पुत्र था। जब वह छोटा था, तब पिता चल बसा। मां ने उसका पालन-पोषण किया। एक दिन बैठा था अपने घर में। पड़ोसी के घर पर कोई घटना घटी। बच्चा जन्मा। बहुत हर्ष मनाया गया। बाजे बजाये गए, शंख-नाद हुआ, गीत गाये गये, बड़े मधुर गीत। कुछ समय बीता। दो, चार, पांच घंटे बीते। ऐसा कोई संयोग मिला, जो जन्मा था वह मर गया। सब रोने लगे। हाहाकार हुआ। रोने के स्वर कानों को वेधने लगे। थावच्चापुत्र आया मां के पास। बोला—"मां! यह क्या! मैंने पांच घंटे पहले जो गाना सुना वह बड़ा प्रिय था, लुभाने वाला और कानों को सुख देने वाला था और अब ये शब्द कानों को अप्रिय लग रहे हैं, कानों में चुभ रहे हैं। दो प्रकार के गीत क्यों गाये जाते हैं? बेचारे को पता भी नहीं था। मां ने कहा—"बेटा! तू नहीं जानता। बच्चा जन्मा था, तब हर्ष मनाया गया, उल्लास मनाया गया, गीत गाये गये। और जो जन्मा था वह मर गया इसलिए सब रो रहे हैं। गीत नहीं गाये जा रहे हैं, यह रोना हो रहा है।' 'अच्छा तो मां! मुझे भी मरना पड़ेगा?' "वत्स! जिसने जन्म लिया है, उसे मरना पड़ेगा। दो दिन पहले या दो दिन पीछे, सब को मरना पड़ेगा।" यह सुनते ही थावच्चापुत्र को झटका लगा। उसका रोम-रोम बोल उठा—"मरना पड़ेगा।" उसने मां से पूछा – "ऐसा भी कोई उपाय है जिससे मरना न पड़े?" मां ने कहा—"भगवान् अरिष्टनेमि उपाय जानते हैं, मनुष्य अमर हो जाता है।" थावच्चापुत्र बोला—'तुम्हारा-मेरा संबंध समाप्त। मैं अरिष्टनेमि की शरण में जाऊंगा।" उसके समाधि की यात्रा शुरू हो गई। ऐसे क्षण जीवन में आते हैं।

राजा गया बैलशाला में, जहां गायें रहती थीं, बैल रहते थे। एक बैल को देखा। तत्काल कोई चेतना दौड़ गई और राजा ने कर्मचारी को बुलाकर कहा क्या यह वही बैल है जिसके कन्धे बड़े पुष्ट थे, बड़ा शक्तिशाली था। जब रथ पर जुतता था तो ऐसा लगता था कि बैल क्या चल रहा है, हवा ही चल रही है। क्या वही बैल है? कर्मचारी बोला—"हां महाराज! वही बैल है। राजा ने कहा—"यह ऐसा क्यों हुआ?" महाराज! बूढ़ा हो गया। राजा ने सोचा—बूढ़ा होने पर ऐसा होता है तो मुझे भी बूढ़ा होना पड़ेगा। बस, बात समाप्त। कहानी समाप्त हो गयी और समाधि की अवस्था जाग गई। राजा ने राजपाट छोड़कर समाधि की दिशा में प्रस्थान कर दिया। जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, धर्म की कोई ऐसी चिन्ता अचानक जाग जाती है, जो कभी नहीं जागी और आदमी समाधि की ओर प्रस्थान कर जाता है।

जब एक धक्का लगता है तब वह चेतना जाग उठती है जिससे मनुष्य की सारी जीवन-यात्रा बदल जाती है, आकर्षण बदल जाता है। वैराग्य की वह घटना घटती है। और वह सीधा समाधि में चला जाता है। समाधि के लिए प्रस्थान हो जाता है।

धर्म-चिन्ता और जाति-स्मृति

समाधि के दस सूत्र हैं। उनमें पहला सूत्र है—धर्म-चिन्ता और दूसरा सूत्र है—जाति-स्मृति—पूर्व-जन्म की स्मृति। आदमी उलझा रहता है। मन उलझा रहता है। बड़ी समस्या है मन की अशांति, असमाधि। उलझी हुई होती है चेतना। किन्तु कभी-कभी ऐसा अवसर आता है कि पूर्व-जन्म का ज्ञान अचानक उतर आता है। जैसे ही पूर्वजन्म का ज्ञान हुआ, सारी असमाधि समाप्त हो जाती है। मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र उलझ गया था। मुनि बना। रात को कठिनाइयां पैदा हुईं। साधु आते हैं, जाते हैं, ठोकरें लगती हैं। राजकुमार था, कभी ठोकरें नहीं खाईं। एक रात में काफी ठोकरें खा चुका। सोचा, यह क्या है। आया हूं साधना के लिए और लग रही हैं ठोकरें। बस, प्रातःकाल होते-होते महावीर के पास जाकर कहूंगा—यह लो अपना साधुत्व। मैं तो अपने महल में जाता हूं। ऐसा ही हुआ। आया, महावीर ने उसे जब पूर्वजन्म की स्मृति कराई। उसकी चेतना जाग गई। उसने पूर्वजन्म का साक्षात्कार किया। सारी बातें समाप्त हो गईं। असमाधि समाप्त, उलझनें समाप्त और समाधि की ऐसी यात्रा शुरू हुई कि उसने कहा—"भन्ते! केवल दो आंखों को छोड़कर, यह पूरा शरीर संघ की सेवा में समर्पित करता हूं। ठोकरें लगें चाहे कुछ भी लगें।" समाधि की यात्रा शुरू हो गई। चित्त समाधि का दूसरा कारण है—जाति-स्मृति। यह अभ्यास से नहीं होता। यह अनायास घटित हो जाता है।

स्वप्न-दर्शन

समाधि का तीसरा सूत्र है—स्वप्न-दर्शन। कभी-कभी ऐसा सपना आता है कि सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं। सपनों का बहुत बड़ा विज्ञान है। हमारे भारतीय दर्शन में, भारतीय तत्त्वविद्या में स्वप्न पर बहुत गहरी चर्चाएं हुई हैं। आज के मनोविज्ञान ने भी स्वप्न पर गहरा अध्ययन और विश्लेषण किया है। फ्रायड से लेकर आज तक के मनोवैज्ञानिकों ने स्वप्न-विद्या पर बहुत काम किया है। स्वप्नों का बहुत विवेचन हुआ है। उनके लाभ और अलाभ पर इतनी खोजें हुई हैं पुराने जमाने में भी कि जिनका आज शायद हम भारतीय लोगों को पूरा ज्ञान भी नहीं है। यथार्थ स्वप्न आता है। कोई-कोई ऐसा स्वप्न आता है, जीवन की सारी उलझनें समाप्त हो जाती हैं, समस्याएं समाप्त हो जाती हैं, अनुत्तरित प्रश्न उत्तरित हो जाते हैं, असमाहित मन समाहित हो जाता है। मन की शांति, मन की समाधि मन को उपलब्ध हो जाती है, केवक एक स्वप्न के द्वारा। स्वप्न चित्त-समाधि का तीसरा कारण बनता है।

देव-दर्शन : कितना यथार्थ

चित्तसमाधि का चौथा सूत्र है—देव-दर्शन। देवता दर्शन देते हैं, असमाधि दूर हो जाती है। आप इसे कल्पना न मानें। आज के लोगों ने देव-दर्शन को मात्र एक कल्पना मान रखा है। उन्हें विश्वास नहीं कि देवता भी कोई होता है, देवता भी दर्शन देता है। हमारी कठिनाई यह है कि हम इस स्थूल-चेतना, इन्द्रिय-चेतना मानश्चेतना और बुद्धि-चेतना के द्वारा जिन सत्यों को नहीं पकड़ पाते, उन्हें अस्वीकार करने में बहुत जल्दबाजी करते हैं। इतनी जल्दबाजी सत्य के क्षेत्र में नहीं होनी चाहिए। यह ठीक है कि हमें देवता का पता नहीं चलता। इसलिए नहीं चलता कि वे सूक्ष्म सत्ता में हैं, सूक्ष्म शरीर में हैं और हमारे पास सूक्ष्म को पकड़ने की बात प्राप्त नहीं हैं। क्या सूक्ष्म की चेतना को पकड़ने की शक्ति नहीं इसलिए अस्वीकार करते चले जाएं? पंखा चल रहा है। लाउडस्पीकर अपना काम कर रहा है। वह ध्वनि को विस्तृत कर रहा है। मुझे कहीं भी बिजली दिखाई नहीं देती। अस्वीकार कर दूं कि बिजली नहीं है। वह आंखों से दिखाई नहीं देती, अस्वीकार कर दूं कि बिजली नहीं है। जो आंखों से दिखाई न दे उसे अस्वीकार करते चले जायें तो सत्य के प्रति इतना घोर अन्याय होगा कि जितना अन्याय कोई कर नहीं सकता। हमारी अल्पक्षमता के कारण हम यदि सूक्ष्म तत्त्वों को न पकड़ सकें और उन्हें तत्काल अस्वीकार कर दें इससे बड़ा कोई असत्य नहीं हो सकता। यह बहुत बड़ा दुस्साहस होगा कि अपनी अक्षमता के कारण हम सत्यों को अस्वीकार कर दें। इतनी खोजें होने के बाद भी इतने सूक्ष्म यन्त्रों के बन जाने के बाद भी क्या वैज्ञानिकों ने उर्जा को देखा है? नहीं देख पाये, प्लाज्मा

निसर्ग की वात हमारे अधीन नहीं है, वह नियति है। यदि हमने ऐसा कोई पुरुषार्थ किया है और यदि हमारी नियति है तो जीवन में कोई घटना घट सकती है और अनायास समाधि में हम जा सकते हैं, किन्तु वह हमारे अधीन नहीं है। हमें तो वही करना चाहिए जो हमारे वश की वात है। अभ्यास करना हमारे अधीन है। हम ऐसा अभ्यास और पुरुषार्थ करें, नियति के भरोसे न वैठें, कोई ऐसा पराक्रम करें, जिससे चित्त की एकाग्रता होते-होते एकाग्रता उस विन्दु पर पहुंच जाए जहां वह तन्मयता में वदल जाए, ध्यान समाधि वन जाए, केवल चैतन्य का अनुभव शेप रह जाए और जीवन की सारी उलझनें, सारी समस्याएं, सारी असमाधियां मिट जाएं और जीवन में परम आनन्द, परम चैतन्य और परम शक्ति का अवतरण हो जाए।

१९. समाधि और प्रज्ञा

- स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
  तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चऽन्तरायं पकरेइ कम्मं॥
- सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरन्तराए।
  अणासवे झाणसमाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥

(उत्तरा० ३२।१०८, १०९)

- वीतराग पुरुष सब दिशाओं में कृतकृत्य होकर क्षणभर में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय कर देता है।
- तत् पश्चात् वह सब कुछ जानता है, देखता है तथा मोह और अन्तराय-रहित हो जाता है। अन्त में वह आस्रवरहित और ध्यान के द्वारा समाधि में लीन और शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

१. समाधि की निष्पत्तियां—
- प्रज्ञा का जागरण—अलौकिक चेतना, अति-चेतना और अतीन्द्रिय चेतना का जागरण।
- दिशा परिवर्तन।
- शारीरिक पहलू—चैतन्य-केन्द्र निर्मल, चुम्बकीय क्षेत्र का निर्माण।
- मानसिक पहलू—संतुलन। शोक और उद्वेग की कमी।
- आध्यात्मिक पहलू—आदतों में परिवर्तन।

२. अध्यात्म की भाषा—

कषाय-चेतना का शमन किए बिना अतिचेतना को नहीं जगाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव को बदले बिना व्यक्तित्व को नहीं बदला जा सकता।

३. अध्यात्म की भाषा—

अहिंसा का विकास किए बिना संघर्ष और युद्ध के उन्माद को नहीं मिटाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा किए बिना, स्वतः-चालित नाड़ी-संस्थान के साथ संपर्क स्थापित किए बिना विश्व-मैत्री और सामाजिक संतुलन की स्थापना नहीं की जा सकती।

४. अध्यात्म की भाषा—

अच्छे भावों का विकास किए बिना भय और चिंता को नहीं मिटाया जा सकता।

विज्ञान की भाषा—

प्रकाश वाले रंगों का ध्यान किए बिना भय और चिन्ता को नहीं मिटाया जा सकता।

५. अतिचेतना का जागरण होने पर—

- मानसिक स्वास्थ्य का विकास होगा, पागलपन नहीं होगा।
- चिन्ता, भय आदि का आतंक नहीं होगा।
- दूसरों के स्वत्व को हड़पने की भावना नहीं होगी।
- संघर्ष और युद्ध का उन्माद नहीं होगा।
- शत्रुता और सामाजिक असंतुलन नहीं होगा।

उन्नीस

समाधि और प्रवृत्ति

समाधि का अपना मूल्य है, परन्तु वहुत बार मूल्य को समझने के लिए दूसरे मूल्य का सहारा लेना होता है। एक वस्तु का मूल्य जव स्वयं समझ में नहीं आता तो व्यक्ति दूसरे के मूल्य का सहारा लेता है। समाधि अच्छी है। समाधि-काल में आनन्द का अनुभव होता है, इतने से ही आदमी को सन्तोष नहीं होता। वह जानना चाहता है, समाधि से क्या होगा? क्या मिलेगा? क्या उपलब्धि होगी? उपलब्धि का प्रश्न हर प्रवृत्ति के साथ जुड़ा हुआ होता है। जिसकी उपलब्धि बड़ी होती है उसका मूल्य वहुत वढ़ जाता है। जिसकी उपलब्धि बड़ी नहीं होती, छोटी होती है, जिसका परिणाम बहुत वड़ा नहीं होता उसके लिए आकर्षण भी स्थायी या अधिक नहीं होता। आकर्षण स्थाई तव वनता है जव यह पता चले कि इसका परिणाम वहुत स्थाई होता है, वहुत ही सुखद होता है और इससे वहुत बड़ी उपलब्धि हो सकती है। समाधि के सामने भी यही प्रश्न है। समाधि की साधना करने से क्या उपलब्ध होगा? क्या आदमी निकम्मा वन जायेगा? आलसी होकर, अकर्मण्य होकर वैठ जायेगा या कुछ करेगा? करेगा तो समाधि कैसे टिकेगी और समाधि होगी तो वह कैसे करेगा? कार्य और समाधि में जैसे भारी विरोध हो वैसा हमारी धारणा में समाया हुआ है। सव कुछ करता हुआ व्यक्ति समाधि में नहीं रह सकता। जैसे समाधि का और प्रवृत्ति का कोई जन्मजात विरोध हो। यदि समाधि मनुष्य को अकर्मण्य वना दे, उसके हाथ ठिठुर जायें, पैर भी ठिठुर जायें, कुछ न कर सके. समाधि जड़ वना दे, तो उस समाधि का उपयोग जो जड़ वनना चाहे उसके लिए हो सकता है। उस समाधि का मूल्य उस व्यक्ति के लिए हो सकता है जो अपनी शैय्या पर सोकर ही दिन काटना चाहे। उन लोगों के लिए वैसी समाधि का मूल्य नहीं होता जो जीवन को जीवन की भांति जीना चाहते हैं और प्रवृत्ति में रहते हुए जीना चाहते हैं, कुछ करते हुए जीना चाहते हैं, केवल निष्क्रिय और अकर्मण्य होकर वैठना नहीं चाहते। क्या समाधि से कर्मण्यता

आती है ? इस प्रश्न के विषय में जब तक हमारी धारणा स्पष्ट नहीं होगी समाधि का सही-सही मूल्यांकन नहीं हो सकेगा, जीवन में समाधि का अवतरण भी नहीं हो सकेगा और उसकी साधना भी नहीं हो सकेगी।

समाधि की अवस्था : चित्रकार की अवस्था

संस्कृत साहित्य में कुछ पहेलियों का प्रतिपादन हुआ है। एक पहेली है। एक लड़की से पूछा गया "तुम किस कुल की पुत्री हो ?" लड़की ने उत्तर दिया—

"विहिता निर्विषा नागाः, गजाः शक्तिविवर्जिताः।
बलमुक्ताः भटा येन, तस्याऽहं कुलबालिका॥

जिसने सांपों को निर्विष, हाथियों को शक्तिहीन और योद्धाओं को बलहीन बना डाला है, उस कुल की मैं लड़की हूं।" कौन हो सकता है ऐसा व्यक्ति जो सांपों को विषशून्य बना दे, हाथियों को शक्तिशून्य बना दे और योद्धाओं को आक्रामक वृत्ति से शून्य बना दे। वह चित्रकार हो सकता है। लड़की ने कहा—मैं चित्रकार की पुत्री हूं। चित्रकार में यह क्षमता है कि वह सांपों को विषशून्य बना देता है। सांप, भयंकर सांप जो ऐसा लगता है कि मानो काटने आयेगा, किन्तु कोरा चित्र का है, उसमें जहर नहीं होता। भयंकर हाथी, किन्तु शक्ति नहीं है। सामने चले जाओ, छू लो, कुछ भी नहीं। भयंकर योद्धा चित्रित है, पर आक्रमण की कोई ताकत नहीं।

समाधि की अवस्था ठीक चित्रकार की अवस्था है। समाधि का जीवन जीने वाला व्यक्ति उस कुशल चित्रकार की तरह अपने जीवन को बना देता है जिसमें संवेदन के केन्द्र तो रहते हैं पर उनकी क्षमताएं चली जाती हैं। समाधि की साधना करने वाले व्यक्ति में भी क्रोध के संवेदन का केन्द्र तो रहेगा पर सांप का जहर नहीं रहेगा, काटेगा नहीं, फुफकारा भी नहीं करेगा। क्रोध का संवेदन-केन्द्र विष-शून्य बन जायेगा। समाधि की साधना करने वाले व्यक्ति में अहंकार का केन्द्र निष्क्रिय बन जायेगा। अहंकार की हाथी से तुलना की जाती है। उसका अहंकार का केन्द्र शक्तिशून्य बन जायेगा। योद्धा भी निष्प्राण बन जायेगा, आक्रामकवृत्ति उसकी समाप्त हो जायेगी। समाधि में न क्रोध होगा, न अहंकार होगा और न आक्रामकवृत्तियां होंगी, न लड़ने की वृत्तियां होंगी। सारी समाप्त हो जायेंगी। केन्द्र बने रहेंगे वैसे ही, जैसे चित्र में बने हैं। सक्रिय नहीं होंगे। समाधि का अर्थ कर्म छोड़ना नहीं है, सक्रियता को छोड़ना नहीं है किन्तु सक्रियता को बदल देना है। असमाधि की अवस्था में हमारा चेतन मन अधिक सक्रिय होता है। हमारे ये संवेदन-केन्द्र अधिक सक्रिय होते हैं। समाधि की अवस्था में चेतन मन निष्क्रिय हो जाता है, अन्तर्मन, अन्तर् की चेतना अधिक सक्रिय बन जाती है। हमारे मस्तिष्क के संवेदन-केन्द्र निष्क्रिय हो जाते हैं। सूक्ष्म-चेतना के स्तर पर

कार्य करने वाले चैतन्य-केन्द्र अधिक जागरूक बन जाते हैं। बाहर को निष्क्रिय बनाना और भीतरी चेतना को सक्रिय बनाना, इतना अन्तर होता है। जीवन की दिशा बिल्कुल बदल जाती है।

प्रज्ञा का अवतरण

समाधि की सबसे बड़ी उपलब्धि है—प्रज्ञा। समाधि की अवधि जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती है, प्रज्ञा जागती जाती है। प्रज्ञा बुद्धि नहीं है, प्रज्ञा मन नहीं है। मन से परे और बुद्धि से परे जो चेतना जागती है उसका नाम है—प्रज्ञा। प्रज्ञा, अनुभव, साक्षात्कार। जिस चेतना में शक्ति के साक्षात्कार की क्षमता आती है उस चेतना का नाम है—प्रज्ञा। साक्षात्कार होता है, सत्य को साक्षात् देखा जाता है, साक्षात् अनुभव किया जाता है। किसी माध्यम से नहीं देखा जाता, किसी दूसरे के सहारे से नहीं देखा जाता। न आंखों के सहारे की जरूरत है, न कान के सहारे की जरूरत है। उसमें इन्द्रिय के सहारे की जरूरत नहीं है। मस्तिष्क के सहारे की जरूरत नहीं है। बुद्धि के सहारे की जरूरत नहीं है। सब सहारे समाप्त हो जाते हैं। अवलम्बन सारे छूट जाते हैं। निरालम्ब चेतना जागती है। जिस चेतना को किसी आलम्बन की जरूरत नहीं रहती, अपेक्षा नहीं रहती, वह चेतना है प्रज्ञा। प्रज्ञा जब जागती है तब कुछ अलौकिक बातें जीवन में आनी शुरू हो जाती हैं।

लौकिक-अलौकिक चेतना की फलश्रुति

प्रज्ञा की चेतना का पहला स्फुलिंग है अलौकिक चेतना। जैसे-जैसे जीवन में समाधि का प्रवेश होता है, वैसे-वैसे प्रज्ञा जागती है और प्रज्ञा का पहला स्फुलिंग होता है अलौकिक चेतना। उससे अनुशासन, ज्ञान, तपस्या, चरित्र—सबको प्रतिष्ठा दी जाती है।

हम देखते हैं, अनुशासन लाने के कितने प्रयत्न होते हैं? विनम्रता के लिए कितना प्रयत्न होता है। न अनुशासन आता है जीवन में और न विनम्रता आती है। हर माता-पिता चाहता है कि सन्तान विनय करे, अनुशासन में रहे। हर अध्यापक चाहता है, छात्र अनुशासन में रहे। हर राजनेता चाहता है कि सारी जनता अनुशासन में रहे। चाहते हैं, न सन्तान अनुशासन में रहती है, न छात्र अनुशासन में रहते हैं और न जनता अनुशासन में रहती है। इसलिए नहीं रहती कि लौकिक चेतना में अनुशासन चल नहीं सकता, निभ नहीं सकता। लौकिक चेतना का मुख्य सूत्र है—अहंकार। अहंकार सुरक्षित रहे, अहंकार को चोट न लगे। हर आदमी सोचता है कि मेरे अहंकार को कोई चोट नहीं लगनी चाहिये। माता-पिता छोटे बच्चे को भी कुछ बात कहते हैं, तब उसे अनुभव होता है कि उसके अहं पर चोट लगा दी। बस, जैसे ही चोट लगती है, वह फुफकार उठता है

सांप की तरह, और फन उठ जाता है। एक कर्मचारी, नौकर, छोटे से छोटा कहलाने वाला आदमी भी अहं पर चोट को सहन नहीं करता। कहता है, बाबूजी! चाहे आप और कुछ कहिये पर मेरे अहं पर चोट न करें। मैं इसे सहन नहीं कर सकता। जहां अहंकार ही जीवन का तत्व होता है वहां अनुशासन की बात नहीं हो सकती। जैसे ही अनुशासन आया, अहं पर चोट लगी और झगड़ा शुरू हो जाता है। आज के ये सारे पारिवारिक झगड़े, संस्थाओं के झगड़े और राज्यों के झगड़े अहं की चोट के झगड़े हैं। एक आदमी दूसरे आदमी पर कुछ भी अनुशासन करना चाहता है और सामने वाले को लगता है, मेरे अहं पर चोट हो रही है। तत्काल झगड़े शुरू हो जाते हैं। लौकिक चेतना में अनुशासन वाली बात समझ में नहीं आती। विवशता तो होती है, अनुशासन नहीं होता। बाध्यता होती है। जहां बाध्यता होती है, विवशता होती है, आदमी बोलता नहीं पर मन ही मन कितनी भयंकर आग जल जाती है और जब मौका मिलता है तो कितना भयंकर प्रतिशोध लेता है, यह सब जानते हैं। समय आने पर प्राण लेने के लिए भी तैयार हो जाता है। लौकिक चेतना में अनुशासन की बात भी नहीं होती और लौकिक चेतना में ज्ञान भी बहुत लाभदायी नहीं होता। कहा जाता है—**विद्या ददाति विनयम्**। पर लौकिक चेतना में विद्या विनय कैसे देगी? नहीं दे सकती। जब हमारी चेतना लौकिक है तो ज्ञान का उद्देश्य होगा केवल कौशल प्राप्त करना। और वह कौशल कि जिससे अधिक से अधिक कुछ बटोरा जा सके, इकट्ठा किया जा सके लौकिक चेतना रहती है तब तक यह तप और आचार भी बहुत लाभदायी नहीं बनता। जितना बनाना चाहिए उतना लाभप्रद नहीं बनता। बहुत सारी तपस्यायें भी की जाती हैं। यदि उनके साथ लौकिक चेतना जुड़ गई तो कहीं प्रतिष्ठा की भावना आ जाती है, कहीं सम्मान की भावना आ जाती है, कहीं कुछ धन पाने की भावना भी आ जाती है। और भी न जाने कितनी लौकिक भावनाएं जुड़ जाती हैं। आचार के साथ भी जुड़ जाती हैं। कोई आदमी प्रतिष्ठा पाले कि "बड़ा सच्चरित्र है," बस, प्रतिष्ठा से ही उसे इतना संतोष हो जाता है और लगता है कि इस साख से भी मुझे बहुत कुछ मिलेगा। जब तक लौकिक चेतना रहती है तब तक इनमें परिवर्तन नहीं हो सकता। समाधि की पहली घटना है अलौकिक चेतना का निर्माण। चेतना अलौकिक बन जाती है। अनुशासन होता है। कष्ट नहीं होता बिल्कुल कष्ट नहीं होता, क्योंकि अलौकिक चेतना तब जागती है जब अहंकार का विसर्जन होता है। जब व्यक्ति अहंकार को विसर्जित कर देता है, तब समाधि आती है, तब अलौकिक चेतना जागती है। और जब अहं ही भीतर नहीं है, फुफकारने वाला और काटने वाला ही भीतर नहीं है फिर कोई कष्ट नहीं होता। अनुशासन कितना ही हो कोई कष्ट नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने अपने पट्टधर शिष्य भारीमालजी से कहा—यदि तुम्हारी कोई भी शिकायत आई

तो तुम्हें एक तेला प्रायश्चित्त करना होगा। तीन उपवास करने होंगे प्रायश्चित्त के रूप में। भला, छोटी-सी बात और इतना बड़ा प्रायश्चित्त! कैसे हो सकता है? लौकिक चेतना होती है, तत्काल अहं चोट करने लग जाता है! क्या गुरु हैं। इतने निर्दयी! इतनी छोटी बात के लिए इतना बड़ा प्रायश्चित्त! क्या मैं कमजोर हूं। न जाने कितने विकल्प उठते हैं और व्यक्ति की चेतना कहां से कहां चली जाती है। पर जब अहंकार नहीं रहा तब विकल्प कैसे उठ सकते हैं। भारीमालजी बोले—"गुरुदेव! गलती हो गई और तेला प्रायश्चित्त है यह तो ठीक बात है, पर लोगों को पता चले कि ऐसा होता है, इनको तीन उपवास करने पड़ते हैं तो लेने वाले लोग भी बहुत होते हैं, कोई ऐसे ही झूठी शिकायत कर दे तो? आचार्य भिक्षु ने कहा—"झूठी शिकायत होगी तो भी तेला तो करना पड़ेगा।" यह कैसे गुरुदेव! गलती का तो प्रायश्चित्त हो ठीक बात है, पर बिना गलती के दंड कैसे? आचार्य भिक्षु ने कहा—"गलती करने पर प्रायश्चित्त हो तो समझ लेना मैंने गलती का प्रायश्चित्त किया और बिना गलती हो तो समझ लेना पुराने संस्कारों का मैंने ऋण चुकाया। तेला करना होगा। उन्होंने स्वीकार कर लिया, कोई कठिनाई नहीं।

यह घटना तब घट सकती है जब अलौकिक चेतना जाग जाए। लौकिक चेतना में ऐसा कभी नहीं होता। अलौकिक चेतना जागती है अहंकार छोड़ने से। अहंकार छोड़े बिना समाधि का प्रश्न ही नहीं उठता। जो अहंकार मनुष्य को ज्यादा से ज्यादा सताता है और आदमी यही समझता है कि ज्यादा से ज्यादा मुझे बड़ा बनाने वाला यही है। हमारी कितनी भ्रान्तियां होती हैं। और न जाने हम अपने अज्ञान के कारण, मूर्च्छा के कारण, मोह के कारण कितनी भ्रान्तियों को पालते हैं, भ्रान्तियों का जीवन जीते हैं। जो सबसे ज्यादा सताते हैं उनको तो सबसे निकट मानते हैं और जो सताने वाले नहीं हैं, उनको दुश्मन मान लेते हैं। आदमी आदमी को कभी नहीं सताता। आदमी आदमी का कभी दुश्मन नहीं बनता। दुश्मन बनता है इसलिए कि अहंकार एक दुश्मन भीतर बैठा है। इसलिए हम आदमी को दुश्मन मान लेते हैं।

अलौकिक चेतना जब जागती है तब ज्ञान की दिशा भी बदल जाती है। विद्या का मुख्य उद्देश्य बन जाता है—"एगग्गचित्तो भविस्सामि"—चित्त को निर्मल बनाऊंगा, एकाग्र बनाऊंगा। चित्त की एकाग्रता मुख्य उद्देश्य बन जाता है। सारी जीवन की दिशा बदल जाती है। हमारी कठिनाइयां और उलझनें चित्त की चंचलता के कारण बढ़ती हैं। जब चित्त को एकाग्र करने की बात मुख्य बन जाती है तब समस्यायें अपने आप सुलझती चली जाती हैं। अलौकिक चेतना जागती है तब तपस्या का और आचार का उद्देश्य बदल जाता है। वह व्यक्ति ऐहिक सुखों के लिए कोई तप और आचार का पालन नहीं करता; ऐहिक पूजा

प्रतिष्ठा के लिए कोई तप और आचार का अनुशीलन नहीं करता। वह केवल आत्म-शुद्धि के लिए, केवल पूर्वकृत दुःखों को समाप्त करने के लिए, अर्जित संस्कारों और कर्मों को समाप्त करने के लिए तप का अनुशीलन करता है, आचार का अनुशीलन करता है। सारी दिशा बदल जाती है। समाधि की साधना का परिणाम है जीवन की दिशा में परिवर्तन। कोई ध्यान करता चला जाए, समाधि की साधना करता चला जाए और जीवन में कोई परिवर्तन न आए, मानता हूं, सारा प्रयत्न व्यर्थ चला गया। दही का मन्थन करता चला जाए और नवनीत न निकले, श्रम व्यर्थ गया। किसलिए मन्थन? नवनीत के लिए। और यदि नवनीत मिलता ही नहीं, कोरा हाथ चलता चले, रस्सी चलती जाए, कोरा श्रम चलता जाए और पसीने की बूंदें टपकती चली जाएं, नवनीत न मिले तो प्रयत्न सार्थक नहीं हुआ। हम व्यर्थ प्रयत्न करना नहीं चाहते। प्रयत्न की अपनी सार्थकता होनी चाहिए। समाधि की सार्थकता है जीवन का परिवर्तन।

समाधि : रूपान्तरण की प्रक्रिया

परिवर्तन के तीन पहलू हैं—शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। समाधि के द्वारा घटित होने वाले परिवर्तन का पहला पहलू है शारीरिक परिवर्तन। शरीर में भी परिवर्तन आना चाहिए। शरीर के रसायन बदलने चाहिए। समाधि की साधना के द्वारा शरीर के रसायनों में परिवर्तन होना जरूरी है। हमारे रासायनिक संतुलन के दो मुख्य स्रोत हैं, एक पिच्यूटरी और दूसरा एड्रीनल। एड्रीनल की दो ग्रन्थियां और पिच्यूटरी—ये तीन ग्रंथियां शारीरिक रसायन का संतुलन करती हैं। यानी शरीर में जो रसायन हैं उनमें संतुलन बनाए रखती हैं। यदि समाधि की साधना के द्वारा इन तीनों ग्रन्थियों के स्रावों में परिवर्तन नहीं हुआ, इनके हारमोन्स में परिवर्तन नहीं हुआ, रसायन नहीं बदला तो फिर मानना चाहिए कि समाधि ठीक सध नहीं रही है, समाधि का अभ्यास ठीक नहीं हो रहा है। ये बदलने चाहिए।

चैतन्य-केन्द्रों का निर्मलीकरण

दूसरी बात है कि हमारे शरीर में सैकड़ों-सैकड़ों चैतन्य-केन्द्र हैं, चेतना को जगाने वाले चुम्बकीय क्षेत्र Magnetic Field या विद्युत् क्षेत्र Electric Field सैकड़ों-सैकड़ों हैं। ये सब निर्मल बनने चाहिए। ये निर्मल बनते हैं तो उनमें से अतीन्द्रिय चेतना की रश्मियां बाहर निकलती हैं, अतिचेतना जागती है, अतीन्द्रिय चेतना जागती है। ये निर्मल नहीं बनते हैं, मैले रह जाते हैं, तो फिर उनमें से ज्ञान की रश्मियां बाहर नहीं आ सकतीं और व्यक्ति का ज्ञान प्रज्ञा की कोटि

में नहीं आ सकता। प्रज्ञा तब जागती है जब शरीर के चैतन्य-केन्द्र सब निर्मल बन जाते हैं।

राजा ने चित्रकारों को बुलाया। बुलाकर कहा—चित्रशाला बनानी है। जो सबसे सुन्दर बनाएगा उसे पुरस्कृत किया जायेगा। चित्रशाला यदि ठीक नहीं बनी, उसे दण्ड दिया जाएगा। बड़ा मोहक आकर्षण भी था पुरस्कार का और बड़ा भय भी था निर्वासित होने का। दोनों बातें होती हैं तो आदमी को बहुत सोचना पड़ता है। सभी चित्रकार पलायन कर गए। केवल दो चित्रकार सामने आए और दोनों ने कहा—"हम आपकी शर्त को स्वीकार करते हैं।" चित्रशाला का निर्माण शुरू हुआ। आधा खण्ड एक को और आधा एक को दे दिया और बीच में एक पर्दा डाल दिया। दोनों स्वतन्त्र रूप से निर्माण करते। कोई किसी को देख नहीं सकता। कोई किसी की नकल नहीं कर सकता। अपनी स्वतन्त्रता से बनाएं। पूरी व्यवस्था हो गई। चित्रशाला बन गई। राजा आया देखने के लिए। आधा खण्ड देखा। इतना भव्य, इतना आकर्षक, इतना सुन्दर, बहुत मनोरम। बड़ा प्रसन्न हुआ, साधुवाद दिया। पुरस्कार तो मिलेगा ही। अब दूसरे खण्ड में गया। जाकर देखा, कुछ भी नहीं। एक भी चित्र नहीं। पूछा—क्या किया तुमने? चित्र नहीं बनाया? क्या मखौल किया है? परिणाम क्या होगा पता है तुम्हें? चित्रकार बोला, 'महाराज! मुझे पता है। मैं जानता हूं। आप आदेश दें अपने कर्मचारियों को कि पर्दा हटा दें। यह पर्दा बीच में न रहे। जैसे ही पर्दा हटा, सारी चित्रशाला जगमगा उठी। जो उस खंड में देखा वह सारा का सारा यहां दिख रहा है। राजा ने कहा—क्या तुमने उसके खंड को देखा है? नहीं, महाराज कभी नहीं देखा। बीच में पर्दा था, आपकी आज्ञा थी, देखने कैसे जा सकता था? राजा ने कहा—"जो वहां है वही यहां है। सारा का सारा। एक भी कम नहीं, एक भी ज्यादा नहीं। एक राई भर का भी अन्तर नहीं। यह कैसे हुआ? बड़ा आश्चर्य है। चित्रकार बोला—'महाराज! मैंने एक भी चित्र नहीं बनाया। केवल भींत की घुटाई की है। यह मेरी घुटाई की करामात है कि मैंने धरातल को इतना निर्मल बना दिया कि कोई भी हो इसमें प्रतिबिम्बित हो जाएगा। इसमें प्रतिबिम्ब लेने की क्षमता मैंने पैदा कर दी है। एक चमत्कार हुआ।" चित्र बनाना इतना चमत्कार नहीं था जितना यह चमत्कार कि पर्दा हो तब कुछ भी नहीं और पर्दा हटे तो सब कुछ हो जाए।

हमारे शरीर की भी यही दशा है कि जब तक ज्ञान का आवरण, दर्शन का आवरण, मोह का आवरण, अन्तराय का प्रतिरोध—ये रहते हैं तब कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं होता। सत्य सामने होता है पर प्रतिबिम्ब उसका नहीं होता। साधक समाधि की साधना के द्वारा अपने शरीर के चैतन्य-केन्द्रों की इतनी घुटाई कर देता है, इतना निर्मल बना देता है, उनके मल को इतना साफ

देता है, इतनी निर्मलता ला देता है कि वहां सब कुछ प्रतिविम्बित हो जाता है। चित्र बनाने की जरूरत नहीं। चित्र बनाने वाले बनाते हैं और उसके सामने सारे चित्र प्रतिविम्बित हो जाते हैं। समाधि का एक पहलू है—शरीर के चैतन्य-केन्द्रों को निर्मल करना।

मन का संतुलन

समाधि का दूसरा पहलू है—मानसिक सन्तुलन। समाधि की साधना जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, मन का सन्तुलन बढ़ता जाता है। टेम्परेचर संतुलित होता चला जाता है। गर्मी का मौसम आने पर बहुत ताप नहीं बढ़ता और सर्दी का समय आने पर बहुत ताप नहीं घटता। ताप संतुलित रहता है। फिर वह मौसम के साथ-साथ नहीं चलता किन्तु अपने साथ-साथ चलता है। हर आदमी मौसम के साथ चलता है। थोड़ा उत्तेजना का वातावरण होता है, दिमाग गर्म हो जाता है। थोड़ी प्रशंसा का, पूजा का, लाभ का, सम्मान का वातावरण होता है, आदमी बिल्कुल ठंडा हो जाता है।

एक आदमी ढाबे में भोजन करने बैठा। पूछ लिया कि दाल में नमक तो ज्यादा नहीं है? रसोइया बोला—दाल में नमक तो ज्यादा नहीं है परन्तु नमक के अनुपात में दाल कम है। नमक को पूरा करने के लिए दाल ज्यादा चाहिये और फिर दाल को पूरा करने के लिए नमक ज्यादा चाहिये। यह चलता रहता है। एक मांग के लिए दूसरी मांग बराबर बनी रहती है। एक मांग होती है तो उसकी पूर्ति के लिए दूसरी मांग आती है और दूसरी मांग आ जाती है तो उसके लिए पहली मांग को ज्यादा बढ़ाना पड़ता है। मन का सन्तुलन नहीं रहता।

जीवन दिशा का परिवर्तन

समाधि से जीवन की दिशा बदलती है तो मानसिक पहलू में परिवर्तन होता है, मन संतुलित हो जाता है। और मन का संतुलन होने पर घटना बड़ी नहीं बनती। मन का संतुलन नहीं होता, एक राई जितनी घटना, पहाड़ जैसी बन जाती है। घटना कभी बड़ी नहीं होती। घटना अपने आपमें कोई छोटी नहीं होती। घटना अपने आप में कोई बड़ी नहीं होती। जिसके मन का संतुलन नहीं होता वह छोटी घटना को भी बहुत बड़ा रूप दे देता है, भयंकर बना देता है और जिसके मन का संतुलन होता है वह बहुत बड़ी बात को एक मिनट में समाप्त कर देता है। मन का संतुलन चाहिए।

आचार्य भिक्षु से एक व्यक्ति ने पूछा—तुम कौन हो? उन्होंने कहा "मेरा नाम भिक्षु है।" अच्छा भिक्षुजी तुम हो। बहुत बुरा हुआ। तुम्हारा मुंह देख लिया। तुम्हारा मुंह देखने वाला नरक में जाता है।" आचार्य भिक्षु ने कहा—"तुम्हारा मुंह

देखनेवाला कहां जाता है ? उस व्यक्ति का अहंकार जाग गया। उसने कहा—मेरा मुंह देखने वाला स्वर्ग में जाता है।" आचार्य भिक्षु ने कहा—"बहुत अच्छा हुआ। तुमने मेरा मुंह देखा और मैंने तुम्हारा मुंह देखा। तुम्हारे लिए बुरा हुआ। मेरे लिए तो बहुत अच्छा हुआ कि मैं तो स्वर्ग में चला जाऊंगा।" यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जिसके मन का सन्तुलन होता है। मन का सन्तुलन न हो और किसी को कह दे कि तुम्हारा मुंह देख लिया, नरक में जाऊंगा तो नरक में जाए या न जाए, पांच सात चांटें तो जमा ही दे। हां, नरक का नमूना तो वहीं दिखा दे। जीवन की दिशा बदलती है, यह समाधि का तीसरा लाभ है।

स्वभाव परिवर्तन

समाधि की साधना का आध्यात्मिक पहलू यह है कि आदतें बदलनी शुरू हो जाती हैं। साधना करे, धर्म की उपासना करे, आराधना करे, ध्यान करे, समाधि का अभ्यास करे और आदतें न बदलें, उतना ही गुस्सा, उतना ही अहंकार, उतना ही कपट, उतना ही लालच, उतनी ही घृणा, ईर्ष्या, द्वेष बराबर चलता रहे तो लगता है कि हमने शरीर के दो भाग बना लिये। शरीर के आधे हिस्से में धर्म चलता रहे और आधे हिस्से में ये बुरी आदतें चलती रहें। आधे में गर्म पानी और आधे में ठंडा पानी, दोनों बराबर चलते रहें। जब गर्म की जरूरत हो गर्म निकाल लो और ठंडे की जरूरत हो तो ठंडा पानी निकाल लो। जब धर्म की जरूरत हो तो धर्म कर लें और लड़ने की, बुरी आदतों की जरूरत हो तो उन्हें निकाल लें। अगर ऐसा होता है तो इससे बड़ी जीवन की कोई विडम्बना नहीं हो सकती, और धर्म की अर्थशून्यता नहीं हो सकती। यदि धर्म ऐसा ही है तो वैसे धर्म का भार ढ़ोने की जरूरत नहीं लगती। व्यक्ति के मन में तो इतनी प्रतिक्रिया भी जाग सकती है कि ऐसे धर्म को समाप्त कर दिया जाये तो कोई भी हानि होने वाली नहीं है। धर्म का, ध्यान का, और समाधि का आध्यात्मिक पहलू है आदतों में परिवर्तन। हमारी आदतें बदलनी चाहिए। मैं नहीं कहता, आज ही आपने ध्यान की आराधना शुरू की, समाधि की आराधना शुरू की, आज ही आप बिल्कुल बदल जायेंगे। ऐसा स्वाभाविक नहीं। किन्तु आज ही परिवर्तन का क्रम शुरू हो जायेगा। गर्म घड़े पर एक पानी की बूंद डाली, ऐसा तो नहीं कि पहली बूंद डाली और घड़ा गीला हो जायेगा। यह तो नहीं हो सकता, किन्तु घड़ा गीला तब हो सकता है कि एक-एक बूंद डालते-डालते एक क्षण ऐसा आता है कि घड़ा बिल्कुल गीला हो जाता है। क्या अन्तिम बूंद ने घड़े को गीला किया है ? अन्तिम बूंद कभी गीला नहीं कर सकती। यदि पहली बूंद घड़े को गीला नहीं कर पाती तो अन्तिम बूंद घड़े को गीला कभी नहीं कर सकती। यदि साधना का, समाधि का, ध्यान का पहला क्षण आदतों में परिवर्तन नहीं ला सकता तो कोई भी क्षण

फिर परिवर्तन नहीं ला सकना। पहले ही क्षण आदतों में परिरवर्तन शुरू हो जाना चाहिये, तब सार्थकता है, तब कुछ अर्थ समझ में आता है कि धर्म का अर्थ है, ध्यान का कोई भी प्रयोजन है और समाधि का भी कोई उद्‌देश्य है। यदि यह न हो तो निरर्थक, निष्प्रयोजन और निरुद्‌देश्य बात चले, इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं हो सकती।

हम पदार्थों को नहीं, पदार्थ हमें भोगते हैं

हमारी आदतों में परिवर्तन आना चाहिए। उस परिवर्तन की कसौटी है हमारा व्यवहार। समाधि की साधना करने वाले का व्यवहार बदलना चाहिए, दूसरे के प्रति दृष्टिकोण बदलना चाहिए, दूसरों के प्रति भावना बदलनी चाहिए, दूसरे के प्रति सोचने का तरीका बदलना चाहिए। पदार्थ के प्रति भी हमारा दृष्टिकोण बदलना चाहिए। जो व्यक्ति समाधि की साधना नहीं करता उसे पदार्थ भोगता है और जो व्यक्ति समाधि की साधना करता है वह पदार्थ को भोगता है। एक आदमी रोटी को खाता है, दूसरे आदमी को रोटी खाती है। कितना बड़ा अन्तर है? रोटी तो वही खा सकता है जिसने समाधि की साधना की है। जिसने समाधि की साधना नहीं की वह रोटी को नहीं खा सकता, रोटी उसे खाने लग जाती है। पदार्थ को भोगने के लिए पूरी शक्ति चाहिए। अन्यथा आदमी पदार्थ को नहीं भोग सकता, पदार्थ उसे भोगने लग जाता है। **"भोगा न भुक्ताः, वयमेव भुक्ताः"**—हमने भोगों को नहीं भोगा, भोगों ने हमें भोग लिया। **"कालो न यातो, वयमेव याताः"**—काल नहीं बीता, हम ही बीत गए। यह स्थिति असमाधि की अवस्था में बनती है।

सन्यासी राजा के निमन्त्रण पर महल में चला गया। कुछ देर रहा और जाने की बात नहीं हुई। राजा ने सोचा—मैं तो एक अतिथि के तौर पर लाया था, दो-चार दिन रहेगा पर जम गया यहां आकर। जाना ही नहीं है। जाने का नाम ही नहीं लेता। आखिर राजा बोला—महाराज! जंगल में चलें। बहुत दिन हो गए बैठे-बैठे, जंगल-यात्रा करें, आनन्द मिलेगा। संन्यासी उठ खड़ा हुआ। चल दिया। जाकर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। राजा बोला—'एक बात पूछना चाहता हूं। मैं भी महल में रहता हूं और आप भी मेरे महल में रहे और लगता ऐसा था मुझे कि आप वापस नहीं जाना चाहते थे। रह गए, तो मुझ में और आप में क्या अन्तर हुआ? सन्यासी मुस्कराया और बोला—और कोई अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि मेरे मन में महल नहीं रहा, मैं महल में रहा। तुम्हारे मन में महल रहता है तुम महल में नहीं रहते। यही अन्तर है।

जिस व्यक्ति में लालच है, लोभ है, भोग की आकांक्षा है उसके दिमाग में

पदार्थ रहता है। वह पदार्थ का भोग कभी नहीं कर सकता। उसे पता ही नहीं चलता। इतनी मूर्च्छा के साथ भोग करता है कि पदार्थ का उसे पता ही नहीं रहता कि मैं क्या कर रहा हूं। क्या खा रहा हूं। किन्तु जब लालसा चली जाती है, तृष्णा टूट जाती है, आकांक्षा का धागा टूट जाता है तो फिर वह महल में रह सकता है, उसके दिमाग में महल नहीं रहता। समाधि की घटना जैसे-जैसे घटित होती है दिमाग में पदार्थ नहीं रहते, दिमाग से निकल जाते हैं। फिर पदार्थ पदार्थ की जगह हैं, दिमाग दिमाग की जगह। फिर तो पदार्थ को वह भोग सकता है, काम में ले सकता है, उनका उपयोग कर सकता है, किन्तु दिमाग में फिर उनके लिए कोई स्थान नहीं रहता। एक बहुत बड़ा परिवर्तन होता है समाधि के द्वारा। जीवन का सारा परिवर्तन हो जाता है। हमारी आज की सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि पदार्थ हमारे मस्तिष्क पर, मन पर छाए हुए हैं। वे हमारे स्वामी बने हुए हैं। हम उनके गुलाम बन गए हैं।"

उस जमाने की बात है, गुलामी की प्रथा प्रचलित थी। एक दिन गुलाम चला गया। मित्रों ने कहा कि आज आपका गुलाम भाग गया। खोज करें। महान् दार्शनिक ने कहा—क्यों, किसलिए? मित्रों ने कहा—'गुलाम के बिना काम कैसे चलेगा'? उन्होंने कहा—मेरा गुलाम भी भाग गया। उसे यह भी चिन्ता नहीं कि मेरा काम कैसे चलेगा तो मुझे क्यों चिन्ता हो? अगर मुझे यह चिन्ता हो, इसका अर्थ हो गया कि मैं गुलाम का भी गुलाम बन गया। यह मैं नहीं कर सकता।

आज हमारे जीवन की स्थिति यह है कि हम गुलाम के भी गुलाम बने हुए हैं। जब तक जीवन में समाधि का सूत्र उपलब्ध नहीं होता, यह गुलामी कभी समाप्त नहीं हो सकती और हम अपनी सम्पदा के स्वामी कभी नहीं बन सकते। जब समाधि का अवतरण होता है, मनुष्य अपनी सम्पदा का स्वामी बन जाता है, फिर किसी का गुलाम नहीं रहता, कभी नहीं रहता। ये सारी घटनाएं अलौकिक चेतना के जागने पर होती हैं।

समाधि है प्रज्ञा का जागरण

समाधि का बहुत बड़ा लाभ है—प्रज्ञा का जागरण। उसका आदि-बिन्दु होता है—अलौकिक चेतना का जागरण। उसका मध्य-बिन्दु होता है अतिचेतना का जागरण। आज की पीढ़ी को, समूची मनुष्य जाति को इस लौकिक चेतना से हट कर, अलौकिक चेतना की दिशा में प्रस्थान करने की जरूरत है। अलौकिक चेतना के जागे बिना बहुत बड़ा खतरा वर्तमान के संसार में प्रस्तुत हो रहा है। आज केवल योगी के लिए समाधि की चर्चा नहीं है। आज ध्यान केवल योगी के

लिए और एकान्त में, गुफा में बैठकर साधना करने वाले के लिए नहीं है। किन्तु आज इन वैज्ञानिक यन्त्रणाओं, वैज्ञानिक मारक और संहारक आविष्कारों के बाद यह ध्यान और समाधि प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य हो गई है। अन्यथा इस मनुष्य जाति को बचाया नहीं जा सकता। यदि कोई चाहे कि मनुष्य जाति बनी रहे, समाज प्रगति की दिशा में जाए, अवनति की दिशा में न जाए, चक्का उल्टा न घूमे, तो एक ही उपाय हो सकता है कि समाधि की चेतना का जागरण हो और समाधि की चेतना के जागरण के द्वारा अलौकिक चेतना का जागरण और अति-चेतना का जागरण हो। जब हमारी उर्जा की ऊर्ध्वयात्रा शुरू होती है तब अति-चेतना जागती है। जब हमारा चेतन-मन निष्क्रिय होता है और अन्तर्मन सक्रिय बनता है, तब अतिचेतना जागती है। ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा नहीं होती तब तक यह कामकेन्द्र सक्रिय रहता है। हमारी ऊर्जा जब काम के लिए खपती है तब संघर्ष और युद्ध का उन्माद पैदा करती है। जब मनुष्य अन्तर्यात्रा के द्वारा, सुषुम्ना के ध्यान के द्वारा अपनी ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा कराता है, कामकेन्द्र में रहने वाली ऊर्जा को ज्ञान-केन्द्र में पहुंचाता है, उसकी स्वार्थ वृत्तियां समाप्त होती हैं, काम-वासनाएं कम होती हैं और नीचे ले जाने वाली वृत्तियां समाप्त होती हैं। उसमें परमार्थ की वृत्तियों का जागरण होता है। इस स्थिति में अतिचेतना जागती है। जब अतिचेतना जागती है तब सारे संघर्ष, उन्माद, पागलपन, समाप्त हो जाते हैं। अतिचेतना को जगाने का प्रयत्न किए बिना मनुष्य जाति के कल्याण का आज कोई मार्ग मुझे दिखाई नहीं देता। प्रज्ञा के जागरण का चरम-बिन्दु है, अतीन्द्रिय चेतना का जागरण, अतीन्द्रिय ज्ञान का जागरण। उस भूमिका तक जाने की बात अच्छी लगती है। अतीन्द्रिय चेतना की भूमिका में पहुंच जाने के पश्चात् आंख खोलने की जरूरत नहीं। जानना है, आंख बन्द है फिर भी जान लिया जाता है। सुनने की जरूरत नहीं। इन्द्रियों की जरूरत नहीं, मन की जरूरत नहीं, कोई जरूरत नहीं। सब कुछ साक्षात् हो जाता है। ऐसा पर्दा हटता है कि सब कुछ प्रतिबिम्बित हो जाता है।

शक्तियों को झेलने की क्षमता आवश्यक

अतीन्द्रिय चेतना की चरम भूमिका की बात बहुत सुहावनी और आकर्षक लगती है। किन्तु मैं, उस आकर्षण में, उस प्रलोभन में भी आपको ले जाना नहीं चाहता। और एक दम अतीन्द्रिय चेतना के जागरण की बात न सोचें। क्रम से चलें। क्रम से चलना अच्छा होता है। उत्क्रम में बड़ा खतरा होता है। हमारा एक निश्चित क्रम हो। वह क्रम है, साधना के उत्थान का क्रम। क्रम यह है—सबसे पहले अलौकिक चेतना जागे। फिर अतिचेतना जागे। तीसरी भूमिका में फिर

अतीन्द्रिय चेतना को जगाने की बात करें। आज आपको सीधा जाति-स्मरण का सूत्र बताऊं, साधना बताऊं, पर आपको पता है कि जाति-स्मरण का ज्ञान होना, पूर्वजन्म की स्मृति होना असंभव बात नहीं है, किन्तु उसे झेलना कितना कठिन है? यदि झेलने की क्षमता नहीं है और ज्ञान हो गया, पता नहीं क्या हो जाएगा। बिजली का तार बहुत कमजोर है और बिजली का वोल्टेज बहुत ज्यादा है तो क्या होगा? फ्यूज हो जाएगा। सहन नहीं कर पाएगा वह। शक्ति के अवतरण को झेलने की क्षमता भी होनी चाहिए। आदमी के नाड़ी-संस्थान में, मस्तिष्क में, ज्ञान-तन्तुओं में, शक्ति को झेलने की क्षमता यदि नहीं है और शक्ति जाग गई तो वह आदमी पागल बन जाएगा। जैसे बहुत बुरी आदतों से, क्रोध, अभिमान आदि की प्रचुरता से आदमी विक्षिप्त बनता है, पागल बनता है वैसे ही शक्ति के जागरण से भी आदमी पागल बन जाता है। इसीलिए शक्ति को एक साथ जगाने की बात कभी नहीं सोचनी चाहिए। बहुत बड़ा खतरा है। क्रम होता है। कुछ लोगों में बड़ी त्वरता होती है कि आज ही बता दें, आज ही बताएं। न जाने मेरे पास कितने भाई आए कि लेश्या का ध्यान करा दें, रंगों का ध्यान करा दें। मैंने कहा—मौसम अनुकूल नहीं है। भयंकर गर्मी है। अभी अगर लेश्या का ध्यान कराया तो सारे दिन मेरे पास शिकायतें आएंगी कि शरीर में आग लग रही है, शरीर टूट रहा है, फट रहा है, आंखें फट रही हैं। सारे दिन शिकायतें और फिर लोग दौड़ेंगे, डॉक्टरों को बुलाओ, डॉक्टरों को बुलाओ। इतनी जल्दबाजी से काम नहीं होता। सब कुछ अनुकूलता चाहती है। शक्ति को झेलने की क्षमता चाहिए। शिष्य आया, बोला, महाराज! उपदेश दें। गुरु बड़े अनुभवी थे, पूछा—कब करोगे? अभी नहीं करूंगा, करूंगा तो बाद में। गुरु बोले—"जब करो तब आना। लोग करना नहीं चाहते, उपदेश चाहते हैं। करना नहीं चाहते, आशीर्वाद चाहते हैं। यह चाहते हैं कि सिद्धि मिल जाए, कुछ करना न पड़े। मैं इसमें बिल्कुल विश्वास नहीं करता। सबसे बड़ा आशीर्वाद होता है अपना अभ्यास, अपना पुरुषार्थ, अपना पराक्रम। सबसे बड़ा उपदेश होता है—अभ्यास। स्वयं शिविर में आने वालों ने अनुभव किया कि जब नहीं आए थे तब नहीं पता था कि योग से क्या होता है? दस दिनों के अभ्यास के बाद आज उनकी क्या स्थिति बन गई। वे कल्पना ही नहीं कर सकते थे कि ऐसा हो सकता है। दस दिनों का अभ्यास किया, पूरा अभ्यास किया और आज उनका सारा क्रम बदल गया। कितने अनुभव हो गए। शायद जीवन में कभी कल्पना नहीं की थी कि ऐसे अनुभव होंगे। यह सारा होता है एक क्रम के द्वारा। क्रम से चलें।

चरैवेति चरैवेति

साधना के बड़े परिणाम हैं तो साधना में बड़े खतरे भी हैं। समाधि के बहुत

परिणाम है तो समाधि के बहुत बड़े खतरे भी हैं। हम एक निश्चित अभ्यास से गुजरें, अपनी शक्ति को जगाएं। शरीर-प्रेक्षा, चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा, दीर्घश्वास-प्रेक्षा—ये सारे इसलिए हैं कि नाड़ी-संस्थान की क्षमता बढ़ जाए। उनकी मलिनता दूर हो जाए, उनमें निर्मलता आ जाए, झेलने की क्षमता आ जाए। शक्ति के अवतरण को झेल सकें और अनुभवों का लाभ उठा सकें, इसलिए सारा का सारा अभ्यास करना आवश्यक है और यह अभ्यास नियमित रूप से चलता रहता है तो आप निश्चित मानें, एक दिन उस बिन्दु पर अवश्य पहुंचा जा सकता है जो अतीन्द्रिय ज्ञान का चरम-बिन्दु है, जो परम समाधि का बिन्दु है, वीतरागता का बिन्दु है। वहां सारा मोह समाप्त होता है। ज्ञानावरण समाप्त, दर्शनावरण समाप्त, मोह समाप्त, सारी मूर्च्छाएं समाप्त, सारे विघ्न समाप्त। सभी शेष हो जाते हैं, कुछ भी बाकी नहीं बचता। यह बिन्दु निश्चित आता है। आज तक जो अवतार, तीर्थंकर, महापुरुष हुए हैं और उस बिन्दु तक पहुंचे हैं वे अपनी साधना के द्वारा पहुंचे हैं। मैं भी पहुंच सकता हूं, और भी पहुंच सकते हैं, पर पहुंच वही सकता है जो साधना को निरन्तर चालू रखता है। यह तो नहीं होगा कि दस दिन अभ्यास किया, और फिर साधना को छोड़ दिया, वह कभी नहीं पहुंच पाएगा। पहुंचने का रास्ता है सतत अभ्यास। हमारा अभ्यास निरंतर चलता रहे। उपनिषद् का वाक्य है—चरैवेति चरैवेति। हम चलते जाएं। समाधि की यात्रा में चलते जाएं। चलते-चलते एक निश्चित बिन्दु आएगा, हमारे जीवन में समाधि की घटना घटित हो जाएगी। समाधि के विघ्नों का एक लंबा-चौड़ा विवरण है—प्रमाद, आलस्य, नींद ये बातें तो हैं ही, ये सारे विघ्न हैं, पर इन सबसे बड़ा विघ्न है—वातावरण, परिस्थिति। जब तक परिस्थिति को देखने की हमारी दृष्टि होती है तब तक समाधि की ओर आदमी नहीं चल सकता। आदमी देखता है कि सामने वाला व्यक्ति मुझे गालियां दे रहा है। क्या मैं कमजोर हूं? गाली देने की भावना नहीं, पर सामने वाला देता है, उससे मैं कमजोर रहना नहीं चाहता, उसे यह अनुभव नहीं होना चाहिए कि यह कमजोर आदमी है।

आदमी देखता है कि जीवन की यात्रा आनन्द से चल रही है। कठिनाई नहीं तो फिर इतने बुरे काम क्यों करने चाहिए? जब एक आदमी बुराई करके इतना बड़ा आदमी बन गया तो क्या मैं नहीं बन सकता? मैंने हिन्दुस्तान के बहुत बड़े उद्योगपति से पूछा—"तुम्हारे पास इतना पैसा था, करोड़ों-करोड़ों रुपये, फिर तुमने इतने बुरे काम क्यों किए? तुम संकट में पड़ गए। वह बोला—'महाराज! सच्ची बात आप जानते हो, मैं जब छोटा था, मेरे मन में एक भावना जागी कि मुझे हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा उद्योगपति बनना है। बिड़ला, टाटा, सबको नीचे कर देना है, सबसे आगे चले जाना है। इस भावना ने यह सब कुछ कराया।

समाधि की निष्पत्ति

शिविर ३

लुधियाना
२७-१०-६९ से ३-११-६९

२०. अपनी खोज

१. चेतन और अचेतन में अन्तर—चैतन्य।
चेतन और अचेतन में अन्तर—सुख।
चेतन और अचेतन में अन्तर—शक्ति।

२. चैतन्य केवलज्ञान इसलिए नहीं कि आवरण है।
सुख आत्यन्तिक और निर्बाध इसलिए नहीं कि प्रिय-अप्रिय का संवेदनहै।
शक्ति अस्खलित इसलिए नहीं कि उसका उपयोग दूसरों के हितों की क्षति में भी होता है।

३. ध्यान द्वारा अपने आपको खोजें।

४. उदासीन ज्ञान ही ध्यान बन जाता है।

५. कामवृत्ति को क्षीण करने के लिए अन्तर्यात्रा का प्रयोग करें। जब काम का विकल्प उत्पन्न हो तब प्रयोग करें, प्रतिदिन भी करें।

बोस

सबसे बड़ी विशेषता

मनुष्य में हजारों विशेषताएं हैं। एक व्यक्ति पैरों से रंगीन चित्र बनाता है। एक व्यक्ति पैरों से कागज को काट-छांटकर अनेक प्रकार के पक्षी बना लेता है। एक व्यक्ति आया, उसके हाथ काम नहीं करते थे। उसने बड़ी कैंची पैरों से पकड़ी। एक कागज लिया। पैरों से उसे मोड़ा और कुछ ही क्षणों में मोर तैयार हो गए। कैंची पैरों से चल रही थी। कागज को मोड़ना भी पैरों से हो रहा था। सब कुछ पैर कर रहे थे। इसी प्रकार वह पैरों से रोटी बना लेता है। चाय बनाना भी पैरों से होता है। हाथ से किए जाने वाले सारे कार्य पैरों से कर लेता है। कुछ व्यक्ति दाएं हाथ से लिखने का कार्य बाएं हाथ से कर लेते हैं। अक्षरों की वही सुघड़ता और लिखने की गति भी वही। कोई अन्तर नहीं आता।

मानव शरीर में बहुत विशेषताएं हैं। कान का काम है सुनना। यदि कान से सुनाई न दे, तो दांतों से सुना जा सकता है। आंख का कार्य है देखना। यदि आंखें न देखें, तो अंगुलियों से देखा जा सकता है, पढ़ा जा सकता है। मनुष्य की विशेषताओं को निश्चित सीमा में नहीं बांधा जा सकता।

विशेषताओं से संपन्न व्यक्ति अत्राण और असहाय देखे जाते हैं। किन्तु जिस व्यक्ति को समाधि उपलब्ध है, वह कभी अत्राण और असहाय नहीं होता। वह कभी अशरण और दुःखी नहीं रहता।

समाधि की उपलब्धि

समाधि की उपलब्धि तब होती है जब व्याधि नहीं सताती, उपाधि नहीं सताती और आधि नहीं सताती। ये तीनों—व्याधि, उपाधि और आधि जब निःशेष हो जाती हैं तब समाधि घटित होती है। व्याधि आती है, रोग होता है, समाधि टूट जाती है। सुख और संतोष समाप्त हो जाते हैं। आदमी दुःखी बन जाता है। आधि आती है तब आदमी की स्थिति और ज्यादा भयंकर हो जाती है। शरीर में कोई रोग नहीं, किन्तु मानसिक उलझन आदमी को इतना बेचैन बना देती है कि आदमी एक क्षण के लिए भी सुख की सांस नहीं ले सकता। आधि की कठिनाई व्याधि से अधिक है। आधि की स्थिति में आदमी पागल बन जाता है। सब कुछ साधन होने पर भी वह बहुत दुःखी बन जाता है। उपाधि की स्थिति आधि से भी ज्यादा भयंकर होती है। उपाधि का अर्थ है—कषाय। उस स्थिति में आदमी आदमी नहीं रहता। वह और कुछ बन जाता है—पिशाच, भूत या राक्षस बन जाता है। उसमें क्रोध, अभिमान और माया का भूत जागता है, कपट उभरता है, लालच जागता है। इन सबके अस्तित्व में आदमी सब कुछ करता है जो उसे कभी नहीं करना चाहिए। व्याधि, आधि और उपाधि—तीनों खतरे हैं। इनकी अवस्थिति में समाधि नहीं आ सकती।

एक रोगी आदमी बहुत बड़ा धनी हो सकता है, बहुत बड़ा कलाकार हो सकता है, बहुत बड़ा वैज्ञानिक हो सकता है। मानसिक व्यथा से पीड़ित आदमी बहुत बड़ा धनी, वैज्ञानिक और कलाकार हो सकता है। क्रोध से भरा हुआ आदमी धनी हो सकता है, बड़ा शिल्पी भी हो सकता है, कलाकार भी हो सकता है, बड़ा वैज्ञानिक भी हो सकता है, किन्तु व्याधि, आधि और उपाधि से भरा हुआ आदमी समाधिस्थ नहीं हो सकता। समाधिस्थ होने के लिए तीनों के पार जाना जरूरी होता है। शरीर निरन्तर बीमार रहता है, समाधि कैसे होगी ? मन उलझनों से भरा रहता है, समाधि कैसे होगी ? आदमी उपाधि से भरा रहता है, कषाय से भरा रहता है, समाधि कैसे उपलब्ध होगी ? इन सबसे पार जाने पर ही समाधि का बिन्दु उपलब्ध होता है।

[illegible]

में दो मूल तत्त्व हैं। एक चेतन और एक अचेतन। चेतन और अचेतन में अन्तर यह है कि चेतन स्वतंत्र होता है, नियति से पूरा बंधा हुआ नहीं होता और अचेतन केवल नियति से बंधा हुआ होता है। उसकी अपनी कोई स्वतंत्रता नहीं होती। जितने सार्वभौम नियम हैं, जितने युनिवर्सल लॉज हैं—ये सब अचेतन के लिए हैं। चेतन के लिए ये लागू नहीं होते। बहुत बड़ी भेद-रेखा है चेतन में और अचेतन में। चेतन स्वतंत्र होता है। अचेतन स्वतंत्र नहीं होता, पूरा परतंत्र होता है। प्राणी में स्वतंत्रता होती है इसलिए वह बदल सकता है। उसमें बदलने की क्षमता है। मनुष्य में सबसे अधिक स्वतंत्रता विकसित होती है। वह चाहे तो बीमार हो सकता है, व्याधिग्रस्त हो सकता है, चाहे तो आधिग्रस्त हो सकता है—मानसिक उलझनों से भर सकता है और चाहे तो उपाधि का जीवन जी सकता है—क्रोध, अभिमान, माया और लालच का जीवन जी सकता है। वह चाहे तो समाधि का जीवन जी सकता है। यह चुनाव करने की क्षमता केवल मनुष्य में है।

मार्ग दो : चुनाव का स्वातन्त्र्य

मनुष्य की स्वतंत्रता इतनी विकसित होती है, इतनी जागृत होती है कि वह अपने मार्ग का चुनाव कर सकता है। मुझे कौन-सा जीवन जीना है? व्याधि, आधि और उपाधि का जीवन जीना है या समाधि का जीवन जीना है? आप पूछना चाहेंगे, यह कोई चुनाव का प्रश्न है? क्या कोई व्यक्ति व्याधि का जीवन जीना चाहेगा? रोगी होकर जीना चाहेगा? क्या कोई व्यक्ति आधि का जीवन जीना चाहेगा? उपाधि का जीवन जीना चाहेगा? प्रश्न हो सकता है। सहज लगता है प्रश्न। किन्तु उत्तर भी जटिल नहीं है, बहुत सीधा है। आदमी चाहता है तब बीमार होता है। आदमी चाहता है तब मानसिक उलझनों में फंसता है और चाहता है तब उपाधि से ग्रस्त होता है। अगर वह न चाहे तो कभी बीमार नहीं हो सकता, कभी आधिग्रस्त नहीं हो सकता और कभी उपाधिग्रस्त नहीं हो सकता। यह सब चाह पर निर्भर होता है। कठिन है उस चाह को पकड़ना, कठिन है उस चाह को समझना और देखना। हम देखना नहीं जानते। हमारे भीतर एक बीमार होने की चाह जागती है और हम बीमार हो जाते हैं। बिना चाह बीमार कोई नहीं हो सकता। मन में चाह जागती है, बीमार हो जाता है आदमी। क्या भोजन का असंयम, बहुत खाने की चाह और बीमारी दो बातें हैं? दो नहीं हैं? मन में ज्यादा खाने की चाह जागती है, क्या वह बीमारी की चाह नहीं है? मन में असंयम की चाह जागती है, क्या वह बीमारी नहीं है? अति काम, अति भोजन, अति लोभ, अति क्रोध करता है, यह सारी बीमारी की चाह है। हम कैसे भेद-रेखा खींचेंगे कि अति भोजन की चाह, अति स्वाद की चाह, अति लोलुपता की चाह तो है और बीमारी की चाह नहीं है। यह नहीं हो सकता। केवल शब्द दो

है, इनमें कोई भेद नहीं है। अति भोजन की चाह का मतलब है, रोगी होने की चाह। भोग की लोलुपता की चाह का मतलब है, रोगी होने की चाह। असंयम की चाह का मतलब है, बीमार होने की चाह। हम इन्हें अलग नहीं कर सकते, कभी नहीं कर सकते। कोई आदमी आग में हाथ डाले और कहे मैं हाथ को जलाना नहीं चाहता। क्या ऐसा हो सकता है? अगर उसे हाथ को जलाने की चाह नहीं है, तो वह हाथ को कभी आग में नहीं डालेगा। बहुत स्पष्ट है कि आदमी का आग में हाथ डालने का मतलब है हाथ जलाना। वह इसमें कोई भेद-रेखा नहीं खींच सकता कि हाथ को जलाने की चाह तो नहीं है पर मैं आग में हाथ डाल रहा हूं। जिसके मन में बीमार होने की चाह नहीं होती वह बीमार नहीं होता। यह चाह जाने-अनजाने हर आदमी के मन में होती है। कोई आदमी देखना जानता है, वह इस चाह को देख लेता है। और जो देखना नहीं जानता वह इस चाह को देख नहीं पाता, अनजान में चाह को टालता जाता है। चाह टलती जाती है। आदमी बीमार होता जाता है और उसको देख नहीं पाता, समझ नहीं पाता। अन्तर है केवल देखने का। जिस व्यक्ति में मानसिक उलझनों में जाने की चाह नहीं होती, वह मानसिक उलझन में नहीं जाता। मानसिक उलझन इसीलिए होती है कि हमारे मन में मानसिक उलझनों में, मानसिक तनाव में जाने की चाह मौजूद है। आसक्ति मौजूद है, अतृप्ति मौजूद है। प्रियता और अप्रियता का संवेदन है। जब हमारे भीतर किसी को प्रिय मानने की चाह है और किसी को अप्रिय मानने की चाह भी हमारे भीतर है, तब प्रियता का संवेदन, अप्रियता का संवेदन रहे और मानसिक उलझन न रहे, यह कभी नहीं हो सकता। हम मानसिक तनाव में, मानसिक उलझन में, प्रियता और अप्रियता के संवेदन में भी कोई अन्तर नहीं कर सकते। इनके बीच में कोई भेद-रेखा नहीं खींच सकते। प्रियता और अप्रियता का संवेदन तथा मानसिक बीमारियां, मानसिक उलझनें, शब्द भेद है, तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। जो रोगी होना नहीं चाहता, क्या वह कभी रोगी हो सकता है? [illegible]

चाह से प्रेरित है चुनाव

व्याधि, आधि और उपाधि से पीड़ित होने का चुनाव कौन करेगा ? किन्तु आदमी यह चुनाव करता है। वह इसलिए करता है कि उसके भीतर चाह मौजूद है। परन्तु जब मनुष्य को स्वतंत्रता है और वह चुनाव करने में सक्षम है, तो वह व्याधि, आधि और उपाधि से दूर जाने का चुनाव भी कर सकता है। जब वह व्याधि, आधि और उपाधि से दूर हटकर समाधि का चुनाव करता है तब उसकी सारी जीवन की दिशा बदल जाती है। समाधि कोई अद्‌भुत वस्तु नहीं है। समाधि कुछ लोगों के लिए नहीं है। समाधि जीवन के शिखर पर पहुंचने के बाद होने वाली घटना नहीं है। समाधि हमारे जीवन की दिशा है। समाधि हमारे जीवन का मार्ग है। यह जीवन का एक मार्ग है। यह जीवन की एक पद्धति है। जो इस जीवन की पद्धति को समझ लेता है, जीवन की कला को समझ लेता है, जीवन के विज्ञान को समझ लेता है वह शान्त और सहज जीवन जीता है। वह व्यक्ति निर्लिप्त जीवन जीता है। किसी कीचड़ में रहे हुए कमल के पत्ते का जीवन जीता है कि जिस पर कीचड़ भी गिरता है, पानी भी गिरता है किन्तु टिकता कुछ भी नहीं, सब कुछ चला जाता है। वह व्यक्ति सूखी भींत का जीवन जीता है कि जिस पर बालू फेंकी, सूखी बालू आई और नीचे गिर गई। कोई लेप नहीं होगा। ऐसा जीवन जी सकता हैं।

अपनी खोज

जो व्यक्ति समाधि का चुनाव करता है, उसे अपनी खोज करनी जरूरी है। अपनी खोज किए बिना कोई समाधि को उपलब्ध नहीं हो सकता। अपनी खोज है—'मैं चेतन हूं। मैं अचेतन नहीं हूं।' खोज बहुत सीधी है। अपनी खोज के लिए आपको दूर जाने की जरूरत नहीं। मुझमें चैतन्य है, आनन्द है और शक्ति है। मैं चैतन्यमय हूं, मैं आनन्दमय हूं और मैं शक्तिमय हूं। आनन्द, चैतन्य और शक्ति यह त्रिपुटी मेरा स्वभाव है। बस, इसके सिवाय मेरा कोई स्वभाव नहीं है। जो इन तीन को जान लेता है, वह अपने आपको जान लेता है, सब कुछ जान लेता है। अचेतन में चैतन्य नहीं है, आनंद नहीं है। उसमें शक्ति है किन्तु स्वतंत्रतायुक्त शक्ति नहीं है। स्वतंत्रता से जिसका प्रयोग किया जा सके वह शक्ति नहीं है। प्राणी में आनंद, चैतन्य और स्वतंत्रता से प्रयोग की जाने वाली शक्ति है। जिस प्राणी की अपनी विशेषता है वह उसका अपना अस्तित्व है। फिर प्रश्न होगा कि चैतन्य है, पर यह आवरण क्यों ? चैतन्य है, मैं जान सकता हूं। कुछ जानता हूं, सामने बैठे लोगों को जानता हूं। भींत से परे नहीं जानता। यह पुस्तक है, टेप रिकार्डर है, माइक है, आदमी बैठे हैं, मैं जानता हूं, किन्तु हाल में असंख्य परमाणु

संन्यासी ने कहा—'ठीक कहते हो तुम। बुद्धिमान आदमी हो, ठीक कहते हो। पर यह डिबिया इसलिए सोने की नहीं बनी कि पारसमणि और लोहे की डिबिया के बीच एक आवरण पड़ा है। यह कपड़े का आवरण है। इस कपड़े को हटाओ, फिर देखो।' कपड़े को हटाया, आवरण दूर किया और पारसमणि ने डिबिया को छुआ—डिबिया सोने की हो गई।

समाधि के लिए और कुछ नहीं करना है। केवल आवरण को हटाना है। पारसमणि हर व्यक्ति के पास है, मेरे पास भी है और आपके पास भी है। किन्तु एक कपड़े का आवरण बीच में आया हुआ है। आवरण हट जाए तो हर व्यक्ति सोना बन सकता है। केवल आवरण को हटाने की जरूरत है। हमारे ज्ञान पर आवरण है, हमारे दर्शन पर आवरण है। जब तक यह आवरण नहीं हटता तब तक समाधि उपलब्ध नहीं हो सकती। आवरण का हटना और जीवन में समाधि की घटना का घटित होना, एक ही बात है। समाधि के लिए आवरण को हटाना जरूरी है।

अनावरण की साधना

आवरण कैसे हटे? यह एक प्रश्न है। ज्ञान के द्वारा आवरण हट सकता है। आवरण इसलिए आता है कि हम केवल-ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं। केवल-ज्ञानी नहीं हैं। जब तक केवल-ज्ञान की साधना नहीं करते, तब तक आवरण नहीं हटता। आवरण को हटाने के लिए, ज्ञान और दर्शन पर आए हुए पर्दे को दूर करने के लिए, केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन की साधना करनी जरूरी है। यहां शिविर में लोग सीखने को आते हैं। उन्हें एक ही बात सीखने को मिलती है। केवल-ज्ञान सीखें और केवल-दर्शन सीखें। लोग आश्चर्य करेंगे कि आज तक तो हमने सुना, यह पांचवां आरा कलिकाल है। आज केवल-ज्ञान नहीं हो सकता और केवल-दर्शन नहीं हो सकता। मैं आपसे यह कहना चाहता हूं कि यदि आपको केवल-ज्ञान नहीं होगा, केवल-दर्शन नहीं होगा, तो फिर ध्यान शिविर में आना व्यर्थ होगा। यहां आने की सार्थकता है, आप केवल-ज्ञान सीखें, केवल-दर्शन सीखें। केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन, कोरा जानना, कोरा देखना। ज्ञान है, जिसके साथ कोई संवेदन नहीं है। हम केवल-ज्ञान नहीं जानते, केवल-दर्शन नहीं जानते। कोरा नहीं जानते, कोरा नहीं देखते। हर ज्ञान के साथ, हर दर्शन के साथ संवेदन को जोड़ देते हैं। इसलिए आदमी को देखते हैं, पर आदमी को आदमी की दृष्टि से नहीं देखते। आदमी को आदमी की दृष्टि से नहीं जानते। या तो इस दृष्टि से देखते हैं कि यह हमारा प्रिय व्यक्ति है या इस दृष्टि से देखते हैं कि यह हमारा अप्रिय व्यक्ति है। या तो इस दृष्टि से देखते हैं कि यह अच्छा है या इस दृष्टि से देखते हैं कि यह बुरा है। या तो इस दृष्टि से देखते हैं कि बड़ा सुन्दर है या इस दृष्टि से देखते हैं

आपको जानना होगा, आनन्द में बाधा क्यों आती है। बाधा इसलिए आती है कि हमारी दृष्टि सम्यक् नहीं हैं। दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है। दृष्टि में सत्य की झलक नहीं है। इसमें मिथ्यात्व है, इसमें विपर्यय है, विपरीतता है। इस विपर्यय के कारण यह बाधा आती है। होता है सुख देने वाला, मान लेते हैं दुःख देने वाला। होता है दुःख देने वाला, मान लेते हैं सुख देने वाला। होता कुछ है और मान कुछ लेते हैं। यह दृष्टि का विपर्यय हमारे सुख को निर्बाध नहीं होने देता। यह प्रियता और अप्रियता का संवेदन क्यों होता है। एक वस्तु को प्रिय या अप्रिय मानना क्यों होता है। यह होता है हमारी मान्यता के साथ हमारी भ्रान्ति के कारण। वास्तव में कोई वस्तु प्रिय नहीं होती, किन्तु एक मिथ्यादृष्टि के कारण एक को प्रिय मान लेता है और दूसरी को अप्रिय मान लेता है। एक बच्चा मिट्टी को कितना प्रिय मानता है। जिस बच्चे में मिट्टी खाने की आदत होती है उसे लगता है कि दुनिया में सबसे अच्छी वस्तु कोई है तो मिट्टी है। आप उसे चीनी दें। चीनी छोड़ेगा, गली में जाकर मिट्टी चाटने लग जाएगा। वड़ी प्रिय लगती है। क्यों होता है? अपने ही दृष्टि-विपर्यय के कारण हम यह प्रियता और अप्रियता का आरोप कर लेते हैं। एक आदमी को गाली देने में इतना आनन्द आता है, इतनी प्रिय लगती है कि दिन में दस-बीस बार गाली न दे तो शायद भोजन ही हजम नहीं हो। उसे ऐसा लगता है कि आज का दिन व्यर्थ चला गया। दिन में दो-चार बार लड़ाई न करे, दिन में दो-चार बार गाली-गलौज न करे तो उसे लगता है कि आज किस आदमी का मुंह देखा कि सारा दिन फालतू चला गया।

पति और पत्नी दोनों में लड़ाई हो रही थी। एक दूसरे को गालियां दे रहे थे। एक पड़ोसी पहुंच गया अचानक, उसने सब कुछ देखा। पड़ोसी ने पूछा—'क्यों लड़ रहे हैं।' पति ने कहा—'क्या करें।' बहुत दिन हो गये साथ रहते-रहते। जीवन में नीरसता आ गई, रूखापन आ गया, सुस्ती-सी आ गई। चुस्ती लानी है तो एक वार लड़ लें, जी भर लड़ लें तो फिर नया जीवन शुरू होगा, नई ताजगी आ जाएगी।

न जाने आदमी ने प्रियता और अप्रियता के कैसे मानदण्ड वना रखे हैं? किस प्रकार एक वात को प्रिय मान लेता है और दूसरी को अप्रिय मान लेता है। जव तक यह प्रियता और अप्रियता का सवाल वना रहेगा और यह मिथ्या दृष्टिकोण वना रहेगा, तव तक हमारा आनन्द निर्वाध नहीं हो सकेगा। इन वाधाओं को नहीं रोका जा सकता। एक वात, एक वस्तु, एक व्यक्ति और एक घटना सामने आयी, मन में प्रियता जाग गयी, सुख का भाव जागा और दूसरी वात, दूसरी वस्तु, दूसरा व्यक्ति और दूसरी घटना सामने आयी और मन में अप्रियता का भाव जाग गया। यह सुख के वाद दुःख और दुःख के वाद सुख का चक्र जव तक चलता

जाति-भाइयों को दबाकर केवल अकेले चमकना चाहता हो। सारे तारों, ग्रहों, नक्षत्रों, पूरे सौरमंडल को, इस नक्षत्र परिवार को अस्त कर, आकाश में केवल अकेले चमकना चाहते हो। इसलिए अच्छे नहीं लगते।'

मनुष्य की प्रकृति है कि वह दूसरों को हेठा कर, नीचा कर, दबा कर, छिपा कर, अपने से हीन, कमजोर बनाकर और केवल अकेला बढ़ना चाहता है। यह मनोवृत्ति नहीं मिटती तब तक हमारी शक्ति असीम नहीं हो सकती, निर्बाध नहीं हो सकती, शक्ति का अवरोध समाप्त नहीं हो सकता।

निष्कर्ष

चैतन्य है, आनन्द है और शक्ति है। चैतन्य पर आवरण है। आनन्द पर बाधा है और शक्ति पर अवरोध है। ये तीनों उसके विघ्न हैं। इन विघ्नों को मिटाने के लिए समाधि की साधना जरूरी है। हमारा चैतन्य अनावृत बने, हमारा आनन्द निर्बाध बने और हमारी शक्ति अप्रतिहत बने, अस्खलित बने, अवरोधशून्य बने, इसलिए समाधि की साधना जरूरी है। जब हम समाधि की साधना करते हैं—केवल जानते हैं, केवल देखते हैं, प्रियता और अप्रियता के संवेदन से मुक्त होते हैं, दूसरों के हितों को क्षति नहीं पहुंचाते, दूसरों के हितों में बाधा, विघ्न नहीं डालते तब हमारा चैतन्य अनावृत होता है, आनन्द अनाबाध होता है और शक्ति अवरोध-शून्य होती है। इसकी साधना ही समाधि की साधना है।

२९. केवल-दर्शन की साधना

इक्कीस

देखना सीखें

चेतना पर जो पर्दा है उसे हटाना सबको अच्छा लगता है। चेतना अनावृत हो, यह जरूरी है। उसे अनावृत करने के लिए केवल-दर्शन की साधना करनी होगी, केवल-ज्ञान की साधना करनी होगी। केवल-दर्शन की साधना किये बिना चेतना का आवरण दूर नहीं हो सकता। केवल-ज्ञान की साधना किये बिना चेतना का आवरण दूर नहीं हो सकता। पहले केवल-दर्शन की साधना फिर केवल ज्ञान की साधना। देखना सीखें। प्रेक्षा का अर्थ है—देखना। हम विचार करना जानते हैं, याद करना जानते हैं, कल्पना करना जानते हैं, मनन करना जानते हैं, किन्तु देखना नहीं जानते। जो आदमी देखना नहीं जानता, वह आवरण को दूर नहीं कर सकता। प्रश्न होगा देखना क्या है? क्या आंखों से देखना ही देखना है? अगर आंखों से देखना ही देखना है तो सब आदमी देखते हैं। जिन्हें आंखें उपलब्ध हैं, जो आंखें खुली रखते हैं, वे सब देखते हैं। कोई भी चक्षुष्मान् आदमी नहीं होगा जो न देखता हो। सब देखते हैं। हर आदमी देखता है। तो फिर क्या अद्भुत बात है जो हम देखना सीखें? आंखों से देखना देखना नहीं है। यह केवल-दर्शन नहीं है। देखना कुछ और है। जब हमारी चेतना की प्रवृत्ति होती है, चेतना सक्रिय होती है, किन्तु उसके साथ कोई विकल्प नहीं होता, कोई शब्द नहीं होता, कोई कल्पना नहीं होती, कोई विचार नहीं होता, कोई चिन्तन नहीं होता, कोई मनन नहीं होता, कोई स्वप्न नहीं होता, उस चेतना का उपयोग या सक्रियता का नाम है—देखना। देखने में केवल देखना होता है, कोरा अनुभव होता है, और कुछ भी नहीं होता। हम देखना कहां जानते हैं? एक क्षण के लिए श्वास को देखने के लिए बैठते हैं, तो देखना बन्द हो जाता है। या तो स्मृति के पर्दे उभरते हैं—स्मृतियां आने लग जाती हैं, या कल्पनाएं शुरू हो जाती हैं, चिन्तन शुरू हो जाता है, देखना बन्द हो जाता है। देखना, दर्शन हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। आत्म-चेतना की सहज प्रवृत्ति है देखना और जानना। देखना और जानना दो बातें हैं। दर्शन और ज्ञान ये

मन में फिर विकल्प उठता है। पहले कोई विकल्प नहीं होता। पहले केवल देखता है। ध्यान से देखता है फिर विकल्प पैदा होते हैं। वस्तु को देखें, किसी व्यक्ति को देखें या किसी घटना को देखें, किसी को भी देखें पहले विचारशून्यता की अवस्था होगी, फिर विकल्प-दशा होगी। देखने के बाद फिर विकल्प चालू होते हैं। फिर विकल्पों का तांता लगता है। यह कौन है? आदमी है। कहां का है? वेश-भूषा कैसी है? कहां से आया है? क्या इससे बात करें? इससे पूछें? इससे संपर्क स्थापित करें? नाना प्रकार के विकल्प पैदा होते हैं। और विकल्पों का जाल बिछ जाता है। ये सब दर्शन के पश्चात् होते हैं। पहले केवल दर्शन होता है। हम प्रेक्षा को इतना मूल्य क्यों देना चाहते हैं। प्रेक्षा का मूल्य क्यों है? इसीलिए कि हमारी सारी समस्याएं ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होती हैं। और यदि हम समस्याओं का समाधान चाहते हैं, तो हमें दर्शन की भूमिका पर भी जाना होगा। हमारी सारी कठिनाइयां ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होती हैं। हम उन कठिनाइयों को समाप्त करना चाहें, तो हमें दर्शन की भूमिका पर जाना होगा। हमारे सारे मानसिक तनाव ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होते हैं। यदि हम मानसिक तनावों से बचना चाहते हैं, तो हमें दर्शन की भूमिका पर जाना होगा। हमारी शक्तियां बहुत क्षीण होती हैं। यदि हम शक्तियों को सुरक्षित रखना चाहते हैं, संचित रखना चाहते हैं, शक्ति-संचय को समाप्त करना नहीं चाहते तो हमें दर्शन की भूमिका पर जाना होगा। दर्शन में केवल अस्तित्व हमारे सामने होता है, कोरा अस्तित्व। और जहां कोरा अस्तित्व होता है वहां शक्ति का व्यय नहीं होता। ज्ञान में अस्तित्व गौण हो जाता है और विकल्प प्रधान बन जाता है। वहां मन की शक्ति खर्च होती है, वाणी की शक्ति खर्च होती है, शरीर की शक्ति खर्च होती है और नाड़ी-संस्थान की शक्तियां खर्च होती हैं। शक्ति-व्यय को रोकने के लिए ज्ञान की भूमिका से हटकर दर्शन की भूमिका में जाने की कला हमें सीखनी होगी।

प्रयोजन का मूल्य

मालवीयजी एक धनपति के पास गए। बड़ा धनपति था। धनपति ने सत्कार किया, पंडित मदनमोहन मालवीय घर पर आए हैं, बड़ा सम्मान किया। पास में बैठाया। देखते हैं कि बच्चा खेल रहा है। दियासलाई की पेटी हाथ में है। एक दियासलाई निकालता है, जलाता है और एक लकड़ी को जला देता है। सेठ ने बीच में ही उठकर बच्चे को एक चांटा मार दिया। अपना लड़का, प्यारा लड़का। सेठ फिर आकर बैठ गया। मालवीयजी बोले—'अब मैं जा रहा हूं।' सेठ बोला—'आप क्यों आए थे? और क्यों जा रहे हैं? आने का कोई प्रयोजन आपने नहीं बताया? आप किसलिए वापस जा रहे हैं?' मालवीयजी ने कहा—'आया था प्रयोजन से, पर अब मैं कहना नहीं चाहता। मन में सोचा था कि हिन्दू विश्व-

मन में फिर विकल्प उठता है। पहले कोई विकल्प नहीं होता। पहले केवल देखता है। ध्यान से देखता है फिर विकल्प पैदा होते हैं। वस्तु को देखें, किसी व्यक्ति को देखें या किसी घटना को देखें, किसी को भी देखें पहले विचारशून्यता की अवस्था होगी, फिर विकल्प-दशा होगी। देखने के बाद फिर विकल्प चालू होते हैं। फिर विकल्पों का तांता लगता है। यह कौन है? आदमी है। कहां का है? वेश-भूषा कैसी है? कहां से आया है? क्या इससे बात करें? इससे पूछें? इससे संपर्क स्थापित करें? नाना प्रकार के विकल्प पैदा होते हैं। और विकल्पों का जाल बिछ जाता है। ये सब दर्शन के पश्चात् होते हैं। पहले केवल दर्शन होता है। हम प्रेक्षा को इतना मूल्य क्यों देना चाहते हैं। प्रेक्षा का मूल्य क्यों है? इसीलिए कि हमारी सारी समस्याएं ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होती हैं। और यदि हम समस्याओं का समाधान चाहते हैं, तो हमें दर्शन की भूमिका पर भी जाना होगा। हमारी सारी कठिनाइयां ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होती हैं। हम उन कठिनाइयों को समाप्त करना चाहें, तो हमें दर्शन की भूमिका पर जाना होगा। हमारे सारे मानसिक तनाव ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होते हैं। यदि हम मानसिक तनावों से बचना चाहते हैं, तो हमें दर्शन की भूमिका पर जाना होगा। हमारी शक्तियां बहुत क्षीण होती हैं। यदि हम शक्तियों को सुरक्षित रखना चाहते हैं, संचित रखना चाहते हैं, शक्ति-संचय को समाप्त करना नहीं चाहते तो हमें दर्शन की भूमिका पर जाना होगा। दर्शन में केवल अस्तित्व हमारे सामने होता है, कोरा अस्तित्व। और जहां कोरा अस्तित्व होता है वहां शक्ति का व्यय नहीं होता। ज्ञान में अस्तित्व गौण हो जाता है और विकल्प प्रधान बन जाता है। वहां मन की शक्ति खर्च होती है, वाणी की शक्ति खर्च होती है, शरीर की शक्ति खर्च होती है और नाड़ी-संस्थान की शक्तियां खर्च होती हैं। शक्ति-व्यय को रोकने के लिए ज्ञान की भूमिका से हटकर दर्शन की भूमिका में जाने की कला हमें सीखनी होगी।

प्रयोजन का मूल्य

मालवीयजी एक धनपति के पास गए। बड़ा धनपति था। धनपति ने सत्कार किया, पंडित मदनमोहन मालवीय घर पर आए हैं, बड़ा सम्मान किया। पास में बैठाया। देखते हैं कि बच्चा खेल रहा है। दियासलाई की पेटी हाथ में है। एक दियासलाई निकालता है, जलाता है और एक लकड़ी को जला देता है। सेठ ने बीच में ही उठकर बच्चे को एक चांटा मार दिया। अपना लड़का, प्यारा लड़का। सेठ फिर आकर बैठ गया। मालवीयजी बोले—'अब मैं जा रहा हूं।' सेठ बोला—'आप क्यों आए थे? और क्यों जा रहे हैं? आने का कोई प्रयोजन आपने नहीं बताया? आप किसलिए वापस जा रहे हैं?' मालवीयजी ने कहा—'आया था प्रयोजन से, पर अब मैं कहना नहीं चाहता। मन में सोचा था कि हिन्दू विश्व-

स्मृति का भार

दो भिक्षु जा रहे थे। रास्ते में नदी आ गई। नदी के तट पर खड़े थे। इतने में एक सुन्दर युवती आई। उसने कहा—मैं भी पार जाना चाहती हूं। किन्तु चल नहीं सकती, डर लगता है। आप मुझे पार करा दें, कोई नौका दिखायी नहीं दे रही है। संन्यासी थे। करुणा आ गई। एक ने कहा—मेरे कन्धे पर बैठ जाओ, तुम्हें पार करा देता हूं। उसे पार करा दिया। युवती चली गई। दोनों संन्यासी साथ चल रहे हैं। दूसरे ने कहा—यह अच्छा काम नहीं किया। स्त्री को अपने कन्धे पर बैठाया, अच्छा काम नहीं किया। सुन लिया। फिर आगे गये। दो माइल चले, और वह संन्यासी बोला—देखो भाई! मैं फिर तुम्हें कह देना चाहता हूं कि तुमने अच्छा काम नहीं किया। सुन लिया। स्थान पर पहुंचे। पहुंचते ही उस संन्यासी ने फिर कहा—आज तुमने रास्ते में अच्छा काम नहीं किया। भोजन का समय हुआ और खाने बैठे तो उसने फिर वही गाना शुरू किया—तुमने रास्ते में अच्छा काम नहीं किया। संन्यासी से रहा नहीं गया, बोला—मैं तो उस युवती को कन्धे पर बैठाकर नदी पार कराकर वहीं छोड़ आया, किन्तु तुम तो अभी भी उसका भार सिर पर लिए घूम रहे हो।

ज्ञान : मूल्यांकन का विस्तार

काम समाप्त हो जाता है, कल्पना समाप्त नहीं होती। प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, विकल्प समाप्त नहीं होता। घटना समाप्त हो जाती है, घटना का झंकार समाप्त नहीं होता। नाद समाप्त हो जाता है किन्तु उसकी प्रतिध्वनि समाप्त नहीं होती। ये प्रतिध्वनियां ही हमारी शक्ति को खत्म करती हैं। अस्तित्व-बोध जहां होता है, जहां दर्शन होता है, केवल देखना होता है वहां कोई प्रतिध्वनि नहीं होती। वहां कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। वहां कोई प्रतिनाद नहीं होता। वहां केवल क्रिया होती है, प्रतिक्रिया नहीं होती। वहां कोरा अस्तित्व का बोध होता है, जिसके साथ कोई विकल्प नहीं जुड़ता, कोई शब्द नहीं जुड़ता। अस्तित्व के बोध में कोई शब्द नहीं होता और जब ज्ञान होता है तो उसके साथ शब्द जुड़ जाता है। 'है', 'है'। दर्शन इतना ही है। केवल 'है', यह है दर्शन। इतना अनुभव होता है कि 'है', इससे आगे कुछ भी नहीं। किन्तु जहां 'अमुक है', यह शब्द जुड़ गया, वह ज्ञान बन गया। चेतन है, अचेतन है, शब्द है, रूप है, रस है, गन्ध है और स्पर्श है—ये सारे विकल्प ज्ञान के होते हैं। जहां केवल 'है' वहां दर्शन है। 'आदमी है'—यह दर्शन है। 'यह अच्छा आदमी है', 'यह बुरा आदमी है', यह सारा ज्ञान हो गया। विकल्प साथ में जुड़ गया। यह सुन्दर है, यह कुरूप है, बड़ा आदमी है, छोटा आदमी है, बड़ा विद्वान् है, मूर्ख है, विकल्प जुड़ गया,

कांच, रत्न रत्न नहीं होगा, दोनों में कोई अन्तर नहीं होगा। कांच कोरा कांच होगा, रत्न कोरा रत्न होगा। किन्तु न कांच का अवमूल्यन होगा, न रत्न का मूल्यांकन होगा।

ज्ञान—विकास की भूमिका
दर्शन—अविकास की भूमिका

क्या हम इस विकास की भूमिका को छोड़कर फिर अविकास की भूमिका में चले जाना चाहते हैं ? दर्शन से ज्ञान की भूमिका में जाने का मतलब है विकास की भूमिका में जाना। और ज्ञान से दर्शन की भूमिका में आने का मतलब है अविकास की भूमिका में आना। हम क्या चाहते हैं ? सामाजिक विकास चाहते हैं या समाज को फिर से दस-बीस हजार वर्ष की पुरानी अवस्था में ले जाना चाहते हैं ? क्या चाहते हैं आखिर ? यदि विकास चाहते हैं तो हमें ज्ञान की भूमिका में जीना होगा, कल्पनाओं के साथ, वृत्तियों के साथ इन सामाजिक मूल्यों के साथ जीना होगा और यदि हम अविकास चाहते हैं तो हमें वहां लौटना होगा जहां स्मृतियां नहीं, विकल्प नहीं, कल्पनाएं नहीं और सामाजिक मूल्य भी समाप्त। आखिर क्या चाहते हैं ? इस प्रश्न की समीक्षा में मेरे सामने दो रास्ते हैं, एक ज्ञेय का और दूसरा ध्येय का। एक ज्ञान का और दूसरा ध्यान का। ज्ञान के साथ ज्ञेय का संबंध है, ध्यान के साथ ध्येय का संबंध है। यदि हम केवल ज्ञान की भूमिका में जीना चाहते हैं तो यही रास्ता हमें स्वीकार करना होगा और विकल्पों के साथ हमें जीना होगा, जूझना होगा, संघर्ष करना होगा और उन मानसिक तनावों को भी झेलते रहना होगा। यदि हम ध्येय की भूमिका में जाना चाहते हैं, यदि हम ध्यान की भूमिका में जाना चाहते है तो फिर ज्ञान से दर्शन की ओर लौटना होगा। यह बहुत जरूरी है। यदि आप विकल्पों से उत्पन्न होने वाले मानसिक समस्याओं से मुक्ति चाहते हैं तो दर्शन की भूमिका में जाना होगा। जितने विकल्प ज्यादा बढ़ते हैं, उतनी मन की अशान्ति ज्यादा बढ़ती है। जितने विकल्प ज्यादा होते हैं, उतनी हमारी शक्तियां ज्यादा खर्च होती हैं। जितनी कल्पनायें ज्यादा होती हैं, आदमी के सिर पर भार उतना ही ज्यादा होता है। यदि इस सचाई का पता चल गया तो आपको उल्टा चलना पड़ेगा। यानी विकल्प से निर्विकल्प की ओर, विचार से निर्विचार की ओर, ज्ञान से दर्शन की ओर, सामाजिक मूल्यों से हटकर आन्तरिक मूल्यों की ओर जाना होगा।

दर्शन और ज्ञान का संतुलन

दर्शन हमारा शत-प्रतिशत मूल्य है। दर्शन हमारा आन्तरिक मूल्य है। दर्शन हमारा आन्तरिक प्रकाश है। दर्शन चेतना का अपना केन्द्र है। ज्ञान बाहर को

कांच, रत्न रत्न नहीं होगा, दोनों में कोई अन्तर नहीं होगा। कांच कोरा कांच होगा, रत्न कोरा रत्न होगा। किन्तु न कांच का अवमूल्यन होगा, न रत्न का मूल्यांकन होगा।

ज्ञान—विकास की भूमिका
दर्शन—अविकास की भूमिका

क्या हम इस विकास की भूमिका को छोड़कर फिर अविकास की भूमिका में चले जाना चाहते हैं? दर्शन से ज्ञान की भूमिका में जाने का मतलब है विकास की भूमिका में जाना। और ज्ञान से दर्शन की भूमिका में आने का मतलव है अविकास की भूमिका में आना। हम क्या चाहते हैं? सामाजिक विकास चाहते हैं या समाज को फिर से दस-बीस हजार वर्ष की पुरानी अवस्था में ले जाना चाहते हैं ? क्या चाहते हैं आखिर ? यदि विकास चाहते हैं तो हमें ज्ञान की भूमिका में जीना होगा, कल्पनाओं के साथ, वृत्तियों के साथ इन सामाजिक मूल्यों के साथ जीना होगा और यदि हम अविकास चाहते हैं तो हमें वहां लौटना होगा जहां स्मृतियां नहीं, विकल्प नहीं, कल्पनाएं नहीं और सामाजिक मूल्य भी समाप्त। आखिर क्या चाहते हैं ? इस प्रश्न की समीक्षा में मेरे सामने दो रास्ते हैं, एक ज्ञेय का और दूसरा ध्येय का। एक ज्ञान का और दूसरा ध्यान का। ज्ञान के साथ ज्ञेय का संबंध है, ध्यान के साथ ध्येय का संबंध है। यदि हम केवल ज्ञान की भूमिका में जीना चाहते हैं तो यही रास्ता हमें स्वीकार करना होगा और विकल्पों के साथ हमें जीना होगा, जूझना होगा, संघर्ष करना होगा और उन मानसिक तनावों को भी झेलते रहना होगा। यदि हम ध्येय की भूमिका में जाना चाहते हैं, यदि हम ध्यान की भूमिका में जाना चाहते है तो फिर ज्ञान से दर्शन की ओर लौटना होगा। यह वहुत जरूरी है। यदि आप विकल्पों से उत्पन्न होने वाले मानसिक समस्याओं से मुक्ति चाहते हैं तो दर्शन की भूमिका में जाना होगा। जितने विकल्प ज्यादा वढ़ते हैं, उतनी मन की अशान्ति ज्यादा बढ़ती है। जितने विकल्प ज्यादा होते हैं, उतनी हमारी शक्तियां ज्यादा खर्च होती हैं। जितनी कल्पनायें ज्यादा होती हैं, आदमी के सिर पर भार उतना ही ज्यादा होता है। यदि इस सचाई का पता चल गया तो आपको उल्टा चलना पड़ेगा। यानी विकल्प से निर्विकल्प की ओर, विचार से निर्विचार की ओर, ज्ञान से दर्शन की ओर, सामाजिक मूल्यों से हटकर आन्तरिक मूल्यों की ओर जाना होगा।

दर्शन और ज्ञान का संतुलन

दर्शन हमारा शत-प्रतिशत मूल्य है। दर्शन हमारा आन्तरिक मूल्य है। दर्शन हमारा आन्तरिक प्रकाश है। दर्शन चेतना का अपना केन्द्र है। ज्ञान वाहर को

कांच, रत्न रत्न नहीं होगा, दोनों में कोई अन्तर नहीं होगा। कांच कोरा कांच होगा, रत्न कोरा रत्न होगा। किन्तु न कांच का अवमूल्यन होगा, न रत्न का मूल्यांकन होगा।

ज्ञान—विकास की भूमिका
दर्शन—अविकास की भूमिका

क्या हम इस विकास की भूमिका को छोड़कर फिर अविकास की भूमिका में चले जाना चाहते हैं? दर्शन से ज्ञान की भूमिका में जाने का मतलब है विकास की भूमिका में जाना। और ज्ञान से दर्शन की भूमिका में आने का मतलब है अविकास की भूमिका में आना। हम क्या चाहते हैं? सामाजिक विकास चाहते हैं या समाज को फिर से दस-बीस हजार वर्ष की पुरानी अवस्था में ले जाना चाहते हैं? क्या चाहते हैं आखिर? यदि विकास चाहते हैं तो हमें ज्ञान की भूमिका में जीना होगा, कल्पनाओं के साथ, वृत्तियों के साथ इन सामाजिक मूल्यों के साथ जीना होगा और यदि हम अविकास चाहते हैं तो हमें वहां लौटना होगा जहां स्मृतियां नहीं, विकल्प नहीं, कल्पनाएं नहीं और सामाजिक मूल्य भी समाप्त। आखिर क्या चाहते हैं? इस प्रश्न की समीक्षा में मेरे सामने दो रास्ते हैं, एक ज्ञेय का और दूसरा ध्येय का। एक ज्ञान का और दूसरा ध्यान का। ज्ञान के साथ ज्ञेय का संबंध है, ध्यान के साथ ध्येय का संबंध है। यदि हम केवल ज्ञान की भूमिका में जीना चाहते हैं तो यही रास्ता हमें स्वीकार करना होगा और विकल्पों के साथ हमें जीना होगा, जूझना होगा, संघर्ष करना होगा और उन मानसिक तनावों को भी झेलते रहना होगा। यदि हम ध्येय की भूमिका में जाना चाहते हैं, यदि हम ध्यान की भूमिका में जाना चाहते है तो फिर ज्ञान से दर्शन की ओर लौटना होगा। यह बहुत जरूरी है। यदि आप विकल्पों से उत्पन्न होने वाले मानसिक समस्याओं से मुक्ति चाहते हैं तो दर्शन की भूमिका में जाना होगा। जितने विकल्प ज्यादा बढ़ते हैं, उतनी मन की अशान्ति ज्यादा बढ़ती है। जितने विकल्प ज्यादा होते हैं, उतनी हमारी शक्तियां ज्यादा खर्च होती हैं। जितनी कल्पनायें ज्यादा होती हैं, आदमी के सिर पर भार उतना ही ज्यादा होता है। यदि इस सचाई का पता चल गया तो आपको उल्टा चलना पड़ेगा। यानी विकल्प से निर्विकल्प की ओर, विचार से निर्विचार की ओर, ज्ञान से दर्शन की ओर, सामाजिक मूल्यों से हटकर आन्तरिक मूल्यों की ओर जाना होगा।

दर्शन और ज्ञान का संतुलन

दर्शन हमारा शत-प्रतिशत मूल्य है। दर्शन हमारा आन्तरिक मूल्य है। दर्शन हमारा आन्तरिक प्रकाश है। दर्शन चेतना का अपना केन्द्र है। ज्ञान बाहर को

व्यक्ति जब ज्ञान की भूमिका से हटकर थोड़ा भी दर्शन करना सीख लेता है, देखना सीख लेता है, सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। यह प्रश्नों की लंबी तालिका अपनी मौत मर जाती है। समाप्त हो जाती है। फिर दर्शन के समय में, निर्विकल्प चेतना के समय में, निर्विचारता की अवस्था में 'है' का बोध होता है। 'है' का केवल 'है' का। 'मैं हूं' का बोध नहीं होता। दर्शन के जगत् में 'हूं' जैसा प्रयोग नहीं होता। 'मैं हूं'—यह दर्शन के क्षेत्र में सर्वथा वर्जित प्रयोग है। दर्शन की सीमा में 'वह है' का प्रयोग भी वर्जित है। 'तुम हो' यह प्रयोग भी वर्जित है। दर्शन की सीमा में केवल 'है' का प्रयोग चलता है। एक 'है' के सिवाय कुछ भी नहीं है। केवल 'है', न प्रथम पुरुप, न मध्यम पुरुप और न उत्तम पुरुप। न पुरुप और न स्त्री। कुछ भी नहीं है। केवल 'है'। न मकान, न जंगल। कुछ भी नहीं। केवल 'है'। 'है के सिवाय कुछ भी नहीं है। इस चेतना का नाम है—संग्रह-चेतना। इस नय का नाम है—संग्रह-नय। जहां केवल 'है' है, इसके सिवाय कुछ भी नहीं है। जब यह स्थिति होती है, तब चेतना शक्तिशाली बनती है। यह चेतना बलवान् बनती है तो फिर अपने आप हमें पता चलता है कि 'मैं हूं'। 'मैं कौन हूं'—यह प्रश्न आज तक लाखों-लाखों व्यक्तियों ने पूछा है, अतीत में भी पूछा है, वर्तमान में लाखों व्यक्ति पूछते जा रहे हैं और भविष्य में लाखों-लाखों व्यक्ति पूछेंगे। 'मैं कौन हूं ?' 'मैं कहां से आया हूं' ? 'मैं कहां जाने वाला हूं ?' इस प्रश्न का उत्तर आज तक कोई दूसरा व्यक्ति नहीं दे सका, न बता सका और न कोई बता पाएगा। चाहे महावीर आ जाएं, चाहे बुद्ध आ जाएं 'मैं कौन हूं'—इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सकते। इस प्रश्न का उत्तर व्यक्ति अपने आप पा सकता है। अपने दर्शन की अवस्था में और निर्विकल्प चेतना के क्षणों में पा सकता है। इसके सिवाय इस प्रश्न का उत्तर देने का और कोई दूसरा माध्यम नहीं हो सकता, कोई उपाय नहीं हो सकता।

है है। फिर 'मैं हूं' 'मैं कौन हूं ?' 'तुम कौन हो।' 'यह कौन है' ? इन सबका उत्तर मिलेगा 'है' की चेतना बलवान बनने पर।

महाकवि गेटे रात को बगीचे में घूम रहे थे। चौकीदार आया। देखा, काफी रात चली गई है। सोचा, कौन घूम रहा है ? कोई चोर होगा, और तो कौन आएगा इस समय ? जाकर पूछा 'तुम कौन हूं' ? कवि था, दार्शनिक था। ऐसा प्रश्न सामने आ गया—'तुम कौन हो ?' बोला—समूचा जीवन बीत गया इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए, अभी मैं नहीं बता सकता कि 'मैं कौन हूं'।

पचास वर्ष नहीं, सौ जन्मों का पूरा सत्र बीत जाए तो भी, 'मैं कौन हूं', इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल सकता। इस प्रश्न का उत्तर दूसरा नहीं दे सकता और बाहर से आ नहीं सकता। इस प्रश्न का उत्तर भीतर से ही आ सकता है। कोई सोता ऐसा फूट जाए कि पानी निकल जाए। कोई ऐसा स्रोत, झरना आ जाए कि

२२. केवल-ज्ञान की साधना

१. दर्शन को खतरा नहीं।
२. ज्ञान के सामने खतरा : विस्तार, विकल्प।
३. विकल्प : आकार—तदाकारपरिणमन।
४. पदार्थ के प्रति राग।
५. राग के विकल्प, द्वेष के विकल्प।
६. सामाजिक जीवन में भी कठिनाइयां।
७. विकल्प को देखें। प्रतिक्रिया न करें। विकल्प के सामने दूसरा विकल्प उपस्थित करें।
८. विकल्प को राग-द्वेषशून्य करना केवल-ज्ञान की साधना है।
९. वहां ज्ञान और ध्यान एक हो जाते हैं। प्रेक्षा की साधना पद्धति पूरी समाधि की पद्धति है।
१०. निर्विकल्प की साधना : विकल्प का शोधन।
११. राग-द्वेषशून्य विकल्प की साधना : शोधन।

ज्ञान : विस्तार की व्याख्या

ज्ञान केवल अस्तित्व तक सीमित नहीं है। वह फैलता है तो विकल्पों के साथ फैलता है, आकार के साथ फैलता है। भगवान् महावीर ने दो शब्द दिए—साकार उपयोग और अनाकार उपयोग; साकार चेतना और अनाकार चेतना। एक चेतना में आकार होता है, और एक चेतना में आकार नहीं होता। दर्शन की चेतना अनाकार चेतना है। उसमें कोई आकार नहीं होता। जब आकार नहीं होता तो कोई विकल्प नहीं होता। ज्ञान चेतना साकार होती है। उसमें आकार होता है, विकल्प होता है। जो ध्येय सामने आता है, ज्ञान उस आकार में परिणत हो जाता है, अपना परिणमन कर लेता है। जितने पदार्थ के आकार, उतने ही ज्ञान के आकार, जितने ज्ञेय के विकल्प, उतने ही ज्ञान के विकल्प। ज्ञान हमारी साकार चेतना है।

दर्शन को चेतना के अतिरिक्त किसी के साथ सम्पर्क करने की जरूरत नहीं होती। वह केवल अस्तित्व 'है' के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। दर्शन के जगत् में कोई भाषा नहीं होती, कोई शब्द नहीं होता, कोई विकल्प नहीं होता, कोई सम्पर्क नहीं होता। ज्ञान के जगत् में भाषा है, शब्द है, विकल्प है और सम्पर्क है। दर्शन के बच्चे को कोई खतरा नहीं, क्योंकि वह घर में ही रहता है। ज्ञान के बच्चे को बहुत बड़ा खतरा रहता है, क्योंकि वह घर से बाहर रहता है, सड़कों पर खेलता रहता है। वह कहीं का कहीं चला जाता है। वह दुनिया के हर कोने में चला जाता है और पदार्थ की प्रत्येक पर्याय पर जाना चाहता है। जो बाहर जाएगा, वह फैलेगा, वह विस्तार करेगा। उसके लिए भाषा का माध्यम आवश्यक होगा।

ज्ञान ने भाषा का सहारा लिया। उसकी अभिव्यक्ति हुई। दर्शन कोई अभिव्यक्ति नहीं करता। ज्ञान ने अभिव्यक्त होकर अपना स्वरूप प्रकट किया। वह दूसरों के समक्ष आया।

साकार : अनाकार

भारतीय साधना-पद्धति में साकार और अनाकार की बहुत चर्चाएं मिलती हैं। अंजन और निरंजन। आत्मा के दो रूप हैं। एक रूप है अंजन और एक रूप है निरंजन। अंजन का अर्थ है—अभिव्यक्ति। निरंजन का अर्थ है—अनभिव्यक्ति, कोई अभिव्यक्ति नहीं। साकार का एक आकार होता है। अनाकार का कोई आकार नहीं होता, अवगाहन नहीं होता। ज्ञान ने भाषा के साथ सम्पर्क स्थापित किया। शब्द जुड़ गए। शब्दों के साथ विकल्प जुड़े। विकल्पों ने उसे आकार दिया। ज्ञान पदार्थ को जानने के लिए प्रवृत्त हुआ, किन्तु साथ-साथ पदार्थ

बात है तो आकाश में रहने वालों के लिए उपयोगी हो सकती है। यदि वह पाताल को बात है तो पाताल में रहने वालों के लिए उपयोगी हो सकती है। हम धरती पर जी रहे हैं, इस मिट्टी पर जी रहे हैं। हम आकाश की पद्धति को महत्त्व नहीं दे सकते। वह जीवन की पद्धति कभी नहीं बन सकती। यदि साधना हमारे जीवन की पद्धति नहीं बनती और कुछ लोगों के लिए ही होती है तो जंगल में जाकर गुफाओं में बैठने वाले ही उससे लाभान्वित हो सकते हैं। वे सारे संपर्कों को तोड़कर अकेला जीवन जीते हैं। ऐसी साधना का मूल्य बहुत सीमित होगा।

साधना कहां ? कब ?

सामजिक स्तर पर साधना का प्रयोग जैन आचार्यों की देन है। भगवान् ने कहा—साधना गांव में भी हो सकती है। साधना जंगल में भी हो सकती है। साधना गांव में भी नहीं हो सकती। साधना जंगल में भी नहीं हो सकती। हम यह सीमा नहीं कर सकते कि जंगल में साधना हो सकती है और गांव में नहीं हो सकती। यह सीमा-रेखा कभी नहीं बन सकती। जंगल में अकेला बैठा आदमी जितना बड़ा पाप कर सकता है, गांव में रहने वाला उतना बड़ा पाप नहीं कर सकता। गांव में रहने वाला व्यक्ति जितना बड़ा साधक हो सकता है, उतना बड़ा साधक जंगल में रहने वाला नहीं भी हो सकता। साधना अकेले में ही होती है, साधना समूह में ही होती है—यह भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती। साधना अकेले में नहीं हो सकती। साधना समूह में नहीं हो सकती। साधना अकेले में भी हो सकती है और साधना समूह में भी हो सकती है।

ध्यान और समाधि की साधना तब होती है जब विकल्प की सारी तरंगें समाप्त हो जाती हैं। जब तक ये तरंगें मस्तिष्क में उत्पन्न होती रहती हैं तब तक साधना नहीं हो सकती, फिर चाहे साधक अकेला रहे या समूह में रहे, गांव में रहे या जंगल में रहे। जब ये तरंगें समाप्त हो जाती हैं तब साधना घटित होती है, फिर चाहे साधक अकेला रहे या समूह में रहे, गांव में रहे या जंगल में रहे।

तरंगों का पिण्ड—मस्तिष्क

मनुष्य के मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की तरंगें उठती ही रहती हैं। कभी क्रोध की तरंग उठती है तो कभी मान और माया की तरंग उठती है। कभी अहं की तरंग उठती है तो कभी ईर्ष्या और घृणा की तरंग उठती है। अनन्त तरंगें हैं। मस्तिष्क सदा इन तरंगों से आक्रान्त रहता है। इन तरंगों से व्यक्ति ही प्रभावित नहीं होता, आसपास का क्षेत्र भी प्रभावित होता है। मनुष्य के मस्तिष्क को सागर से उपमित किया जा सकता है। जब समुद्र में तूफान आता है तब पचासों मील का क्षेत्र जलमग्न हो जाता है। वैसे ही जब मस्तिष्क में विकल्पों का तूफान

बात है तो आकाश में रहने वालों के लिए उपयोगी हो सकती है। यदि वह पाताल की बात है तो पाताल में रहने वालों के लिए उपयोगी हो सकती है। हम धरती पर जी रहे हैं, इस मिट्टी पर जी रहे हैं। हम आकाश की पद्धति को महत्त्व नहीं दे सकते। वह जीवन की पद्धति कभी नहीं बन सकती। यदि साधना हमारे जीवन की पद्धति नहीं बनती और कुछ लोगों के लिए ही होती है तो जंगल में जाकर गुफाओं में बैठने वाले ही उससे लाभान्वित हो सकते हैं। वे सारे संपर्कों को तोड़कर अकेला जीवन जीते हैं। ऐसी साधना का मूल्य बहुत सीमित होगा।

साधना कहां ? कब ?

सामजिक स्तर पर साधना का प्रयोग जैन आचार्यों की देन है। भगवान् ने कहा—साधना गांव में भी हो सकती है। साधना जंगल में भी हो सकती है। साधना गांव में भी नहीं हो सकती। साधना जंगल में भी नहीं हो सकती। हम यह सीमा नहीं कर सकते कि जंगल में साधना हो सकती है और गांव में नहीं हो सकती। यह सीमा-रेखा कभी नहीं बन सकती। जंगल में अकेला बैठा आदमी जितना बड़ा पाप कर सकता है, गांव में रहने वाला उतना बड़ा पाप नहीं कर सकता। गांव में रहने वाला व्यक्ति जितना बड़ा साधक हो सकता है, उतना बड़ा साधक जंगल में रहने वाला नहीं भी हो सकता। साधना अकेले में ही होती है, साधना समूह में ही होती है—यह भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती। साधना अकेले में नहीं हो सकती। साधना समूह में नहीं हो सकती। साधना अकेले में भी हो सकती है और साधना समूह में भी हो सकती है।

ध्यान और समाधि की साधना तब होती है जब विकल्प की सारी तरंगें समाप्त हो जाती हैं। जब तक ये तरंगें मस्तिष्क में उत्पन्न होती रहती हैं तब तक साधना नहीं हो सकती, फिर चाहे साधक अकेला रहे या समूह में रहे, गांव में रहे या जंगल में रहे। जब ये तरंगें समाप्त हो जाती हैं तब साधना घटित होती है, फिर चाहे साधक अकेला रहे या समूह में रहे, गांव में रहे या जंगल में रहे।

तरंगों का पिण्ड—मस्तिष्क

मनुष्य के मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की तरंगें उठती ही रहती हैं। कभी क्रोध की तरंग उठती है तो कभी मान और माया की तरंग उठती है। कभी अहं की तरंग उठती है तो कभी ईर्ष्या और घृणा की तरंग उठती है। अनन्त तरंगें हैं। मस्तिष्क सदा इन तरंगों से आक्रान्त रहता है। इन तरंगों से व्यक्ति ही प्रभावित नहीं होता, आसपास का क्षेत्र भी प्रभावित होता है। मनुष्य के मस्तिष्क को सागर से उपमित किया जा सकता है। जब समुद्र में तूफान आता है तब पचासों मील का क्षेत्र जलमग्न हो जाता है। वैसे ही जब मस्तिष्क में विकल्पों का तूफान

दोनों भाई धन कमाकर घर आ रहे थे। एक के मन में यह तरंग उठी—धन का बंटवारा होगा। आधा धन भाई को देना पड़ेगा। क्यों न उसे समाप्त कर पूरे धन का मालिक मैं ही बन जाऊं।

ये तरंगें उठती हैं। गृहस्थ के मन में नहीं, साधु-संन्यासी भी इन तरंगों से शून्य नहीं हैं।

हमारे मस्तिष्क में इन तरंगों को पैदा करने वाले इतने यन्त्र हैं कि वे कच्चे माल को पक्का माल बनाकर प्रेषित करते हैं। क्या हुआ कोई मुनि या संन्यासी बन गया तो? उसने केवल संकल्प ले लिया कि आगे से वह अकल्याणकारी कार्य नहीं करेगा, परन्तु जो भंडार पहले से भरा पड़ा है, उसका फल उसे भोगना ही होगा। जब तक पूरी निर्जरा या रेचन नहीं होगा, जब तक प्राग्संचित का पूरा विसर्जन नहीं होगा, तब तक भीतर उसकी क्रिया होती रहेगी और प्रतिक्रिया अभिव्यक्त होती रहेगी।

तरंगों का जीवन

प्रत्येक व्यक्ति तरंगों का जीवन जी रहा है। यदि तरंगों का जीवन जीने में कठिनाई न हो, दुःख न हो, तनाव न हो तो वैसा जीवन जीने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु तरंगों का जीवन जीने में समस्याएं और अनगिन मानसिक उलझनें हैं, इसलिए उससे हटकर निस्तरंग जीवन जीना चाहता है आदमी। क्या नदी को यह ज्ञात नहीं है कि तट पर उगे हुए वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाने वाले हैं? पर जब नदी तरंगित होती है तो वह तट पर स्थित वृक्षों को धराशायी करती हुई आगे बढ़ती है। तट नदी की शोभा बढ़ाते हैं, पर वह तरंगित नदी उन्हें भी तोड़-कर छितर जाती है। नदी की ही बात नहीं, मनुष्य भी जब तरंगित होता है तब पारिवारिक व्यवस्थाएं समाप्त हो जाती हैं, सामाजिक और मानवीय मूल्य आंखों से ओझल हो जाते हैं। इसीलिए मनुष्य ने निर्णय लिया कि सामाजिक जीवन जीना है तो समय-समय पर उठने वाली तरंगों पर नियन्त्रण करना होगा। सामाजिक व्यवस्थाओं को मानने के पीछे मनुष्य का यही चिन्तन है। यह चिन्तन भी भय पर टिका होता है। आदमी भय के कारण ही ऐसा कर रहा है। वह सोचता है, लोग क्या कहेंगे? अच्छा नहीं लगेगा। यह चिन्तन आदमी को सामाजिक नियन्त्रणों में बांधे रखता है। यह तरंग को दबाने की प्रक्रिया तो है, परन्तु जहां से तरंग उठती है, उस मूल को समाप्त करने की प्रक्रिया नहीं है। चोर को मारने से क्या होगा? जब तक मां मौजूद है तो चोर उत्पन्न होते ही रहेंगे। मूल बात है, चोर को नहीं, चोर की मां को समाप्त करना है।

दोनों भाई धन कमाकर घर आ रहे थे। एक के मन में यह तरंग उठी— धन का बंटवारा होगा। आधा धन भाई को देना पड़ेगा। क्यों न उसे समाप्त कर पूरे धन का मालिक मैं ही बन जाऊं।

ये तरंगें उठती हैं। गृहस्थ के मन में नहीं, साधु-संन्यासी भी इन तरंगों से शून्य नहीं हैं।

हमारे मस्तिष्क में इन तरंगों को पैदा करने वाले इतने यन्त्र हैं कि वे कच्चे माल को पक्का माल बनाकर प्रेषित करते हैं। क्या हुआ कोई मुनि या संन्यासी बन गया तो? उसने केवल संकल्प ले लिया कि आगे से वह अकल्याणकारी कार्य नहीं करेगा, परन्तु जो भंडार पहले से भरा पड़ा है, उसका फल उसे भोगना ही होगा। जब तक पूरी निर्जरा या रेचन नहीं होगा, जब तक प्राग्संचित का पूरा विसर्जन नहीं होगा, तब तक भीतर उसकी क्रिया होती रहेगी और प्रतिक्रिया अभिव्यक्त होती रहेगी।

तरंगों का जीवन

प्रत्येक व्यक्ति तरंगों का जीवन जी रहा है। यदि तरंगों का जीवन जीने में कठिनाई न हो, दुःख न हो, तनाव न हो तो वैसा जीवन जीने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु तरंगों का जीवन जीने में समस्याएं और अनगिन मानसिक उलझनें हैं, इसलिए उससे हटकर निस्तरंग जीवन जीना चाहता है आदमी। क्या नदी को यह ज्ञात नहीं है कि तट पर उगे हुए वृक्ष उसकी शोभा बढ़ाने वाले हैं? पर जब नदी तरंगित होती है तो वह तट पर स्थित वृक्षों को धराशायी करती हुई आगे बढ़ती है। तट नदी की शोभा बढ़ाते हैं, पर वह तरंगित नदी उन्हें भी तोड़-कर छितर जाती है। नदी की ही बात नहीं, मनुष्य भी जब तरंगित होता है तब पारिवारिक व्यवस्थाएं समाप्त हो जाती हैं, सामाजिक और मानवीय मूल्य आंखों से ओझल हो जाते हैं। इसीलिए मनुष्य ने निर्णय लिया कि सामाजिक जीवन जीना है तो समय-समय पर उठने वाली तरंगों पर नियन्त्रण करना होगा। सामाजिक व्यवस्थाओं को मानने के पीछे मनुष्य का यही चिन्तन है। यह चिन्तन भी भय पर टिका होता है। आदमी भय के कारण ही ऐसा कर रहा है। वह सोचता है, लोग क्या कहेंगे? अच्छा नहीं लगेगा। यह चिन्तन आदमी को सामाजिक नियन्त्रणों में बांधे रखता है। यह तरंग को दबाने की प्रक्रिया तो है, परन्तु जहां से तरंग उठती है, उस मूल को समाप्त करने की प्रक्रिया नहीं है। चोर को मारने से क्या होगा? जब तक मां मौजूद है तो चोर उत्पन्न होते ही रहेंगे। मूल बात है, चोर को नहीं, चोर की मां को समाप्त करना है।

मूल पर प्रहार

मूल को समाप्त करना चाहिए। ऊपर का नियन्त्रण एक तरंग को दबाता है तो दूसरी उठ जाती है। दूसरी को दबाता है दो तीसरी उभर आती है। यह क्रम रुकता नहीं।

अध्यात्म के साधकों ने कहा—तरंगों को दवाने से काम नहीं होगा। हमें मूल पर प्रहार करना चाहिए। निर्विकल्प चेतना तक पहुंचने पर ये सारी समस्याएं समाहित हो जाती हैं। निर्विकल्प चेतना का नाम है—दर्शन। यदि दर्शन की भूमिका का अभ्यास किया जाए, निर्विकल्प चेतना की आराधना की जाए तो एक दिन ऐसा आ सकता है कि विकल्प की तरंगें उठनी कम हो जाती हैं और एक दिन वे पूर्णरूप से समाप्त हो जाती हैं।

अध्यात्म के साधकों ने केवल-ज्ञान की खोज की। केवल-ज्ञान की साधना। ज्ञान चले। आकार रहे। विकल्प चले। किन्तु विकल्प के साथ राग और द्वेष न हो। दोनों को अलग कर दिया जाए। पानी को फिल्टर कर दिया जाए। केवल पानी रहे, मिश्रित द्रव्य अलग हो जाए।

दो खोजें

अध्यात्म के आचार्यों की ये दो महत्त्वपूर्ण खोजे हैं—

१. निर्विकल्प चेतना—दर्शन चेतना।
२. राग-द्वेषमुक्त विकल्प चेतना—ज्ञान चेतना।

इनकी साधना पूर्ण साधना है। इनकी साधना से अतिरिक्त कोई साधना नहीं है। साधना की सारी पद्धतियां इन दो में समाहित हो जाती हैं। जैसे नदियां समुद्र में मिल जाती हैं, वैसे ही सारी साधना-पद्धतियां केवल-दर्शन की साधना-पद्धति में और केवल-ज्ञान की साधना पद्धति में मिल जाती हैं। इनसे परे साधना की कोई तीसरी पद्धति नहीं है।

महर्षि पतंजलि ने कहा—'यथाभिमतध्यानाद् वा' [१।३९]—ध्यान की अनेक पद्धतियां हैं। उनकी कोई सूची नहीं वनाई जा सकती। जिसका मन जिस पद्धति में लग जाए वही उसके लिए अच्छी है। किन्तु एक शर्त है कि वह साधना पद्धति केवल-दर्शन और केवल-ज्ञान की सीमा से परे न जाए। जो साधना होगी, वह इस सीमा में ही होगी। इससे परे नहीं हो सकती।

प्रेक्षा-ध्यान में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का बहुत महत्त्व है, विनम्रता और इन्द्रिय-संयम का बहुत महत्त्व है। इन सबमें एक तत्त्व काम करता है और वह है राग-द्वेषमुक्त विकल्प। जीवन-यात्रा चलाने वाला आदमी निरन्तर निर्विकल्प नहीं रह सकता। जो निरन्तर निर्विकल्प रहना चाहता है

उसे जीवन यात्रा-शीघ्र सम्पन्न करनी होती है।

मन का जाना

मुनि विहार कर जा रहे थे। रास्ता लम्बा था। वे रास्ता भूल गए। खेत में एक किसान खड़ा था। मुनि ने पूछा—रास्ता कौन-सा जाएगा ? रास्ता बताने वाले को भी रास्ता पूछना पड़ता है। किसान आया। उसने रास्ता बता दिया। मुनि ने सोचा—इसे भी मोक्ष का रास्ता बताना चाहिए। मुनि ने किसान से कहा—'क्या करते हो ? खेती करता हूं। 'क्या कुछ व्रत-नियम भी निभाते हो ?' नहीं, मुझे कुछ नहीं आता। 'कुछ त्याग-प्रत्याख्यान लो।' 'मुझे कोई एक संकल्प करा दो। मैं दो-चार संकल्प नहीं ले सकता।' मुनि बोले—केवल एक संकल्प। अपने मन की बात न करना। मन जैसा कहे वैसा न करना।' किसान बोला—अच्छी बात है। यह संकल्प है। मैं अपने मन के अनुसार कुछ नहीं करूंगा।' मुनि चले गए।

किसान ने सोचा—खेत में जाऊं। फिर सोचा—अरे ! यह तो मन का जाना हो गया, कैसे जाऊं ? खड़ा रहा। पत्नी घर से भोजन लेकर आई। किसान खेत के बाहर ही खड़ा था। पत्नी ने बुलाया। वह कैसे बोलता ? मन का जाना हो जाता। वह नहीं बोला। खड़ा रहा। बैठ भी नहीं सका। क्योंकि वह भी मन का जाना हो जाता। लम्बे समय तक खड़ा रहना पड़ा। उसकी जीवन-यात्रा समाप्त हो गई।

दोनों साथ-साथ

निर्विकल्प चेतना और जीवन-यात्रा दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। जीवन-यात्रा के लिए विकल्प जरूरी है। विकल्प जरूरी है तो साधना क्यों ? यही तो एक महत्त्वपूर्ण खोज है कि जीवन की यात्रा भी चले, विकल्प भी चले और साधना भी चले।

केवल-ज्ञान की साधना का अर्थ है—मन में जो विकल्प उठे तो उनका उत्तर मत दो। पहले निर्णय करो कि यह राग से उत्पन्न विकल्प है या द्वेष या अहंकार से उत्पन्न विकल्प है। यह निर्णय करो कि यह विकल्प जीवन की आवश्यकता और उपयोगिता के सन्दर्भ में उठा है या और किसी कारण से। जब यह लगे कि इस विकल्प के पीछे दूसरी प्रेरणाएं नहीं हैं, केवल जीवन-यात्रा के निर्वाह की प्रेरणा है तब उस विकल्प का समाधान करना होता है, उसका उत्तर देना आवश्यक होता है। जब यह लगे कि ये विकल्प राग आदि तरंगों के कारण उत्पन्न हुए हैं तब उन विकल्पों का उत्तर मत दो, उनका शमन करो, उनकी उपेक्षा करो। उन्हें दबाओ मत, असहयोग करो। या तो निर्विकल्प-चेतना की स्थिति में चले जाओ,

जिससे कि विकल्प अपने आप शान्त हो जाएं, या राग-द्वेषमुक्त चेतना की स्थिति में चले जाओ, जिससे कि एक विकल्प के सामने दूसरा विकल्प खड़ा हो जाए और वह पहला विकल्प शक्तिशून्य बन जाए। यह अन्यान्य विकल्पों के सामने राग-द्वेषमुक्त विकल्प खड़ा करने की साधना ही केवल-ज्ञान की साधना है।

राग-द्वेषमुक्त चेतना का क्षण

केवल-ज्ञान की साधना कठिन साधना नहीं है। यह कठोर तपस्या या शरीर को सुखाने की साधना नहीं है। आदमी इसका आचरण न कर सके, ऐसी साधना नहीं है। केवल-ज्ञान की साधना-पद्धति और केवल-दर्शन की साधना-पद्धति कुछेक लोगों के जीवन की पद्धति नहीं है, यह समूचे समाज के लिए उपयोगी है।

हमारी कोई भी प्रवृति राग-द्वेषमुक्त होती है, वह प्रवृति है अहिंसा, वह प्रवृत्ति है सत्य, वह प्रवृत्ति है अचौर्य, वह प्रवृत्ति है ब्रह्मचर्य और वह प्रवृत्ति है अपरिग्रह। अहिंसा और ध्यान में कोई अन्तर नहीं है। अहिंसा और समाधि में कोई अन्तर नहीं है। ज्ञान और समाधि में कोई अन्तर नहीं है। जब-जब जिस क्षण में राग-द्वेषमुक्त चेतना जागती है, वह अहिंसा है, ध्यान है, समाधि है। इसीलिए एक जगह आंखें बंद कर, कायोत्सर्ग की मुद्रा में बैठना ही समाधि या ध्यान नहीं है। यदि सम्यक् चेतना जाग जाए तो समाधि की साधना पूरे दिन हो सकती है। इसीलिए यह जीवन की पद्धति बन सकती है। किसी भी कालबद्ध, देशबद्ध और सीमाबद्ध साधना-पद्धति को जीवन की पद्धति नहीं बनाया जा सकता। किन्तु प्रतिक्षण हर देश और काल में जो अप्रमाद का भाव जागता है, जागरूकता आती है, राग-द्वेपमुक्त क्षण जीने की एक अभ्यास-विधि बन जाती है तो वह सारी समाधि की साधना है। इसीलिए समाधि की साधना समग्र जीवन की साधना है। समाधि की साधना सामाजिक पद्धति में जीने वाले व्यक्ति की जीवन पद्धति है। इस समग्रता को हम खंडों में न बांटें। समग्रता की दृष्टि से इसका उपयोग करें। इसमें केवल एक ही शर्त है कि जागरूकता प्रतिक्षण रहे। प्रेक्षा-ध्यान द्वारा जैसे-जैसे देखने और जानने का अभ्यास बढ़ता है, सेंटरों में होने वाले प्रकंपनों को जानने का और अनुभव करने का अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे राग-द्वेपमुक्त क्षण जीने का विकास होता है, साधना बढ़ती है और एक दिन जीवन में इतनी जागरूकता आती है कि आदमी जीवन-यात्रा को चलाते हुए भी, व्यवहार की भूमिका पर करणीय कार्य करते हुए भी अच्छे साधक का जीवन जी सकता है।

२३. चित्त-शुद्धि और समाधि

१. प्रेक्षा की पद्धति केवल-दर्शन और केवल-ज्ञान की पद्धति—केवल देखना और केवल जानना।

२. दर्शन और ज्ञान आत्मा का सहज स्वरूप, इसलिए वही समाधि।

३. दर्शन और ज्ञान की क्षमता को बढ़ाने के लिए चित्त-शुद्धि के उपायों का आलंबन।

४. चित्त-शुद्धि के उपाय—

- विचय ध्यान—साकार या सविकल्प समाधि, वस्तु के स्वभाव का पता लगाना, जानना।
- लोक-विचय या शरीर-विचय—शरीर की क्रिया का बोध।
- सूक्ष्म-शरीर-विचय—शारीरिक विद्युत् की क्रिया का बोध।
- अतिसूक्ष्म-शरीर-विचय—सुख-दुःख या कर्म-विपाक का बोध।

५. अकेला होना—समाधि को प्राप्त होना।

तेईस

साध्य भी वही, साधन भी वही

प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति केवल-दर्शन और केवल-ज्ञान की पद्धति है। केवल देखना है और केवल जानना है। केवल देखना हो, उसके साथ कोई प्रियता और अप्रियता का संवेदन न हो। केवल जानना हो, उसके साथ कोई प्रियता और अप्रियता का संवेदन न हो, राग-द्वेष की कोई ऊर्मि या तरंग न हो। दर्शन भी निस्तरंग हो और ज्ञान भी निस्तरंग हो। चेतना का शान्त समुद्र है—प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति।

आत्मा का स्वभाव है—दर्शन और ज्ञान, देखना और जानना। साधना की पद्धति वही हो सकती है जो आत्मा का स्वभाव है। आत्मा को उपलब्ध होना समाधि है, इसलिए समाधि की पद्धति वही हो सकती है जो आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के स्वभाव से हटकर उसे उपलब्ध करने की कोई पद्धति नहीं हो सकती। आत्मा का जो स्वभाव नहीं है, उस स्वभाव से विपरीत पद्धति का प्रयोग कर हम आत्मा को उपलब्ध नहीं हो सकते। हमें समाधि उपलब्ध नहीं हो सकती, कुछ और ही उपलब्ध हो सकता है। जब साध्य और साधन एक होता है तब प्राप्तव्य प्राप्त होता है। साध्य और साधन में दूरी नहीं होनी चाहिए। हमारा साध्य है—अनावृत चैतन्य की उपलब्धि, निर्बाध आनन्द की उपलब्धि और अप्रतिहत शक्ति की उपलब्धि। जब साध्य है—चैतन्य, आनन्द और शक्ति तो उसकी प्राप्ति का साधन भी चैतन्यमय, आनन्दमय और शक्तिमय ही हो सकता है। दूसरा कोई साधन नहीं बन सकता।

पत्नी ने पति से कहा—बच्चों को संभालो। मैं डॉक्टर के पास जा रही हूं। दांतों में भयंकर दर्द है। दांत निकलवाने हैं। पति बोला—बच्चों का झंझट मुझसे नहीं हो सकता। बच्चों को तुम संभालो। मैं डॉक्टर के पास जाकर अपने दांत निकलवा लेता हूं।

दांत का दर्द किसी के है और निकलवाने कोई दूसरा जा रहा है। यह कैसे

होगा ? इससे क्या बनेगा ?

समाधि की उपलब्धि

चैतन्य की उपलब्धि चैतन्य ही करा सकता है। जो व्यक्ति चैतन्य की आराधना करता है वही चैतन्य को उपलब्ध हो सकता है। आनन्द को वही व्यक्ति उपलब्ध हो सकता है जो आनन्द की समुपासना करता है। शक्ति की संप्राप्ति उसी को होती है जो शक्ति की अराधना करता है। चैतन्य, आनन्द और शक्ति की आराधना किए बिना कोई भी व्यक्ति समाधि में नहीं जा सकता। समाधि की प्राप्ति के लिए उनकी आराधना आवश्यक है।

ज्ञान स्वयं समाधि है। दर्शन स्वयं समाधि है। आनन्द स्वयं समाधि है। शक्ति स्वयं समाधि है। यह सब सहज समाधि है, क्योंकि ज्ञान, दर्शन, आनन्द, और शक्ति—ये आत्मा के स्वभाव हैं। जब-जब और जहां-जहां आत्मा से दूरी होती है, तब-तब और वहां-वहां समाधि का भंग होता है। जब-जब और जहां-जहां आत्मा की निकटता होती है, तब-तब और वहां-वहां समाधि घटित होती है। समाधि आत्मा का स्वभाव है, चैतन्य का स्वभाव है, सहज अवस्था है।

विस्तार क्यों ?

जब केवल देखना और केवल जानना समाधि है तो केवल देखें, केवल जानें। जानते रहें, देखते रहें। बस, इतना पर्याप्त है। यह सारा प्रपंच क्यों ? श्वास और शरीर-प्रेक्षा क्यों ? कायोत्सर्ग और रंग-ध्यान क्यों ? केवल चैतन्य का अनुभव पर्याप्त है, जानना और देखना पर्याप्त है। किसी भी विस्तार की अपेक्षा नहीं है।

बात ठीक है। केवल जानना और देखना है। पद्धति सहज और सरल है। परंतु कभी-कभी जो सहज-सरल होता है वह कठिन भी बन जाता है। सरल सरलता से उपलब्ध नहीं होता। सरल को उपलब्ध करने के लिए अनेक कठिनाइयों से गुजरना पड़ता है। संतों ने अनेक बार गाया—**सहज समाधि भली**। सुनने में अच्छा लगता है। कोई झंझट नहीं। सहज समाधि में रहें। यह सुनने और कहने में सरल लगता है। पर जब सहज समाधि की साधना करने का प्रश्न आता है तब अटपटा-सा लगता है। यदि समाधि की उपलब्धि सहज होती तो दुनिया असमाधि में क्यों रहती ? कोई भी व्यक्ति मानसिक उलझनों और तनावों का शिकार क्यों होता ? हर आदमी सहज समाधि में चला जाता। जिसने सोचा, वह सहज समाधि में चला गया। बात सीधी-सी लगती है, पर है बहुत ही टेढ़ी।

सभी जानते हैं, रोटी खाने से भूख मिटती है, पेट भरता है। रोटी खाने और

पेट भरने में कोई दूरी नहीं है, कोई उलझन नहीं है। किन्तु रोटी को उपलब्ध करने में कितनी उलझनें हैं। रोटी खाओ, पेट भर जाएगा—यह बात जितनी सीधी है, रोटी को उपलब्ध करना उतना सीधा नहीं है। उसको प्राप्त करने के लिए सारा प्रपंच, विस्तार और व्यवसाय किया जाता है। खाने के लिए कोई प्रपंच नहीं है, कोई विस्तार नहीं है, कोई व्यवसाय नहीं है।

देखो, समाधि प्राप्त हो जाएगी। जानो, समाधि प्राप्त हो जाएगी। वात सीधी है, किन्तु देखने और जानने की क्षमता कैसे उपलब्ध हो, यह जटिल वात है। यह सारा प्रपंच और विस्तार उस क्षमता को पैदा करने के लिए है। यह प्रयत्न इसीलिए है कि देखने और जानने की इतनी क्षमता वढ़ जाए कि हम जव चाहें तव देख लें और जव चाहें तव जान लें। कोई व्यवधान न हो, कोई अन्तराय न हो। उस क्षमता को विकसित करते के लिए ही साधना की ये भूमिकाएं की गई हैं।

क्षमता का विकास और आलंवन

उस क्षमता को विकसित करने के लिए अनेक आलंवन लिए जाते हैं। श्वास का आलंवन, स्थिरता का आलंवन, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का आलंवन, अतिसूक्ष्म शरीर का आलंवन—ये सारे आलंवन उस क्षमता को विकसिम करने के लिए हैं। आलंवन गति में सहायक होते हैं। आलंवनों के आधार पर आदमी वीहड़ पथ को भी पार कर जाता है। आदमी ऊंचे पहाड़ों और भीषण नदियों को आलंवनों के सहारे पार कर जाता है। देखने और जानने के वीच में अनेक पर्वत हैं, अनेक नदियां हैं। उन्हें आलंवनों के सहारे ही पार किया जा सकता है। जव साधक देखने और जानने के लिए वैठता है तव स्मृति की महानदी वीच में आ जाती है। वह भयंकर रूप से उफनती है। उसे पार किए विना कोई केवल देख या जान नहीं सकता। स्मृतियां उभरती हैं, जानना और देखना छूट जाता है। आदमी उस स्मृतियों की महानदी में डूव जाता है। वह स्मृतियों में उलझ जाता है। स्मृतियां न आएं, वे वाधक न वनें—यह आलंवन के द्वारा ही संभव हो सकता है। अन्यथा आदमी स्मृतियों के तूफान से वच नहीं सकता।

दूसरी महानदी है—कल्पना। आदमी देखने-जानने के लिए प्रयत्न करता है, पर कल्पनाएं उसे भटका देती हैं। एक के वाद दूसरी कल्पनाओं का तांता लग जाता है और आदमी कल्पना के इस जाल को तोड़ नहीं पाता। कल्पनाएं आती हैं, विकल्प उभरते हैं और देखना-जानना छूट जाता है।

शेखचिल्ली की कहानी वहुत प्रसिद्ध है। वह कोई एक व्यक्ति रहा होगा। आज तो सारे लोग शेखचिल्ली वन रहे हैं, कल्पनाओं के महल खड़े कर रहे हैं। जानते हैं, कल्पनाओं से कुछ भी आना-जाना नहीं है, पर वे इस मायाजाल से छूट

नहीं पाते।

चिंतन भी एक महानदी है। उसका पार पाना भी सहज नहीं है। मस्तिष्क में जब विचारों का ज्वार आता है तब न जाने क्या-क्या घटित हो जाता है। निर्विचार रहना कठिन बात है। लंबे समय तक निर्विचार रहना कठिन भी है और जीवन-यात्रा के लिए संभव भी नहीं है।

केवल देखने और केवल जानने में स्मृति, कल्पना और चिन्तन—ये तीन विघ्न हैं। आलंबनों के सहारे इन विघ्नों को मिटाया जा सकता है।

विचय-ध्यान

दर्शन और ज्ञान की क्षमता को बढ़ाने के लिए सबसे बड़ा आलंबन है—विचय और प्रेक्षा। विचय का अर्थ है—खोजना, अन्वेषण करना, विमर्श करना। निर्विचार ही ध्यान नहीं होता, विचार भी ध्यान होता है। एक का आलंबन लेकर हम दूसरों से निपट सकते हैं। विकल्प भी ध्यान होता है। जो विकल्प राग-द्वेष से शून्य होता है तब वह विकल्प भी ध्यान होता है। वह विचार भी ध्यान है जिसमें राग-द्वेष नहीं है। अहंकार और ममकार की तरंगों से मुक्त प्रत्येक विकल्प और विचार ध्यान है। जिस विचार में प्रियता और अप्रियता की पुट न हो वह ध्यान है। इसी की संज्ञा है—विचय-ध्यान। यह ध्यान की महत्त्वपूर्ण पद्धति है। यह है—सत्य को खोजना, केवल यथार्थ पर विचार करना, चिन्तन करना, यथार्थ का अनुसंधान करना। इसका अर्थ है—एक साथ चित्त की सारी वृत्तियों को सत्य की खोज में लगा देना, नियोजित कर देना। यह विचय-ध्यान विघ्नों की महानदियों को पार करने के लिए एक पुष्ट आलंबन है। इस विचय-ध्यान के द्वारा स्मृतियों के सारे द्वार बन्द हो जाते हैं, केवल एक स्मृति या विचार का आलंबन होता है, शेष सारी स्मृतियां या विचार बन्द हो जाते हैं। एक विकल्प का आलंबन होता है, शेष सारे विकल्प रुक जाते हैं। एक विकल्प पर, एक विचार पर, एक स्मृति पर होने वाली एकाग्रता विचय-ध्यान है। यह यथार्थ को जानने की बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह सत्य के खोज की बहुत ही महत्त्वपूर्ण पद्धति है। जब मनुष्य अहंकार और ममकार से हटकर वस्तु के स्वभाव को उपलब्ध होता है, यथार्थ को जानता है तब देखने-जानने की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। वह जो जैसा है उसे वैसा जान लेता है। प्राचीन साधकों और दार्शनिकों ने इसी विचय-ध्यान के द्वारा सत्य को खोजा था। आज के वैज्ञानिक भी इसी पद्धति के द्वारा सत्य तक पहुंचते हैं। वस्तु-जगत् में जितनी घटनाएं घटित होती हैं, उनका ज्ञान विचय-ध्यान के द्वारा ही हो सकता है। प्राचीन साधकों और अध्यात्म-योगियों ने वस्तु-सत्यों की, वस्तु के सूक्ष्मतम रहस्यों की खोज विचय-ध्यान के माध्यम से की थी। वस्तु का स्थूल रूप हमारे सामने होता है। उसे हम देख सकते हैं, जान

सकते हैं, किन्तु उसका सूक्ष्म-स्वरूप ज्ञात नहीं होता। उस पर ध्यान केन्द्रित करने पर ही उसके अन्तर्-स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। ऊपर केवल छिलका होता है। उसका ज्ञान हर व्यक्ति को हो सकता है। जब तक छिलके के भीतर नहीं देखा जाता, तब तक सार का पता ही नहीं चलता। हमें आपातदर्शन में जो दिखाई देता है, वह वस्तु का ऊपरी भाग होता है। वस्तु उतनी ही नहीं होती, उसकी गहराई उतनी ही नहीं होती जितनी इन चर्मचक्षुओं से दीखती है। सारी गहराइयों को नापने के लिए बहुत गहराई में जाना पड़ता है।

सब पदार्थ ध्येय

मेरे सामने भींत है। उसका रंग, उसकी लंबाई-चौड़ाई दिखाई दे रही है। मैं स्पष्ट देख रहा हूं कि वह सफेद है, इतनी लंबी-चौड़ी है। किन्तु यदि मैं इसे लगातार ५-१० घंटा देखता रहूं तो मुझे और भी बहुत कुछ दिखाई देगा जो भींत से संबंधित है। भगवान् महावीर तिर्यग्भित्ति पर ध्यान करते थे। वे एक भींत के सामने बैठ जाते और घंटों तक उसे एकटक देखते रहते। यह अजीब-सा लगता है। पाना है आत्मा को, जानना है चैतन्य को और देखी जा रही है भींत। भींत को देखने से आत्मा कैसे मिलेगी? आत्म-साक्षात्कार कैसे होगा? आत्मा की साधना करने वाला भींत पर ध्यान एकाग्र कर रहा है। आत्मा की साधना करने वाला शव को देख रहा है। आत्मा की साधना करने वाला एक जर्जरित व्यक्ति को देख रहा है। आत्मा की साधना करने वाला एक पशु को देख रहा है, एक गंदगी के ढेर को देख रहा है। क्या संबंध है इन सब वस्तुओं का और आत्म-साक्षात्कार का? स्थूल दृष्टि से कोई संबंध नहीं लगता। किन्तु जिस व्यक्ति को देखना सीखना है, जानना सीखना है उसके लिए आत्मा में और अन्यान्य वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं लगता। आत्मा एक तत्त्व है और भींत या शव या बूढ़ा भी एक तत्त्व है। आत्मा भी ज्ञेय है और अन्यान्य पदार्थ भी ज्ञेय हैं। आत्मा भी ध्येय है और अन्यान्य पदार्थ भी ध्येय हैं। देखने और जानने की शक्ति को बढ़ाने के लिए कोई आलंबन चाहिए। जिसने भींत को आलंबन बनाया, उस पर ध्यान केन्द्रित किया, तो धीरे-धीरे उसका ध्यान एकाग्र हुआ और तब उसके सामने अनेक नये रहस्य उद्घाटित होने लगे। तब आश्चर्य होता है कि जिस भींत को देखते-देखते अनेक वर्ष बीत गए, जिसको सैकड़ों बार देख लिया, कोई नयी बात उपलब्ध नहीं हुई और आज दस घंटा तक अपलक दृष्टि से देखने पर लगा कि भींत में प्रतिक्षण असंख्य परमाणु आ रहे हैं, जा रहे हैं, मानो कि भींत चल रही है, अचल नहीं है। भींत के बीच अनन्त परमाणु आ-जा रहे हैं। भींत का कण-कण दरवाजा बना हुआ है। इस भींत में से सर्दी के, गर्मी के और बीमारी के परमाणु आ रहे है, जा रहे हैं। शब्दों के परमाणु आ-जा रहे हैं, चिन्तन के परमाणु आ-जा

रहे हैं। तैजस और विद्युत् के परमाणु तथा हमारे भोजन के परमाणु आ-जा रहे हैं। संसार में ऐसा कौन-सा सूक्ष्म परमाणु है जो इस भींत में से न आ-जा रहा हो। जब यह दृष्ट होगा तब भींत के स्वरूप की कल्पना ही बदल जाएगी। भींत भींत नहीं रहेगी, उसका अवरोधक रूप नहीं रहेगा। ज्ञात हो जाएगा कि भींत का कण-कण एक दरवाजा है जिसमें से सब कुछ सूक्ष्म आ-जा सकता है। यह तब होता जब विचय-ध्यान की साधना होती है। विचय-ध्यान सिद्ध होने पर व्यक्ति जिस किसी पदार्थ—चेतन या अचेतन पर एकाग्र होगा तब उस पदार्थ के नये-नये पर्याय उद्घाटित होते जाएंगे। उसका स्वरूप बहुत स्पष्ट होता जाएगा।

विचय ध्यान : निष्णातता का सूत्र

श्रीमज्जयाचार्य महामनीषी थे। उन्होंने आगमों का मंथन किया, दोहन किया और आगम की गहनतम गुत्थियों को सुलझाने में अपनी शक्ति का नियोजन किया। जीवन के अन्तिम समय में एक बार उन्होंने अपने उत्तराधिकारी से कहा—'मघजी ! उत्तराध्ययन सूत्र का जितनी बार पारायण करता हूं, उतनी ही बार नये-नये रत्न प्राप्त होते हैं। आज भी यह बात मिली जो आज तक अज्ञात थी।'

प्रत्येक अक्षर और शब्द के अनन्त पर्याय होते हैं। एक बार पढ़ने वाला एक पर्याय को जान सकता है, किन्तु जो उसका सतत अवगाहन करता रहता है वह धीरे-धीरे नये-नये पर्यायों से अवगत होता रहता है। मूल बात है ध्यान को केन्द्रित करने की। जो जिस विषय पर केन्द्रित होता है, वह उस विषय में निष्णात हो जाता है, उसके सारे पर्यायों या अधिकतम पर्यायों को जान जाता है। ध्यान को केन्द्रित करने का विषय आगम भी हो सकता है और शव या वृद्ध व्यक्ति भी हो सकता है। जिस वस्तु पर जितना ध्यान केन्द्रित होगा, जितना विचय होगा, उतने ही नए-नए पर्याय अभिव्यक्त होते जाएंगे। गीता पर कितनी व्याख्याएं और भाष्य लिखे गए। जिस व्यक्ति ने जितना ध्यान केन्द्रित किया, जितना विचय किया, उतना ही वह गहराई में उतरा और नए-नए अर्थ अभिव्यक्त हुए। सारे बौद्धिक संघर्षों का यही कारण है कि एक व्यक्ति एक पर्याय तक पहुंचता है, दूसरा दूसरी पर्याय तक और चौथा-चौथी पर्याय तक। जो और अधिक गहरे में जाता है उसे और अधिक पर्याय ज्ञात हो जाते हैं और तब वह और नये-नये अर्थ अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार अर्थ में बहुत भिन्नता आ जाती है। यह भिन्नता संघर्ष पैदा करती है। इस भिन्नता में भी एक अभिन्न अंश है। उस वस्तु के विषय में जितने विचार हैं वे सब अपनी-अपनी भूमिका में सत्य हैं। शब्द के पर्याय अनन्त हैं तो अर्थ भी अनन्त हो सकते हैं। जो व्यक्ति शब्द के जिस पर्याय को पकड़ पाता है, उसे ही वह अभिव्यक्ति देता है। उसका कथन असत्य नहीं हो सकता। उसकी

पहुंच उस पर्याय तक ही थी, इसलिए उसने वह अर्थ किया।

लुकमान पौधों के पास जाते, उन पर एकाग्र होते और उनके गुण-धर्मों को जान जाते। यह विचय की प्रक्रिया है। इससे अज्ञात पर्याय ज्ञात होते हैं और ज्ञात पर्याय और अधिक स्पष्ट होते हैं। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

विज्ञान और ध्यान में द्वैत नहीं

विज्ञान और ध्यान की एक ही प्रक्रिया है। जहां तक सत्य की खोज का प्रश्न है वहां तक दोनों में कोई अन्तर नहीं है। विज्ञान स्वयं ध्यान की प्रक्रिया है और ध्यान स्वयं विज्ञान की प्रक्रिया है। कोई अन्तर नहीं है। अन्तर होता है उपयोगिता के क्षेत्र में। अन्तर आता है प्रयोग-काल में, प्रयोग-अवस्था में। चाकू एक पदार्थ है। उसमें काटने की शक्ति है। उससे साग भी काटा जा सकता है, किसी, पर प्रहार भी किया जा सकता है और ऑपरेशन भी किया जा सकता है। शक्ति शक्ति होती है। उसका उपयोग भिन्न-भिन्न हो जाता है। जहां शक्ति को खोजने का प्रश्न है, यथार्थ को और वस्तु-स्वभाव को जानने का प्रश्न है वहां विज्ञान और ध्यान में कोई अन्तर नहीं हो सकता। जो वैज्ञानिक ध्यान का अभ्यास नहीं करता वह नये तथ्यों की खोज नहीं कर सकता। जो साधक ध्यान का प्रयोग नहीं करता वह वस्तुओं की अज्ञात पर्यायों को नहीं जान सकता। नये पर्यायों को जानने के लिए विचय-ध्यान अत्यन्त उपयोगी है।

विचय और विकल्प ध्यान कब ?

वस्तु-स्वभाव को जान लेने के पश्चात् जब उसके साथ हमारी रागात्मक और द्वेषात्मक धारा जुड़ती है, अहंकार और ममकार की भावना जुड़ती है, प्रियता और अप्रियता का संवेदन जुड़ता है तब वह ज्ञान ध्यान नहीं रहता, वह विचार और विकल्प ध्यान नहीं रहता, और कुछ बन जाता है। यदि वह ध्यान बना रहता है तो उसकी संज्ञा होगी—आर्तध्यान, रौद्रध्यान। चेतना को उज्ज्वल बनाने वाला, चेतना को उपाधिमुक्त करने वाला ध्यान नहीं रहता। चित्त-शुद्धि के लिए वही विचय और विकल्प ध्यान बनता है, जिसके साथ किसी भी प्रकार का प्रदूषण नहीं है। जिसके साथ न राग है, न द्वेष है, न ममकार है, न अहंकार है और न प्रियता-अप्रियता का संवेदन है।

प्रत्येक वस्तु ध्यान का आलंबन बन सकती है। प्रत्येक सत्य ध्यान का आलंबन बन सकता है।

यदि मैं अकेला होता

मिथिला के नरेश नमि राजर्षि अस्वस्थ हो गए। वे दाहज्वर से पीड़ित थे।

शरीर में भयंकर दाह। उनकी पत्नियां चन्दन का लेप तैयार कर रही थीं। वे चन्दन घिसने लगीं। चूड़ियों की आवाज आ रही थी। वे शब्द नमि राजर्षि के कानों में चुभ रहे थे। उन्होंने कहा—शब्द कहां से आ रहे हैं? बन्द करो। लोग दौड़े-दौड़े गए। रानियों से कहा। उन्होंने एक-एक चूड़ी हाथ में रखकर शेष चूड़ियां निकाल दीं। अब शब्द बंद हो गया। कुछ ही समय बाद नमि ने पूछा—जो पहले शब्द हो रहा था, क्या वह बन्द हो गया? हां महाराज! वह बंद हो गया है। क्या चन्दन नहीं घिसा जा रहा है? नमि ने पूछा। परिचारकों ने कहा—चन्दन घिसा जा रहा है, पर रानियों ने अपने हाथों में केवल एक-एक चूड़ी ही रखी है। जब एक ही चूड़ी होती है तब कोई शब्द नहीं होता। ध्वनि के लिए दो चाहिए। संघर्षण के लिए दो चाहिए। राजर्षि ने सुना। दो से संघर्षण, दो से शब्द—ये विचार घूमने लगे। वे सत्य की खोज में उतरे, विचय में चले गए। चेतना की गहराइयों में उतरे और उन्हें अनुभव हुआ कि जहां दो होते हैं वहां समस्याएं उभरती हैं, वहां झंझट खड़े होते हैं। एक में कोई समस्या नहीं होती, कोई झंझट नहीं होता। मेरी बीमारी दो के ही कारण है। अगर मैं अकेला होता तो यह मेरी बीमारी नहीं होती। अब मुझे इस बीमारी के लिए कोई दूसरी चिकित्सा की शरण नहीं लेनी है, न चंदन का लेप आवश्यक है और न और कोई औषधि। इसकी एकमात्र चिकित्सा है—अकेला हो जाना।

वे इसी चिन्तन में डूब गए। रात के बीतने के साथ-साथ उनकी बीमारी मिट गई। स्वस्थ हो गए। उन्होंने अपने संकल्प की घोषणा करते हुए कहा—अब मैं अकेला बनूंगा। अब मैं दो नहीं रह सकता। वे सचमुच अकेले हो गए।

अकेला कौन?

आदमी अकेला तब होता है जब ममकार और अहंकार का बन्धन टूट जाता है, जब आत्मा की सन्निधि प्राप्त हो जाती है। अकेले में दुःख नहीं होता।

गुरु और शिष्य जा रहे थे। जंगल आ गया। गुरु एक वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यानलीन हो गए। शिष्य बैठा था। उसने देखा एक शेर उधर ही आ रहा है। भयभीत होकर वह वृक्ष पर चढ़ गया। शेर आया। गुरु को सूंघा और चला गया। शिष्य पेड़ से उतरा। गुरु ने ध्यान पूरा किया और दोनों आगे चल पड़े। कुछ दूर गए ही थे कि गुरु को एक मच्छर ने काट डाला। गुरु ने उसे हटाया। कान को खुजलाया और बोले—कितना दर्द हो रहा है? शिष्य बोला—गुरुदेव! बात समझ में नहीं आ रही है। शेर आया तब आप शान्त बैठे थे और एक छोटे से मच्छर के काटने से आप तिलमिला उठे। इसका कारण क्या है? गुरु ने कहा—जब शेर आया तब मैं अपनी आत्मा के साथ था, अपने प्रभु के साथ था और अब तुम्हारे साथ हूं।

इसका प्रतिपाद्य है कि जब कोई अपने आपके साथ नहीं होता, दूसरे के साथ होता है तब उसे कठिनाइयों का अनुभव होता है। जब वह अपने आपके साथ होता है तब कोई समस्या नहीं होती, कोई कठिनाई नहीं होती। सारी समस्यायों का मूल है—द्वैत।

प्रेक्षा-ध्यान है—विचय-ध्यान

सत्य की महान् उपलब्धि का एक महान् सूत्र है विचय-ध्यान। इसका ही अपर नाम है—प्रेक्षा-ध्यान। प्रेक्षा विचय-ध्यान है। इसमें विचारों का योग होता है। हम विचारों को देखते हैं, किन्तु यह न मानें कि बस यही अन्तिम है। यह आदि-बिन्दु है जो विचारों के आस-पास तैरता रहता है। विचारों के पानी में वह तैरता बिन्दु है, गिरता है और फैल जाता है। पूरे विचार पर फैल जाता है। विचारों से सर्वथा मुक्त होकर हम प्रेक्षा का अभ्यास नहीं कर सकते। जब हमें प्रेक्षा की अगली मंजिल उपलब्ध होगी, केवल देखने की और केवल जानने की, तब उसका स्वरूप बदल जाएगा। विचार नीचे रह जाएंगे और प्रेक्षा ऊपर आ जाएगी। किन्तु प्रारंभिक अवस्था में जहां तक प्रेक्षा एक आलंबन है वहां तक विचार और प्रेक्षा पानी में तैरता बिन्दु है जो पूरे विचार पर फैल जाता है, पूरे पानी में फैल जाता है। इससे यह भ्रम न पाल लिया जाए कि दर्शन की शक्ति उपलब्ध हो गई। यह तो प्रारंभिक बिन्दु है, अत्यन्त प्राथमिक अवस्था है।

ध्यान कब-कहां ?

इस संदर्भ में विचय-ध्यान के विषय में कुछेक प्रश्न उभरते हैं—विचय-ध्यान के लिए क्या-क्या सामग्री अपेक्षित होती है? उसके लिए स्थान और समय की क्या मर्यादाएं हैं? उसके लिए आसन और मुद्रा कौन-सी होनी चाहिए? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं। आचार्यों ने अपने अनुभव के द्वारा बतलाया कि विचय-ध्यान के लिए देश और काल की कोई मर्यादा नहीं हो सकती। अमुक स्थान और अमुक काल में ही ध्यान किया जाए—यह निर्धारणा नहीं हो सकती। ध्यान के लिए एक ही नियम पर्याप्त है कि जिस समय में या जिस स्थान पर ध्यान करने से चित्त की एकाग्रता सधती है, वह समय और स्थान ध्यान के लिए उपयुक्त है। जिस आसन में और जिस मुद्रा में चित्त की समाधि उपलब्ध हो, वही आसन और मुद्रा ध्यान के लिए उपयोगी है। मूल बात स्थान या काल नहीं है, आसन या मुद्रा नहीं है। मूल बात है—चित्त की समाधि, मन का समाधान, वाणी का समाधान और शरीर का समाधान। जब जहां ये तीनों सधते हैं वहीं समाधि के लिए उपयुक्त है।

मुक्ति की घटना

विचय की प्रक्रिया को समझ लेने पर ध्यान को बहुत बड़ी प्रक्रिया हस्तगत हो जाती है। हमारे हाथ में एक बहुत बड़ा आलंबन आ जाता है। वह आलंबन है संयम का, संवर का, समता का और सामायिक का। विचय-ध्यान के बिना संयम घटित नहीं हो सकता। विचय ध्यान के बिना संवर घटित नहीं हो सकता। विचय-ध्यान के बिना सामायिक घटित नहीं हो सकता, मन में समता का अवतरण नहीं हो सकता।

इसलिए समाधि की अभ्यर्थना करने वाला साधक, समाधि को उपलब्ध होने की भावना रखने वाला साधक, दर्शन और ज्ञान की क्षमता को विकसित करने वाला साधक, सबसे पहले विचय-ध्यान का आलंबन ले। उसके सहारे वस्तु-सत्यों को खोजे, वस्तु-स्वभाव को जाने। जो वस्तु-स्वभाव को जानता है, उसे प्रियता और अप्रियता के संवेदन से, राग और द्वेष से, अहंकार और ममकार से मुक्ति पाने का बहुत सरल उपाय उपलब्ध हो जाता है।

२४. चित्त-शुद्धि और श्वास-प्रेक्षा

१. ध्येय का निश्चय करें। ध्येय दो हैं—वस्तु-धर्म और शरीर।

२. श्वास का मूल्यांकन करें—

- एकाग्रता होती है, श्वास शांत हो जाता है।
- श्वास शांत होता है तब एकाग्रता अपने आप सध जाती है।

३. कायोत्सर्ग और प्राण श्वास से जुड़े हुए हैं।

४. चंचलता के दो कारण हैं—श्वास और मोह कर्म का विपाक।

५. श्वास-संयम से इन्द्रिय-संयम सहज हो जाता है।

चौबीस

चित्त की निर्मलता

साधना का सारा उपक्रम दर्शन और ज्ञान की शक्ति को विकसित करने के लिए है। समाधि का एक ही उद्देश्य है कि हम अपनी सहज उपलब्ध दर्शन और ज्ञान की शक्ति का उपयोग कर सकें, सत्य को देख सकें, सत्य को जान सकें।

प्रश्न है कि दर्शन और ज्ञान की शक्ति का विकास कैसे हो ? इसका उत्तर भी सीधा है। जब चित्त की निर्मलता होती है तब दर्शन और ज्ञान की शक्ति बढ़ती है। चित्त की जितनी निर्मलता उतनी दर्शन और ज्ञान की क्षमता।

ध्येय : एक-अनेक

साधना की विभिन्न प्रक्रियाएं चित्तशुद्धि की प्रक्रियाएं हैं। चित्त निर्मल बने, उस पर जो मैल जमा है, जो कल्मष जमा है वह हट जाए और चित्त कांच की भांति निर्मल बन जाए। चित्त-शुद्धि के लिए हम अनेक उपक्रम करते हैं, अनेक ध्येयों का आलंबन लेते हैं। ध्येय एक ही नहीं है, अनेक हैं, कहना चाहिए ध्येय अनंत हैं। प्रत्येक पदार्थ ध्येय बन सकता है। पदार्थ का प्रत्येक पर्याय ध्येय बन सकता है। जितने द्रव्य हैं और जितने उनके पर्याय हैं वे सब ध्येय बन सकते हैं। ध्यान करने वाला एक परमाणु को ध्येय बनाकर आत्मा को उपलब्ध हो जाता है। ध्यान करने वाला एक पर्वत को ध्येय बनाकर आत्मा को उपलब्ध हो जाता है, दर्शन और ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है। पदार्थ कोई अच्छा या बुरा, शुचि या अशुचि नहीं होता। ध्यान के लिए पदार्थ पदार्थमात्र है, केवल पदार्थ है और कुछ नहीं। ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए वस्तु वस्तु है, अच्छी-बुरी या शुचि-अशुचि नहीं होती। वस्तु ध्येय बनती है, केवल ध्येय। यह ध्येय साधक को सिद्धि तक पहुंचा देता है। ध्यान करने वाला किसी ध्येय को हेय या उपादेय नहीं मानता। हेय वस्तु भी ध्यान का आलंबन बन सकती है।

चंचलता : एक बाधा

ध्यान या समाधि के जगत् में हेय-उपादेय, अच्छा-बुरा, शुचि-अशुचि जैसे शब्द नहीं हैं। उसके शब्द-कोश में एक ही शब्द है—वस्तु-धर्म, वस्तु-सत्य। न जाने कितने साधकों ने ऐसी-ऐसी वस्तुओं को ध्यान का आलंबन बनाया, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे उस आलंबन से सिद्धि तक पहुंच गए। जिसकी आंख सचाई को देखने लग जाती है, जिसमें सत्य को देखने की क्षमता जाग जाती है, वह कलेवर या चमड़ी को नहीं देखता, छिलके को नहीं देखता, किन्तु यथार्थ को ही देखता है।

यथार्थ को देखने में सबसे बड़ी बाधा है—चित्त की चंचलता। जब चित्त चंचल होता है तब यथार्थ दिखाई नहीं देता, दूसरा-दूसरा रूप ही दिखाई देता है। जिसका चित्त स्थिर हो गया, चेतना का समुद्र निस्तरंग और शान्त हो गया, वह यथार्थ को सहजतया देख सकता है। कोई बाधा नहीं आती। वह यथार्थ के अन्तराल का स्पर्श कर लेता है।

ध्येय की सीमा नहीं

विश्व का प्रत्येक पदार्थ और पदार्थ का प्रत्येक पर्याय ध्यान के लिए आलंबन बन सकता है, ध्येय बन सकता है। इसलिए ध्येय के लिए कोई सीमा नहीं बनाई जा सकती कि अमुक प्रकार का ही ध्येय होना चाहिए। प्रारम्भ में ध्यान-साधक के लिए कुछ विशेष प्रकार के ध्येयों का निर्देश इसीलिए करते हैं कि वे ध्यान सीखने में सहायक बन सकें। वे शीघ्रता से उन्हें ध्यान में आरूढ़ कर सकें। बच्चे को चलना सिखाने के लिए प्रारम्भ में उसे कुछ कहना-सुनना पड़ता है। जब बच्चा चलना सीख जाता है तब वह अपनी इच्छानुसार आ-जा सकता है। फिर चलना सिखाने के लिए मार्ग-दर्शन अपेक्षित नहीं होता। इसी प्रकार ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में ध्यान-साधक को ध्येय सम्बन्धी कुछ मार्ग-दर्शन देना आवश्यक होता है।

वस्तु-सत्य

यदि ध्येयों का वर्गीकरण किया जाए तो दो मुख्य ध्येय बनते हैं—वस्तु-जगत् और शरीर। जो दृश्य-जगत् हमारी आंखों के सामने है, कानों के समक्ष है, त्वचा और रसना के समक्ष है, घ्राण के समक्ष या मानसिक वृत्तियों के समक्ष है, वह सारा दृश्य-जगत् या वस्तु-जगत् ध्येय बन सकता है। इसी प्रकार शरीर भी ध्येय बन सकता है। सत्य की खोज करने वाले व्यक्ति इन दोनों ध्येयों को सामने रखते हैं और इनके सहारे ध्यान की सिद्धि को उपलब्ध हो जाते हैं।

वस्तु-सत्य को जानना बहुत आवश्यक है। ध्यान किए बिना कोई भी व्यक्ति वस्तु-सत्य को नहीं जान सकता। आज तक दुनिया में जितने लोगों ने सचाइयों को खोजा है, उन सबने ध्यान के द्वारा खोजा है। चंचलता के द्वारा वस्तु-सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। चित्त के नियोजन और एकाग्रता के बिना सत्य को नहीं खोजा जा सकता। वस्तु-धर्म की खोज ध्यान के द्वारा हुई। शरीर के सारे रहस्य ध्यान के द्वारा आविष्कृत हुए। शरीर में घटित होने वाले प्रत्येक परिणमन का, उभरने वाली प्रत्येक पर्याय का बोध ध्यान के द्वारा हुआ। ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए दोनों बातें जरूरी हैं। वह वस्तु-सत्य की खोज करे और शरीर-सत्य की खोज करे। जो केवल वस्तु-सत्यों की ही खोज करता है और शरीर-धर्मों की खोज नहीं करता वह अधूरा रह जाता है। जो केवल शरीर-धर्मों की खोज करता है और वस्तु-धर्मों की खोज नहीं करता, वह भी अधूरा रह जाता है। हमारे दर्शन और ज्ञान की समग्रता तब बनती है जब वस्तु-धर्म और शरीर-धर्म दोनों की खोज हो।

शरीर की खोज

समाधि चाहने वाले व्यक्ति के लिए शरीर की खोज अत्यन्त अपेक्षित है। शरीर की खोज किए विना चंचलता को समाप्त नहीं किया जा सकता और एकाग्रता के चरम बिन्दु का स्पर्श नहीं किया जा सकता। यद्यपि वस्तु-धर्म की खोज करने वाला व्यक्ति भी एकाग्र होता है, उसका शरीर स्थिर और शान्त होता है किन्तु जितना मूल्य शरीर-प्रेक्षा का है, शरीर की सचाइयों को जानने का है उतना मूल्य प्रारम्भ में वस्तु-धर्म की खोज को नहीं दिया जा सकता।

प्राणी के पास चार उपकरण हैं—शरीर, वाणी, मन और श्वास। ये चारों चंचल हैं। शरीर चंचल है, मन और वाणी चंचल है, श्वास भी चंचल है। यह चंचलता सबसे बड़ी समस्या है। जब तक चंचलता है तब तक सत्य को नहीं जाना जा सकता, समाधि तक नहीं पहुंचा जा सकता। समाधि में गए विना सत्य उपलब्ध नहीं होता, रहस्य अनावृत नहीं होता। हमारे उपकरण या साधन हैं चंचल और हम उपलब्ध करना चाहते हैं स्थिरता। क्या श्वास और शरीर को स्थिर किया जा सकता है? क्या मन और वाणी को स्थिर किया जा सकता है? ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। न केवल साधना करने वाले व्यक्तियों के सामने ये प्रश्न हैं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। जो व्यक्ति मन की शान्ति चाहता है, समस्याओं का समाधान चाहता है, तनावों से मुक्ति चाहता है, अच्छी नींद और अच्छा स्वास्थ्य चाहता है, उसको इन प्रश्नों को समाहित करना होगा।

भ्रान्ति और भ्रान्ति

मन बहुत चंचल है। जब चंचलता एक बिन्दु को पार कर जाती है तब आदमी पागल बन जाता है। चित्त का विक्षेप मन का विक्षेप है, चित्त की चंचलता मन की चंचलता है। आदमी चाहता है, चित्त शान्त रहे। आदमी चाहता है, गहरी नींद आए। बिछौने पर जाते ही स्मृति, कल्पना और विचार सताने लग जाते हैं। नींद उचट जाती है। आदमी बेचैन हो जाता है। वह चाहता है उस समय न स्मृति, न कल्पना और न विचार आए। पर इनसे छूट पाना सहज नहीं होता।

मन को स्थिर नहीं किया जा सकता। लोग भ्रान्तिवश मान लेते हैं कि मन स्थिर हो गया। यह एक ऐसी भ्रान्ति है जिसको समझने वाला भी नहीं समझ सकता। आदमी भ्रांतियों का जीवन जीता है। वह भ्रान्तियों का सहारा लेता है। यदि वह भ्रान्तियों का सहारा न ले तो जैसा जीवन जी रहा है वैसा जीवन कभी जी नहीं सकता। भ्रान्तियों के सहारे ही वह मूर्च्छा, मोह और दुःखों का जीवन जी रहा है। प्रकृति की व्यवस्था है कि तीव्रतम पीड़ा में आदमी मूर्च्छित हो जाता है। मानसिक-जगत् की व्यवस्था है कि चेतना पर इतनी सघन मूर्च्छा छा जाती है कि आदमी कष्टों और क्लेशों का जीवन जी लेता है। यदि यह मूर्च्छा एक बार भी टूट जाए तो वह ऐसा जीवन कभी नहीं जी सकता। फिर वह व्यवहार का आदमी नहीं रहता। समाज के या परिवार के व्यक्ति नहीं चाहते कि कोई एक व्यक्ति ऐसी जागरूकता का जीवन जीए। वे स्वयं मूर्च्छा का जीवन जीते हैं और दूसरों को भी इसी चक्रव्यूह में रखना चाहते हैं। व्यवहार में जीने वाला, काम और अर्थ की छाया में जीने वाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि दूसरा कोई इस जंजाल से निकले और अमूर्च्छा का जीवन जीए। भ्रांति एक मूर्च्छा है।

चंचलता है चित्त की, मन की नहीं

चित्त की चंचलता को मिटाया जा सकता है। चित्त की चंचलता मिट सकती है, पर मन की चंचलता कभी नहीं मिटती। हम मन और चित्त को ठीक से समझें। भ्रान्ति में न रहें। मन का अर्थ है—स्मृति। मन का अर्थ है—कल्पना और मन का अर्थ है—चिन्तन। स्मृति, कल्पना और चिन्तन के अतिरिक्त मन कुछ भी नहीं है। क्या स्मृति, कल्पना और चिन्तन को स्थिर किया जा सकता है? क्या स्मृति, कल्पना और चिन्तन को रोका जा सकता है? कभी नहीं रोका जा सकता। दो अवस्थाएं हैं—या तो मन होगा या मन नहीं होगा। मन होगा तो चंचलता अवश्य होगी। मन को स्थिर नहीं किया जा सकता। चित्त को स्थिर किया जा सकता है। सारी चंचलता चित्त की है। स्थिरता चित्त की होगी, मन की नहीं। मन तो चंचल ही है, वह क्या स्थिर होगा! उसकी प्रकृति चंचल है।

वस्तु-सत्य को जानना बहुत आवश्यक है। ध्यान किए बिना कोई भी व्यक्ति वस्तु-सत्य को नहीं जान सकता। आज तक दुनिया में जितने लोगों ने सचाइयों को खोजा है, उन सबने ध्यान के द्वारा खोजा है। चंचलता के द्वारा वस्तु-सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता। चित्त के नियोजन और एकाग्रता के बिना सत्य को नहीं खोजा जा सकता। वस्तु-धर्म की खोज ध्यान के द्वारा हुई। शरीर के सारे रहस्य ध्यान के द्वारा आविष्कृत हुए। शरीर में घटित होने वाले प्रत्येक परिणमन का, उभरने वाली प्रत्येक पर्याय का बोध ध्यान के द्वारा हुआ। ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए दोनों बातें जरूरी हैं। वह वस्तु-सत्य की खोज करे और शरीर-सत्य की खोज करे। जो केवल वस्तु-सत्यों की ही खोज करता है और शरीर-धर्मों की खोज नहीं करता वह अधूरा रह जाता है। जो केवल शरीर-धर्मों की खोज करता है और वस्तु-धर्मों की खोज नहीं करता, वह भी अधूरा रह जाता है। हमारे दर्शन और ज्ञान की समग्रता तब बनती है जब वस्तु-धर्म और शरीर-धर्म दोनों की खोज हो।

शरीर की खोज

समाधि चाहने वाले व्यक्ति के लिए शरीर की खोज अत्यन्त अपेक्षित है। शरीर की खोज किए बिना चंचलता को समाप्त नहीं किया जा सकता और एकाग्रता के चरम बिन्दु का स्पर्श नहीं किया जा सकता। यद्यपि वस्तु-धर्म की खोज करने वाला व्यक्ति भी एकाग्र होता है, उसका शरीर स्थिर और शान्त होता है किन्तु जितना मूल्य शरीर-प्रेक्षा का है, शरीर की सचाइयों को जानने का है उतना मूल्य प्रारम्भ में वस्तु-धर्म की खोज को नहीं दिया जा सकता।

प्राणी के पास चार उपकरण हैं—शरीर, वाणी, मन और श्वास। ये चारों चंचल हैं। शरीर चंचल है, मन और वाणी चंचल है, श्वास भी चंचल है। यह चंचलता सबसे बड़ी समस्या है। जब तक चंचलता है तब तक सत्य को नहीं जाना जा सकता, समाधि तक नहीं पहुंचा जा सकता। समाधि में गए बिना सत्य उपलब्ध नहीं होता, रहस्य अनावृत नहीं होता। हमारे उपकरण या साधन हैं चंचल और हम उपलब्ध करना चाहते हैं स्थिरता। क्या श्वास और शरीर को स्थिर किया जा सकता है? क्या मन और वाणी को स्थिर किया जा सकता है? ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। न केवल साधना करने वाले व्यक्तियों के सामने ये प्रश्न हैं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। जो व्यक्ति मन की शान्ति चाहता है, समस्याओं का समाधान चाहता है, तनावों से मुक्ति चाहता है, अच्छी नींद और अच्छा स्वास्थ्य चाहता है, उसको इन प्रश्नों को समाहित करना होगा।

भ्रान्ति और भ्रान्ति

मन बहुत चंचल है। जब चंचलता एक विन्दु को पार कर जाती है तब आदमी पागल बन जाता है। चित्त का विक्षेप मन का विक्षेप है, चित्त की चंचलता मन की चंचलता है। आदमी चाहता है, चित्त शान्त रहे। आदमी चाहता है, गहरी नींद आए। बिछौने पर जाते ही स्मृति, कल्पना और विचार सताने लग जाते हैं। नींद उचट जाती है। आदमी बेचैन हो जाता है। वह चाहता है उस समय न स्मृति, न कल्पना और न विचार आए। पर इनसे छूट पाना सहज नहीं होता।

मन को स्थिर नहीं किया जा सकता। लोग भ्रान्तिवश मान लेते हैं कि मन स्थिर हो गया। यह एक ऐसी भ्रान्ति है जिसको समझने वाला भी नहीं समझ सकता। आदमी भ्रांतियों का जीवन जीता है। वह भ्रान्तियों का सहारा लेता है। यदि वह भ्रान्तियों का सहारा न ले तो जैसा जीवन जी रहा है वैसा जीवन कभी जी नहीं सकता। भ्रान्तियों के सहारे ही वह मूर्च्छा, मोह और दुःखों का जीवन जी रहा है। प्रकृति की व्यवस्था है कि तीव्रतम पीड़ा में आदमी मूर्च्छित हो जाता है। मानसिक-जगत् की व्यवस्था है कि चेतना पर इतनी सघन मूर्च्छा छा जाती है कि आदमी कष्टों और क्लेशों का जीवन जी लेता है। यदि यह मूर्च्छा एक बार भी टूट जाए तो वह ऐसा जीवन कभी नहीं जी सकता। फिर वह व्यवहार का आदमी नहीं रहता। समाज के या परिवार के व्यक्ति नहीं चाहते कि कोई एक व्यक्ति ऐसी जागरूकता का जीवन जीए। वे स्वयं मूर्च्छा का जीवन जीते हैं और दूसरों को भी इसी चक्रव्यूह में रखना चाहते हैं। व्यवहार में जीने वाला, काम और अर्थ की छाया में जीने वाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि दूसरा कोई इस जंजाल से निकले और अमूर्च्छा का जीवन जीए। भ्रांति एक मूर्च्छा है।

चंचलता है चित्त की, मन की नहीं

चित्त की चंचलता को मिटाया जा सकता है। चित्त की चंचलता मिट सकती है, पर मन की चंचलता कभी नहीं मिटती। हम मन और चित्त को ठीक से समझें। भ्रान्ति में न रहें। मन का अर्थ है—स्मृति। मन का अर्थ है—कल्पना और मन का अर्थ है—चिन्तन। स्मृति, कल्पना और चिन्तन के अतिरिक्त मन कुछ भी नहीं है। क्या स्मृति, कल्पना और चिन्तन को स्थिर किया जा सकता है? क्या स्मृति, कल्पना और चिन्तन को रोका जा सकता है? कभी नहीं रोका जा सकता। दो अवस्थाएं हैं—या तो मन होगा या मन नहीं होगा। मन होगा तो चंचलता अवश्य होगी। मन को स्थिर नहीं किया जा सकता। चित्त को स्थिर किया जा सकता है। सारी चंचलता चित्त की है। स्थिरता चित्त की होगी, मन की नहीं। मन तो चंचल ही है, वह क्या स्थिर होगा! उसके घटक चंचल हैं।

वह फिर स्थिर कैसे होगा ? मन को स्थिर करने का अर्थ होगा मन को अमन बना देना। जो स्थिर अवस्था है वह अमन है, मन नहीं।

वाणी, शरीर और श्वास को स्थिर किया जा सकता है। मन को अमन बनाया जा सकता है।

हम श्वास के साथ नहीं चलते

हमारी समाधि की यात्रा शरीर-प्रेक्षा से प्रारंभ होती है, श्वास-प्रेक्षा से प्रारंभ होती है। श्वास हमारे साथ चल रहा है, हम श्वास के साथ नहीं चल रहे हैं, यह बहुत बड़ी कठिनाई है। श्वास-प्रेक्षा तब फलवती होती है, जब हम श्वास के साथ चलते हैं। जब तक हम श्वास का मूल्यांकन नहीं कर पाते तब तक उसके साथ चलने की बात पूर्णरूप से प्राप्त नहीं होती।

एक बहुत बड़ा कलाकार था। वह जिस मुहल्ले में रहता था वहां अनेक धनी, रईस लोग रहते थे। वह घूमने निकलता। जो भी सामने मिलता, वह उसका अभिवादन करता। धनी लोग भी घूमने निकलते। कलाकार विनम्रता से उन्हें प्रणाम करता।

एक बार राजा ने कलाकार को अपने दरबार में आमंत्रित किया। साथ ही साथ उस मुहल्ले के धनी लोगों को भी निमंत्रण दिया। राजा दरबार में बैठा है। धनी लोग आ रहे हैं और अपने पूर्व निर्धारित स्थान पर बैठते जा रहे हैं। एक सेवक उनको यथास्थान पर बिठा रहा है। राजा का उनकी ओर कोई ध्यान ही नहीं है। इतने में कलाकार पहुंचा। उसको देखते ही राजा खड़ा हुआ। उसको नमस्कार कर अपने पास बिठा लिया। सारे लोग आश्चर्यचकित रह गए।

सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने घर जाने लगे। कलाकार ज्यों ही सभा-भवन से बाहर निकला, उन धनिकों ने उसे घेर लिया। उन्होंने पूछा—तुम हम सबको प्रणाम करते हो और स्वयं राजा तुम्हें प्रणाम करता है। आश्चर्य की बात है! कलाकार ने विनम्रभाव से कहा—जो कला का मूल्य नहीं जानते उन्हें कलाकार प्रणाम करता है और जो कला का मूल्य जानते हैं, वे कलाकार को प्रणाम करते हैं।

यही घटना हमारे जीवन में घटित हो रही है। हम श्वास का मूल्य नहीं जानते, इसलिए बेचारा श्वास हमारे पीछे-पीछे दौड़ रहा है। जिस दिन हम श्वास का मूल्य जान जायेंगे तब हम श्वास के पीछे-पीछे दौड़ेंगे।

श्वास का मूल्य

समाधि की साधना करने वाला साधक सबसे पहले श्वास का मूल्यांकन

करता है। जो श्वास का मूल्य नहीं समझता है, वह समाधि की साधना नहीं कर सकता। जब श्वास शांत होता है तब वाणी अपने आप शांत हो जाती है। जब श्वास शांत होता है तब शरीर स्थिर हो जाता है। जब श्वास शांत होता है तब चित्त स्वयं स्थिर हो जाता है और मन अमन की स्थिति में चला जाता है। जब श्वास शांत होता है तब स्मृतियां, कल्पनाएं और विचार शांत हो जाते हैं। ये सब श्वास के साथ चलते हैं। सब श्वास के अनुगामी है। श्वास बहुत ही मूल्यवान् है।

जिज्ञासा होती है कि श्वास का मूल्य क्यों? हम प्राणी हैं। प्राणी इसीलिए हैं कि हमारे भीतर प्राण का प्रवाह है। हमारे में दस प्रकार की प्राण-शक्तियां हैं—पांच इन्द्रियों के पांच प्राण, मन प्राण, वचन प्राण, शरीर प्राण, श्वासोच्छ्-वास प्राण और आयुष्य प्राण। इनके आधार पर प्राणी जीता है। जब यह प्राणों की दीपशिखा बुझ जाती है तब प्राणी मृत्यु की गोद में चला जाता है। जब तक प्राण, तब तक जीवन। प्राण समाप्त, जीवन समाप्त। सारा जीवन प्राणाधारित है। शरीर चल नहीं सकता। एक अंगुली भी नहीं हिल सकती यदि शरीर-प्राण न हो। जब शरीर प्राण की ऊर्जा मिलती है तब शरीर सक्रिय होता है। जब यह प्राण की शक्ति सिमट जाती है, तब आदमी लकवे का शिकार होता है। इन्द्रियों की चंचलता, मन, वाणी और श्वासोच्छ्वास की चंचलता—सब प्राण-धारा से निष्पन्न होती हैं। प्राण ही चंचलता पैदा करता है, अन्यथा सब निष्प्राण हो जाता है।

प्राण और श्वास

प्राण और श्वास का गहरा संबंध है। श्वास के बिना प्राण काम नहीं करता। प्राण के लिए श्वास अनिवार्य है। शरीरशास्त्र का प्रतिपादन है कि श्वास के साथ यदि प्राणवायु (ऑक्सीजन) नहीं जाता तो कुछ भी काम नहीं होता। फेफड़ा रक्त की शुद्धि इसी प्राणवायु के आधार पर करता है। कोशिकाएं ऊर्जा उत्पन्न करती है, विद्युत् पैदा करती है, यह भी ऑक्सीजन के आधार पर होता है। मस्तिष्क की सक्रियता भी प्राणवायु के आधार होती है। जब ऑक्सीजन मिलता है तब शरीर का छोटा-बड़ा प्रत्येक अवयव क्रियाशील होता है। यदि कुछ क्षणों के लिए भी ऑक्सीजन न मिले तो आदमी मूर्च्छित हो जाता है, मूर्च्छित समाधि में चला जाता है। प्राण को काम करने के लिए ऑक्सीजन चाहिए। वह प्राप्त होता है श्वास से। श्वास के साथ-साथ प्राणवायु भीतर जाता है। यदि कोई श्वास न ले तो प्राणवायु भीतर नहीं जा सकता। प्राणवायु के अभाव में प्राणशक्ति काम नहीं कर सकती। ईंधन के बिना मशीन नहीं चलती। अकेला श्वास समूचे शरीर की मशीनरी को संचालित करने के लिए

इंधन देता है। यही एकमात्र स्रोत है। दूसरा कोई स्रोत नहीं जो शरीर-तंत्र को इंधन की पूरी सप्लाई कर सके। हमारे जीवन का मूल्य है श्वास।

प्रश्न होता है कि श्वास जीवन का मूल्य है तो उससे साधना का क्या संबंध है? हमें साधना की दृष्टि से ही इसकी चर्चा करनी है। जीवन की दृष्टि से डॉक्टर अच्छी चर्चा प्रस्तुत कर सकता है।

चंचलता के दो हेतु

समाधि की दृष्टि से श्वास का क्या मूल्य है? श्वास से प्राण संचालित होता है, चंचलता बढ़ती है। चंचलता के दो हेतु हैं—श्वास और मोहकर्म का विपाक। श्वास बाहरी कारण है और मोहकर्म का विपाक भीतरी कारण है। जब भीतर में मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तब चित्त की चंचलता बढ़ जाती है। यह चंचलता नाड़ी-संस्थान में अभिव्यक्त होती है। नाड़ी-संस्थान के बिना कर्म-जनित चंचलता अभिव्यक्त नहीं हो सकती। मूर्च्छा कितनी ही हो, वह इस माध्यम के बिना प्रकट नहीं हो सकती। बिजली का वोल्टेज कितना ही हो, प्रकाश की अभिव्यक्ति बल्ब के बिना नहीं हो सकती। विद्युत् का प्रवाह तारों में गतिशील है। परन्तु इस कांच की दीपिका के बिना वह प्रकट नहीं हो सकता। भीतर मोह के परमाणु कितने ही सक्रिय हों, उत्तेजित हों किन्तु यदि नाड़ी-संस्थान में चंचलता नहीं है तो उनकी चंचलता प्रकट नहीं होगी। नाड़ी-संस्थान की चंचलता के लिए प्राण को चंचल होना जरूरी है और प्राण की चंचलता के लिए श्वास का चंचल होना जरूरी है। सारा संबंध जुड़ता है श्वास के साथ।

श्वास और आवेग

काम, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, अहंकार आदि की तरंगें, श्वास की चंचलता के बिना नहीं उभरती। क्रोध आता है तो श्वास तीव्र हो जाता है या श्वास तीव्र होता है तब क्रोध को तरंग आती है। श्वास शांत होता है तो आवेग शांत हो जाता है, जब आवेग शांत होता है तो श्वास स्वयं शांत हो जाता है। दोनों का गहरा संबंध है। श्वास का मूल्यांकन नहीं करने वाला समाधि में विघ्न डालने वाले आन्तरिक कारणों से नहीं निपट सकता। इसलिए उसको चाहिए कि वह सबसे पहले श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास करे। वह यह जान जाए कि श्वास शांत कब-कैसे किया जा सकता है? कोई भी उत्तेजना की तरंग उठे, श्वास मंद कर दें, उत्तेजना की तरंग शांत हो जाएगी।

आरोहण में क्रम है, छलांग नहीं

श्वास और शरीर नश्वर है। आगे-पीछे इन्हें छोड़ना ही है। फिर इस

अशाश्वत साधन से आत्मा जैसा शाश्वत तत्त्व कैसे उपलब्ध होगा? इस क्षण-भंगुर साधन से अजर, अमर, अविनाशी चैतन्य का साक्षात्कार कैसे होगा? साधना-काल में ये प्रश्न आते हैं। प्रश्न स्वाभाविक है। हमारा उद्देश्य है समाधि को प्राप्त करना। प्राप्ति क्रम से ही संभव है। उसमें छलांग नहीं हो सकती। यदि कोई छलांग भरकर ही आरोहण करता है तो मकान में सीढ़ियों का कोई उपयोग ही नहीं होता। एक-एक सीढ़ी पार करके ही आरोहण किया जा सकता है। छलांग नहीं भरी जाती। चढ़ने का क्रम होगा। वह क्रम द्रुतगामी हो सकता है, मंदगामी हो सकता है। बिना क्रम कोई ऊपर नहीं जा सकता। चैतन्य को उपलब्ध करने का भी एक क्रम है। उस क्रम की पहली सीढ़ी है—श्वास-प्रेक्षा। जो व्यक्ति श्वास को दीर्घ करने का, श्वास को मंद करने का अभ्यास करता है उस व्यक्ति के सामने यह प्रश्न नहीं होता कि मन बहुत चंचल है, इन्द्रियां बहुत सताती हैं, व्यर्थ संकल्प-विकल्प आते हैं। मन और मस्तिष्क बोझिल रहता है। ये सारे प्रश्न अपने आप समाहित हो जाते हैं। श्वास संयम के साथ-साथ इन्द्रियों का संयम, वाणी का संयम, सभी प्रकार के संयम सध जाते हैं। साधक शब्दातीत और विकल्पातीत स्थिति में चला जाता है। क्योंकि प्राण की चंचलता के साथ श्वास का संबंध है और शब्द को संचालित करने वाली है प्राण-धारा। वह शब्द को पकड़ती है। प्राण के द्वारा स्वर-यंत्र सक्रिय होता है। सारी चंचलता शब्द पर आधारित है। चंचलता मन की नहीं होती। चंचलता होती है शब्द की। चंचलता का अर्थ है—स्मृति। शब्द के बिना स्मृति नहीं होती, कल्पना नहीं होती और चिन्तन नहीं होता। स्मृति, कल्पना और चिन्तन शब्दात्मक होते हैं। ये सब चंचलता के हेतु हैं। हमें मन और चित्त को स्थिर नहीं करना है, हमें शब्द को स्थिर करना है। हम शब्दातीत बन जाएं। शब्द समाप्त होता है तो मन अपने आप समाप्त हो जाता है। मन चलता है शब्द के सहारे, शब्द चलता है प्राणवायु के सहारे और प्राणवायु चलता है श्वास के सहारे। जब प्राणवायु शांत होता है तो श्वास शांत होता है, श्वास शांत होता है तो शब्द शांत होता है। श्वास की साधना करने वाला व्यक्ति शब्दातीत, कल्पनातीत और विचारातीत स्थिति में चला जाता है।

प्राणवायु को समझना और उसे शांत करना समाधि के लिए पहला प्रस्थान है और उस पहले प्रस्थान की यात्रा करने के लिए श्वास को शांत करना दूसरा प्रस्थान है। जैसे-जैसे ये दोनों प्रस्थान स्पष्ट होते जाएंगे, वैसे-वैसे समाधि की यात्रा सरल होती जाएगी।

२५. चित्त-शुद्धि और शरीर-प्रेक्षा

१. शरीर में शक्ति-केन्द्र है, जीवनी-शक्ति—प्राण का प्रवाह।

२. शरीर में चैतन्य केन्द्र है—इन्द्रिय चेतना, मनश्चेतना, चित्त की चेतना और इनसे परे सूक्ष्म-चेतना भी है।

३. शरीर में आनन्द केन्द्र है—सुख-दुःख के संवेदन केन्द्र, स्वभाव केन्द्र, चरित्र-केन्द्र और व्यवहार-केन्द्र।

४. प्राण का प्रवाह असन्तुलित होता है तब रोग पैदा होता है।
- चैतन्य-केन्द्र मलिन होता है तब ज्ञान का अवरोध होता है।
- आनन्द-केन्द्र मूर्च्छित होता है तब सुख-दुःख का द्वन्द्व होता है।

५. शरीर-प्रेक्षा से प्राण-प्रवाह का सन्तुलन, फलतः स्वास्थ्य का विकास।
- चैतन्य-केन्द्र निर्मल, फलतः ज्ञान का विकास।
- आनन्द-केन्द्र जागृत, फलतः रसानुभूति का परिवर्तन।

पच्चीस

शरीर एक माध्यम है

चित्त-शुद्धि के लिए श्वास का स्थान पहला है और शरीर का स्थान दूसरा। श्वास सम्पूर्ण शरीर-तन्त्र को प्रभावित करता है। वह प्राण, चेतना, इन्द्रिय, मन, चित्त—सबको प्रभावित करता है, इसलिए उसका स्थान पहला होता है।

हमारा शरीर सात धातुओं का शरीर कहा जाता है। सप्त धातुमयं शरीरं—यह पुरानी परिभाषा है, आयुर्वेद की परिभाषा है। आज का विज्ञान कहता है कि सोलह तत्त्वों से शरीर बना हुआ है। शरीर का एक स्वरूप है—धातु से बना हुआ, तत्त्व से बना हुआ। हमारी आंखों के सामने वही स्वरूप आता है। चमड़ी, रोम, केश, लोही, स्नायु-जाल, मांस ये सामने आते हैं। शरीर का वही संस्थान हमारे चित्त में जमा हुआ है। शरीर एक और उसे देखने की दृष्टियां अनेक। सामान्य आदमी शरीर को चर्ममय, मांसमय, रक्तमय देखता है। एक डॉक्टर चिकित्सा की दृष्टि से उसे देखता है। उसे और कुछ अधिक बातें दिखाई देती हैं। कोई कामुक होता है वह केवल रंग-रूप की दृष्टि से देखता है। एक साधक शरीर को दूसरी दृष्टि से देखता है। उसका अपना दृष्टिकोण होता है। शरीर माध्यम है। इस माध्यम से ही हमारी अगली यात्रा हो सकती है। इसके अतिरिक्त कोई हमारे पास माध्यम नहीं है। यन्त्र हमारे माध्यम बनते हैं। वे भी तब माध्यम बनते हैं जब शरीर माध्यम बनता है। जिस दिन शरीर माध्यम बनना बन्द हो जाता है, यन्त्र बेकार पड़े रह जाते हैं। कितने ही सूक्ष्मवीक्षण हों, दूरवीक्षण हों, कोई भी यन्त्र हो, सारे के सारे यन्त्र तब माध्यम बनते हैं जब शरीर माध्यम बनता है। हमारे सामने एकमात्र उपाय है—शरीर। इसलिए साधना करने वाले व्यक्ति को भी शरीर को समझना बहुत आवश्यक होता है। जो शरीर को नहीं जानता वह अध्यात्म की गहराइयों में नहीं जा सकता। वह अध्यात्म की ऊंची चढ़ाइयां नहीं चढ़ सकता, आरोहण नहीं कर सकता। आरोहण के लिए उसे शरीर का सहयोग मिलना चाहिए। यह बहुत जरूरी है।

वैराग्य की दृष्टि से कुछ धर्म के आचार्यों ने शरीर के विषय में कुछ बातें बताई—यह शरीर अपवित्र है। मल-मूत्र से भरा है। लोही, पीप, दुर्गन्धि-पदार्थ, कूड़ा-करकट इस शरीर में भरा है। यह भी एक दृष्टिकोण है। अशौच भावना के लिए, अशौच अनुप्रेक्षा के लिए यह भी एक दृष्टिकोण है। इससे वैराग्य होता है। यह भी सचाई है, यथार्थ है और वह सचाई जब सामने आती है तो मनुष्य को वैराग्य होता है। जब मनुष्य सचाई को नहीं जानता, आंख मूंदकर चलता है, तो वैराग्य नहीं हो सकता। यह सचाई है, इसे हम अस्वीकार नहीं करें। किन्तु एक कठिनाई हो गई कि सचाई का प्रतिपादन करने वालों ने वैराग्य की दृष्टि से किया था और हमने समूचे शरीर को ही निकम्मा मान लिया। ऐसा मान लिया मानो शरीर तो छोड़ने योग्य ही है, अपवित्र है, खराब है, गन्दा है, निन्दनीय है, इससे हमें कोई लेना-देना नहीं। हमें तो आत्मा चाहिए। आत्मा को प्राप्त करना है, शरीर से हमें कोई मतलब नहीं। यदि हम यह कल्पना करें कि शरीर और श्वास को समझे बिना, प्राणधारा को जाने बिना तथा सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म शरीर के रहस्यों को ज्ञात किए बिना ही आत्मा तक पहुंच जाएंगे तो यह अति कल्पना होगी। पांच महीने नहीं, पांच जन्म तक भी हम नहीं पहुंच सकेंगे। शरीर को इसीलिए समझना जरूरी है। फिर वह माध्यम बनता है आगे तक पहुंचने के लिए।

शरीर का मूल्यांकन

हमारा शरीर बहुत मूल्यवान् है। इतने रहस्य भरे पड़े हैं। वह रहस्य एक साधक ही जान सकता है। एक डॉक्टर भी नहीं जान सकता। एक कुशल शल्य-चिकित्सक भी उन रहस्यों को नहीं जानता जो अध्यात्म के आचार्यों ने खोजे हैं। श्वास बांए नथुने से आता है, दांए नथुने से आता है। दोनों नथुनों से आता है। क्यों आता है और क्या परिणाम होते हैं, कोई डॉक्टर नहीं बता सकता। परिणाम निश्चित है कि बांए से आप श्वास लें, शरीर में ठंडक व्याप्त हो जाती है। दांए से श्वास लें शरीर में गर्मी व्याप्त हो जाएगी। दोनों से श्वांस लें, सुषुम्ना चले, आपका चित्त शान्त हो जाएगा, विकल्प शान्त हो जाएंगे। क्यों होता है ऐसा, कोई भी शल्य-चिकित्सक या फिजीशियन इसकी व्याख्या नहीं दे सकता। अध्यात्म का मर्मज्ञ इसकी व्याख्या दे सकता है।

अन्तर्यात्रा के रहस्य

हृदय में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, नासाग्र में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, नाभि में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है, गुदामूल में प्राण का एक प्रकार प्रवाह है और हमारी समूची त्वचा में प्राण का एक प्रकार का प्रवाह है।

प्राण के कई प्रवाह हैं। कोई भी डॉक्टर नहीं जानता कि ये प्राण के प्रवाह हैं? हैं या नहीं हैं या क्यों हैं, नहीं जानता इस बात को। अभी यह विषय ही नहीं बना है। ये सारी बातें खोजी गईं साधना की दृष्टि से, अन्तर् की यात्रा करने के लिए। केवल सप्त धातुमय शरीर को जानने मात्र से भीतर की यात्रा नहीं हो सकती, भीतर के दरवाजे नहीं खुल सकते। भीतरी दरवाजों को खोलने के लिए, भीतर की यात्रा करने के लिए इन सारे रहस्यों को अनावृत करना, उद्घाटित करना परम आवश्यक होता है। हमारे शरीर में नाड़ी-तन्त्र है, नाड़ी-तन्त्र के बारे में आज का चिकित्सक जितनी अच्छी प्रकार से जानता है, उतना कोई दूसरा नहीं जानता। उसका फंक्शन क्या है? नर्वस-सिस्टम का फंक्शन क्या है? उसके सारे नर्व—ग्राही और वाही किस प्रकार क्रिया करते हैं। इन सबको एक कुशल चिकित्सक अच्छी प्रकार जानता है, किन्तु इन नाड़ियों से किस प्रकार प्राण की धारा प्रवाहित की जा सकती है और कहां ले जाई जा सकती है, चित्त-वृत्तियों को कहां-कहां ले जाया जा सकता है यह बात चिकित्सा-शास्त्र का विषय नहीं है।

ग्रन्थि-तन्त्र

हमारे शरीर में दूसरा महत्त्वपूर्ण संस्थान है—ग्रन्थि-तन्त्र। दो प्रकार की ग्रन्थियां हैं। एक है—अन्तःस्रावी ग्रन्थियां, दूसरी हैं बहिःस्रावी ग्रन्थियां। लीवर आदि बहिःस्रावी ग्रन्थियां हैं। पिच्यूटरी, पिनियल, एड्रिनल—ये सारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियां हैं, जिनका स्राव सीधा रक्त में मिल जाता है, बाहर नहीं जाता। यह समूचा ग्रन्थि-तन्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज का वैज्ञानिक, चिकित्सा-शास्त्री ग्रन्थियों के बारे में बहुत आगे बढ़ा है और इस विषय में काफी जानकारी बढ़ी है जो कि अध्यात्म की जानकारी के काफी निकट पहुंच गई है।

शरीर का तीसरा महत्त्वपूर्ण तन्त्र है—विद्युत्-तन्त्र, हमारे शरीर की बिजली। प्रत्येक अवयव को काम करने के लिए बिजली की जरूरत होती है। हर कोशिका को बिजली की जरूरत होती है। कोई भी सजीव कोशिका बिजली के बिना अपना काम नहीं चला सकती। सारा शरीर संचालित हो रहा है बिजली के द्वारा। पुराने आचार्यों ने जिसे प्राणधारा कहा, उसका ही एक दूसरा रूप है यह विद्युत्-तन्त्र। [illegible] के काम होते [illegible] [illegible] ये केवल काम करते हैं, किन्तु काम का संचालन करने वाले [illegible] हमारे शरीर में [illegible] इसके तीन मुख्य [illegible]

सकते हैं।

मस्तिष्क और केन्द्र

यह मस्तिक केन्द्रों से भरा पड़ा है। क्रोध का केन्द्र मस्तिष्क में है। लोभ का केन्द्र मस्तिष्क में है। भय, घृणा, उत्तेजना, वासना, स्वार्थ, झगड़ालूपन, वाद-विवाद करना, विभिन्न रुचियों का होना—इन सारी बातों के केन्द्र इस मस्तिष्क में हैं। मस्तिष्क-विद्या का विशेषज्ञ जान जाता है देखकर कि बिन्दु कितना उभरा हुआ है। बता सकता है देखकर कि यह आदमी लालची है या नहीं। मस्तिष्क के उभरे हुए स्थानों को देखकर मस्तिष्क-विद्या का विशेषज्ञ बहुत सारी भविष्य-वाणियां कर देता है कि आदमी कैसा है? इसका चरित्र कैसा है? इसका व्यवहार कैसा है?मस्तिष्क-विद्या के विशेषज्ञों ने इन केन्द्रों की खोज की और आज की चिकित्सा ने भी मस्तिष्क के केन्द्रों की खोज कर ली। हाइपोथैलमस मस्तिष्क का एक हिस्सा है। वह तापमान को नियन्त्रित करता है। उसमें नींद का केन्द्र है, भूख का केन्द्र है। विज्ञान ने भी बहुत बड़े केन्द्रों की, बिन्दुओं की खोज की। चिकित्सा-विज्ञान, मस्तिष्क-विद्या का विज्ञान और अध्यात्म का विज्ञान—तीनों विन्दुओं के आस-पास घूम रहे है। हमें शरीर को जानना इसलिए जरूरी है कि साधना करने वाले व्यक्ति को क्षमाशील और सहिष्णु होना चाहिए। उसके कषाय कम होने चाहिए। उसकी आदतों में परिवर्तन होना चाहिए। क्रूरता कम होनी चाहिए। जितने दोष माने जाते है, बुराइयां मानी जाती हैं, वे समाप्त होनी चाहिए। धर्म का यही काम है, साधना का यही प्रयोजन है।

वैज्ञानिक युग में धर्म

इस वैज्ञानिक युग में धर्म मखौल वना हुआ है। मखौल, कि पांच मिनट पहले तो किसी आदमी का गला काटा, उसके वाद वीतराग वन गया।

कल ही एक भाई आया मेरे पास। प्रोफेसर है एक कॉलेज में। उसने कहा—मुझे आते हुए संकोच होता है। संकोच, डर नहीं लगता। संकोच इसलिए कि मैं झूठ वोलता हूं, नहीं रह सकता झूठ वोले विना और दो मिनट के वाद मैं धार्मिक वनूं, आगे जाकर वैठूं। वदल जाऊं तव तो ठीक है, आज जाऊं साधुओं के पास और कल वदल जाऊं तव तो ठीक है, वहुत अच्छी वात है। जाने का अर्थ है। पर रोज झूठ वोलता ही चला जाऊं और रोज धर्म-स्थान में भी जाता रहूं, यह विडम्वना की वात है। इससे वड़ी और क्या विडम्वना होगी? आज धर्म के सामने चुनौती है, धर्म के सामने एक प्रश्न-चिह्न है कि आदमी रोज धर्म करता जाता है और वुराइयां भी वैसी की वैसी रोज करता चला जाता है। सीख लेता है धर्म के द्वारा। चतुराई वढ़ती है, कुछ ज्ञान मिलता है तव और निपुण हो

प्रतिक्षण परिवर्तन

परिवर्तन समूचे जगत् का स्वभाव है। जगत् में जितने तत्त्व हैं, जितने द्रव्य हैं, जितने पदार्थ हैं, उनमें तीन प्रकार के धर्म होते हैं—उत्पन्न होना, नष्ट होना और अस्तित्व में स्थिर रहना। प्रत्येक पदार्थ अपने अस्तित्व में स्थिर है। किन्तु स्थिर होते हुए भी अस्थिरता का चक्र भी बराबर चल रहा है। उत्पन्न भी हो रहा है, नष्ट भी हो रहा है। बदल रहा है। कितना बदलता है? जैन दर्शन ने इस विषय पर बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। हर पदार्थ प्रति समय बदल जाता है। समय एक बहुत छोटा काल-माप है। एक आंख मूंदते हैं, खोलते हैं, असंख्य समय बीत जाते हैं अर्थात् आंख के एक निमेष में और उन्मेष में हर पदार्थ असंख्य बार बदल जाता है। आश्चर्य न करें। आज का विज्ञान भी बहुत सूक्ष्मता में जा रहा है। अभी पढ़ा कि ब्रिटेन में एक कैमरा विकसित हो रहा है, उसकी खोज हुई है। वह एक सैकिण्ड में साठ करोड़ फोटो ले सकेगा। उस कैमरे में यह क्षमता है कि एक-बटा-दो हजार करोड़वें हिस्से में होने वाले परिवर्तन को वह पकड़ सकेगा। आश्चर्य है, हमारा जगत् कितना सूक्ष्म है, कितना बदलता है। आदमी सोचता है—मैं कुछ बदला ही नहीं, कुछ नहीं बदला। हर क्षण में कितना बदल जाता है आदमी, कुछ पता ही नहीं चलता। प्रतिपल बदल रहा है, प्रतिक्षण बदल रहा है। इन सूक्ष्म परिवर्तनों, सूक्ष्म परिणमनों को हम छोड़ दें तब तो आदमी कोई काम ही नहीं कर सकता। मोटे-मोटे होने वाले परिवर्तनों को भी पकड़ लें तो भी बड़ी बात है। बदलना जरूरी है और बदलने के लिए उन चैतन्य-केन्द्रों को, ग्रन्थियों को और हमारे मस्तिष्क में विद्यमान स्वभाव, व्यवहार, आदतों और चरित्र को नियन्त्रित करने वाले बिन्दुओं को खोजना जरूरी है। खोजने से क्या होगा? कोई अर्थ होना चाहिए। जान लिया, क्या हुआ? जानने का एक बहुत बड़ा अर्थ है। हम जानते नहीं तो हमारा अज्ञान नहीं मिटता, हमारी मूर्च्छा नहीं टूटती। जब तक यह मूर्च्छा की पट्टी आंख पर बंधी रहती है तब तक हम बहुत बड़ी सम्पत्ति को रौंदते हुए ऊपर से निकल जाते हैं। हमें पता नहीं चलता कि कितनी अगाध सम्पदा के हम अधिकारी हो सकते हैं।

आंखों पर पट्टी

एक बार दो देवताओं में विवाद हो गया कि भाग्य बड़ा है या पुरुषार्थ? पुरानी कहानी है। विवाद हर व्यक्ति के मन में पैदा होता है, चाहे मनुष्य हो, चाहे देवता हो। निश्चित हुआ, परीक्षा करें। एक देवता ने कहा—देखो! भाग्य बड़ा नहीं होता, पुरुषार्थ बड़ा होता है। दूसरे ने कहा—नहीं! नहीं। उस आदमी को देखो। तुम्हें साक्षात् प्रमाणित करूंगा कि पुरुषार्थ बड़ा नहीं होता, भाग्य बड़ा

होता है।

पति-पत्नी जा रहे थे। देवता ने मार्ग के बीच रत्नों का ढेर लगा दिया। रत्न ही रत्न बिखेर दिए। जब आस-पास आए, पत्नी ने कहा—अभी तो हमारी आंखें अच्छी हैं, हम देख सकते हैं, हमें सब कुछ दिखाई देता है। कभी ऐसा भी हो सकता है कि बुढ़ापा आने के साथ-साथ हमारी आंखें चली जाएं, हम अन्धे हो जाएं। फिर काम कैसे चलेगा? पति ने कहा—परीक्षा कर लें। देखें, कैसे काम चलेगा? दोनों ने आंखों पर पट्टी बांध ली। दोनों चले। जहां रत्न बिखरे हुए पड़े थे, ढेर लगा था आस-पास में, उससे आगे निकल गए। कुछ आगे जाकर पति बोला—आंखों के बिना काम तो चल जाएगा, ऐसी कोई बात नहीं है। खोल लो पट्टी।

पट्टी खोल ली। देवता ने कहा—देखा तुमने! भाग्य में नहीं था, कुछ नहीं मिला। भाग्य बड़ा है पुरुषार्थ से।

भाग्य और पुरुषार्थ की चर्चा को हम छोड़ दें किन्तु इस बात को हम नहीं छोड़ेंगे कि जब तक आंखों पर मूर्च्छा की पट्टी बंधी हुई है तब तक हमारे आस-पास में, हमारे सामने, दाएं-बाएं, चारों तरफ सम्पदा बिखरी पड़ी है, पर हमें कुछ भी पता नहीं चलता। हम उस सम्पदा से अनजान रह जाते हैं।

शरीर-प्रेक्षा के तीन परिणाम

हमारा चित्त नाभि के आस-पास होता है। शरीर-शास्त्र की भाषा में जब एड्रीनल ग्रंथि के आस-पास चेतना काम करती है तब ये वृत्तियां जागती हैं। जब तक एड्रीनल सक्रिय नहीं होती, तब तक ये वृत्तियां नहीं जाग सकतीं। मनुष्य का चित्त ज्यादा नाभि से नीचे ही काम करता है, ऊपर काम नहीं करता, ऊपर नहीं रहता। उसे पता ही नहीं कि नीचे रहने से क्या होता है? हम इस सचाई को जान लें कि चित्त को अधिक से अधिक हृदय से ऊपर, कंठ से ऊपर, सिर तक रखना लाभदायक होता है। बार-बार वहीं रखें तो हमारी वृत्तियां समाप्त हो सकती हैं, स्वभाव बदल सकता है, व्यवहार बदल सकता है और चरित्र बदल सकता है। यह बहुत बड़ा रहस्य है व्यवहार और आचरण को बदलने का, स्वभाव और आदतों को बदलने का।

चित्त की यात्रा चैतन्य-केन्द्रों पर

चित्त का यह स्वभाव है कि वह सिर से लेकर पैर तक चक्कर लगाता है। कभी ऊपर, कभी नीचे, सदा यह चलता रहता है। कभी हमें अचानक हिंसा की स्मृति आ जाती है, कभी द्वेष की स्मृति आ जाती है, कभी घृणा का विचार जाग जाता है, कभी अच्छा विचार जाग जाता है, कभी ऐसी उत्कट भावना परमार्थ की जागती है कि सब कुछ त्यागने की भावना आ जाती है। ऐसा क्यों होता है? वृत्तियां क्यों बदलती हैं? कभी किसी स्मृति का दरवाजा खुलता है और कभी किसी स्मृति की खिड़की खुलती है। क्यों खुलती रहती हैं? कौन भीतर बैठा है जो इन्हें खोलता रहता है? और कोई नहीं, यह चित्त की यात्रा जब-जब होती है, चित्त जिस ग्रन्थि से, जिस केन्द्र से, जिस साइकिक सेन्टर का स्पर्श करता है, जिसके साथ लीन होता है, उस समय वही चेतना और वही स्मृति जाग जाती है और वही विचय हमारे सामने प्रस्फुटित हो जाता है। इस रहस्य को जान लेने के बाद साधक का रास्ता बहुत सीधा हो जाता है। जो साधक बदलना चाहता है, जो व्यवहार को, स्वभाव को और चरित्र को बदलना चाहता है उसके लिए बहुत आवश्यक है कि वह उन चैतन्य-केन्द्रों पर चित्त की यात्रा अधिक से अधिक करे जो चैतन्य-केन्द्र हमारे स्वभाव, आचरण का नियन्त्रण कर रहे हैं। विशुद्धि-केन्द्र, ज्योति-केन्द्र, दर्शन-केन्द्र, ज्ञान-केन्द्र, शांति केन्द्र—ये पांच केन्द्र हमारे व्यवहार को पवित्र बनाते हैं, आचरण को पवित्र बनाते हैं और असत् आचरण पर, असत् व्यवहार पर नियन्त्रण करते हैं। ये सारा शासन कर रहे हैं। किन्तु जब तक इनकी आराधना नहीं होती, जब तक इनकी साधना नहीं होती, हमारा ध्यान इन पर केन्द्रित नहीं होता, इन्हें हम सक्रिय नहीं बना लेते, तब तक ये हमारा पूरा सहयोग नहीं करते। साधना का बहुत बड़ा रहस्य है कि हम तैजस-केन्द्र, स्वास्थ्य-केन्द्र, शक्ति-केन्द्र का परिष्कार करें, आनन्द केन्द्र से ज्ञान-केन्द्र तक

और उस निर्मलता में से चैतन्य अभिव्यक्त हो सकता है, बाहर प्रकट हो सकता है। सामान्य नियम को लोग जानते हैं कि लालटेन का शीशा जब अन्धा हो जाता है, बाहर पूरा प्रकाश नहीं आता। बल्ब पर ढक्कन दे दिया जाए, बाहर प्रकाश नहीं आएगा। लाल रंग या लाल प्लास्टिक का टुकड़ा लगाने पर लाल रंग और पीला रंग लगाने पर पीला रंग आएगा। जैसा करोगे वैसा आएगा। हमारा चैतन्य-केन्द्र जब तक निर्मल नहीं होगा तब तक भीतर में ज्ञान कितना ही भरा पड़ा है, वह बाहर नहीं फूटेगा, उसकी रश्मियां बाहर को प्रकाशित नहीं कर पाएंगी। इसलिए चैतन्य-केन्द्रों को निर्मल बनाना जरूरी है। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा ये चैतन्य-केन्द्र निर्मल हो जाते हैं। चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा से और अधिक प्राण-धारा वहां इकट्ठी होती है और वे निर्मल बन जाते हैं। प्रेक्षा का दूसरा परिणाम है—चैतन्य-केन्द्रों की निर्मलता।

शरीर-प्रेक्षा का तीसरा परिणाम होता है—आनन्द-केन्द्र का जागरण। हमारे चित्त में ऐसे केन्द्र हैं कि जिनके जाग जाने पर व्यक्ति सदा सुख की स्थिति में रहता है। विज्ञान की भाषा में दो लघु-ग्रन्थियां हैं पिछले भाग में, एक सुख की और एक दुःख की। दोनों सटी हुई हैं। एक ग्रन्थि जागृत हो तो व्यक्ति बहुत सुख में रहता है, दूसरी जागृत हो जाए तो आदमी दुःखी बन जाता है। आनन्द का केन्द्र भी हमारे भीतर है। यदि विद्युत् का, प्राण-धारा का ठीक प्रवाह वहां पहुंचे, पूरा ताप लगे और उसको जगा पाए तो फिर आनन्द ही आनन्द हो जाता है। समता, साम्य, अनुकूल और प्रतिकूल स्थिति में एक समान भाव रहना यह असम्भव नहीं है, सम्भव है। हजारों-हजारों साधकों ने इन स्थितियों को सम्भव बनाया। जीवन जीया। कठिनाई आने पर कोई परिवर्तन नहीं आया। यह तभी सम्भव है कि वह आनन्द का केन्द्र, समता का केन्द्र जागृत हो जाए। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा वह केन्द्र जागृत होता है।

शरीर-प्रेक्षा के ये तीन महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं—प्राण-प्रवाह का सन्तुलन, चैतन्य-केन्द्र की निर्मलता और आनन्द-केन्द्र का जागरण।

शरीर-प्रेक्षा आध्यात्मिक प्रक्रिया है। साथ ही साथ यह मानसिक और शारीरिक प्रक्रिया भी है। स्वास्थ्य के लिए भी बहुत बड़ी चिकित्सा है—प्राण-चिकित्सा। शरीर-प्रेक्षा करने वाला केवल आध्यात्मिक प्रयोग ही नहीं कर रहा है, साथ-साथ में प्राण-चिकित्सा का प्रयोग भी कर रहा है। बीमारियों की चिकित्सा भी कर रहा है।

आदमी में तत्काल आकर्षण पैदा हो जाता है। मन को लाभ होता है तो बड़ा आकर्षण होता है। तत्काल लाभ की बात बहुत आकर्षित करती है। मैं तो यह मानता हूं कि धर्म परलोक की साधना का तत्त्व नहीं है। जिन लोगों ने धर्म को परलोक के साथ जोड़ दिया, उन्होंने धर्म की अप्रासंगिकता पैदा कर दी। बहुत बड़ी समस्या पैदा हो गई। परलोक का आकर्षण कब पैदा होगा? आदमी सोचता है कि धर्म से यदि परलोक ही सुधरेगा तो अभी क्यों करें? बूढ़े बनेंगे तब करेंगे। मरे बिना तो परलोक में जाएंगे नहीं। बूढ़े होने के बाद मरेंगे, अतः धर्म अन्तिम समय में कर लेंगे, परलोक सुधर जाएगा। ऐसी बड़ी भ्रान्ति पैदा हो गई और आदमी धर्म से विमुख हो गया।

धर्म का तत्त्व है कि आज करो, आज लाभ होगा, जिस क्षण में करो, उसी क्षण में लाभ होगा। आचार्य भिक्षु का एक वचन साधना की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है—**'वर्तमान में हुवे तिकोइज खरो।'**

कितना बड़ा सूत्र दिया है। आगे वह क्या करेगा, पीछे क्या किया, हमें इससे कोई मतलब नहीं। वह वर्तमान में क्या कर रहा है, वह देखो।

प्रश्न हुआ कि साधु है, आज हम साधु की वन्दना कर रहे हैं। हो सकता है कि कल वह भ्रष्ट हो जाए। एक कोई डाकू है, बुरा आदमी है, हम उसे बुरा मान रहे हैं, कल न जाने वह क्या हो जाए? आचार्य भिक्षु ने कहा—अतीत को छोड़ो, भविष्य को छोड़ो। क्या होगा, वह व्यक्ति अपना जाने। वर्तमान में क्या कर रहा है, बस उसी पर सारा निर्णय होगा। आधार केवल वर्तमान बनता है। जिस साधना के द्वारा, जिस आराधना के द्वारा, जिस ध्यान के द्वारा वर्तमान का क्षण आनन्दमय, चैतन्यमय और शक्तिमय नहीं होता वह धर्म नहीं, धर्म के नाम पर कोई दूसरा ही तत्त्व है। सचमुच, धर्म के द्वारा हमारी वर्तमान की समस्या सुधरनी चाहिए, वर्तमान बदलना चाहिए। यह ध्यान की साधना, शरीर-प्रेक्षा की साधना वर्तमान की साधना है। हम देखते हैं, शरीर में होने वाले परिवर्तनों का अनुभव करते हैं। यह जान लेते हैं कि वर्तमान में कितना परिवर्तन घटित हो रहा है। क्या परिवर्तन और परिणमन घटित हो रहा है। प्रेक्षा करते हैं और जानते हैं यथार्थ को कि क्या-क्या हो रहा है। जानने के साथ-साथ परिणमन और परिवर्तन भी होता है। लगता है कि भार [illegible] शरीर [illegible] है। [illegible] ध्यान करने बैठता है तो शरीर भारी-भारी लगता है, [illegible] हल्का हो जाता है। ध्यान करने बैठता है तो हल्का-हल्का लगता है कि [illegible] हुआ है। [illegible] हो सकता है कि [illegible], [illegible] हो सकता है। [illegible] परिणमन और [illegible] होता है।

कराता है। इससे हमारी चेतना का जागरण होता है, निर्मलता बढ़ती है, आनन्द का स्रोत फूटता है और निर्भारता का, हल्केपन का अनुभव होता है। इसीलिए साधक को, जो आत्मा को उपलब्ध होना चाहता, उसे श्वास की साधना, श्वास के साथ-साथ प्राण की साधना और प्राण की साधना के साथ-साथ समूचे शरीर की साधना करनी नितान्त आवश्यक है।

छब्बीस

शरीर की स्थिरता मूल है

एक साधक ने पूछा—मानसिक शान्ति का सबसे बड़ा उपाय क्या है? मैंने कहा—चित्त-समाधि। फिर प्रश्न हुआ कि चित्त-समाधि का सबसे बड़ा उपाय क्या है? उत्तर दिया—चित्त की शुद्धि। चित्त की निर्मलता होती है तो चित्त की समाधि होती है। समाधि होती है तो मन की शान्ति होती है। प्रश्न आगे बढ़ा। चित्त की शुद्धि का सबसे बड़ा सूत्र क्या है? उत्तर मिला—शरीर की स्थिरता। शरीर जितना स्थिर होता है, उतना ही चित्त को समाधान मिलता है, चित्त शुद्ध होता है, चित्त की मलिनता समाप्त होती है। चित्त की शुद्धि का सबसे बड़ा सूत्र है—शरीर की स्थिरता। चित्त की अशुद्धि का सबसे बड़ा कारण है—शरीर की चंचलता। समझने में कठिनाई होगी। पूछने वाले ने चित्त की बात पूछी और मैंने शरीर की बात कही। तर्कसंगत नहीं लगता। चित्त का प्रश्न है तो उत्तर भी चित्त का होना चाहिए। प्रश्न है चित्त का और उत्तर दिया गया शरीर का। चित्त और शरीर का क्या सम्बन्ध? कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। बड़ा अजीब-सा लगता है यह सम्बन्ध। साधना की सीमा में आगे बढ़ने पर हम स्वीकार करेंगे कि शरीर की स्थिरता हुए बिना चित्त की स्थिरता नहीं होती। शरीर की स्थिरता हुए बिना श्वास शान्त नहीं होता, मौन नहीं होता, मन शांत नहीं होता, स्मृतियां शान्त नहीं होतीं, कल्पनाएं समाप्त नहीं होतीं, विचार का चक्र रुकता नहीं। इसलिए सबसे पहले आवश्यक है—कायोत्सर्ग, कायगुप्ति, कायसंवर। कायसंवर होता है तो अनायास सारी बातें हो जाती हैं। काय का संयम होता है, साधना के लिए अगले चरण अपने आप आगे बढ़ जाते हैं। यदि काया का संयम नहीं होता, काया की चंचलता नहीं मिटती तो कुछ भी नहीं होता।

चंचलता का चौराहा

कर्म-शरीर ने अपने अस्तित्व की सुरक्षा की व्यवस्था कर रखी है। हर कोई

मनुष्य के मन में ऐसा विकल्प उठता है, सत्य तिरोहित हो जाता है, पर्दे के पीछे चला जाता है। इस चंचलता के कारण, मन की चंचलता के कारण यह घटना घटित होती है, अपने अस्तित्व का व्यक्ति को पता नहीं चलता। चंचलता का एक काम यह है कि आदमी को अपने अस्तित्व का पता न चले, अज्ञान सदा बना रहे।

चंचलता का दूसरा काम

चंचलता का दूसरा काम है—अपने दुःख का पता न चले। दुःख है पर चंचलता के कारण उसका पता नहीं चलता। आदमी मानता नहीं कि दुःख है। 'दुःख है' यह कहता है। दुःख को भोगता है, दुःख पाता है, अनुभव करता है फिर भी इतना जल्दी भूल जाता है कि मानो दुःख हुआ ही न हो। कोई घटना घटित होती है, सामने संकट, कठिनाई आती है, दुःख का अनुभव होता है, संवेदना होती है तब वह बहुत सोचता है। जैसे ही वह क्षण निकला, ऐसा भूलता है मानो कोई घटना घटी ही नहीं। यह चंचलता नहीं होती तो ऐसा नहीं होता। चंचलता ने अपनी व्यवस्था कर रखी है कि जिससे आदमी को अपने दुःख का पता न चले। चंचलता है इसीलिए हमें अपनी कमजोरी का पता नहीं चलता, शक्तिहीनता का पता नहीं चलता। अपने अज्ञान का पता न होना, अपने दुःख का पता न होना, अपनी कमजोरी का पता नहीं होना—ये तीनों बातें चंचलता के साम्राज्य में ही चल सकती हैं। यदि चंचलता मिट जाए तो कभी संभव नहीं कि ये बातें चल सकें।

कायोत्सर्ग : प्रतिक्रमण की प्रक्रिया

साधना का सबसे पहला चरण है—कायोत्सर्ग। इसका अर्थ है—शरीर को स्थिर करना, शरीर की चंचलता को समाप्त करना। कोई व्यक्ति आए और पूछे कि साधना कहां से प्रारंभ करूं? सीधा उत्तर है कि कायोत्सर्ग करो। शान्त बैठ जाओ। बस, और कुछ करने की जरूरत नहीं है। शरीर को बिल्कुल स्थिर, निश्चल और शान्त कर बैठ जाओ। आगे क्या करना है? कुछ नहीं करना। कोई जरूरत नहीं। कुछ करने की जरूरत नहीं, कुछ भी जानने की जरूरत नहीं। केवल स्थिर, शान्त होकर बैठ जाएं। क्या होगा? जो होगा, वह सारा का सारा घटित हो जाएगा। श्वास-प्रेक्षा का अभ्यास कर रहे हैं। श्वास को देखें, श्वास के कंपनों का अनुभव करें, श्वास के स्पर्श का अनुभव करें, चित्त को नथुनों में केन्द्रित करें, श्वास को देखें। आप स्थिर होकर बैठ गए, काया की चंचलता समाप्त हो गई, कुछ भी करने की जरूरत नहीं, अपने आप श्वास दीखने लग जाएगा। जब कायोत्सर्ग होता है, शरीर स्थिर होता है तब चेतना लौट आती है। चेतना तब बाहर जाती है जब चंचलता होती है। जब स्थिरता होती है तब चेतना अपने घर

है और चेतना का फिर अपने भीतर आ जाना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण अपने आप शुरू हो जाता है।

चेतना के प्रतिक्रमण के लाभ

हम जब प्रतिक्रमण की स्थिति में होते हैं, चेतना तब भीतर लौटती है और बाहर से चेतना का सम्पर्क टूटता है। चित्त जब भीतर ही देखने लगता है, अपनी सारी शक्ति का नियोजन भीतर होता है, उस समय सबसे पहले श्वास का दर्शन होता है। सहजभाव से श्वास-प्रेक्षा हो जाती है। जरूरत नहीं, सुझाव की। कुछ कहने की जरूरत नहीं। चेतना भीतर लौटी, पहला कार्य होगा—श्वास-दर्शन। अपने आप पता चलेगा कि इस शरीर के भीतर एक घटना घट रही है। पहली घटना—शरीर स्थिर, शान्त, किन्तु श्वास चल रहा है। बहुत मन्द-गति से चल रहा है। दीर्घ-श्वास अपने आप हो जाएगा। दीर्घ-श्वास, मन्द-श्वास, यह सहज नियम है शरीर का। जब शरीर की चंचलता होगी, श्वास छोटा होगा। शरीर की स्थिरता होगी, श्वास लम्बा हो जाएगा, दीर्घ हो जाएगा, मन्द हो जाएगा। श्वास की स्थिरता, शरीर की स्थिरता पर निर्भर है। शरीर जितना चंचल होता है, श्वास की गति बढ़ती जाती है। संख्या बढ़ती जाती है, श्वास छोटा होता चला जाता है। एक मिनट में १६ श्वास लेने वाला व्यक्ति जब शरीर की चंचलता को बढ़ाता है तो श्वास की संख्या भी २०, २५, ३० आगे से आगे बढ़ती चली जाती है। ६०, ७० तक भी चली जाती है। शरीर शान्त हुआ, श्वास की संख्या कम होने लग जाएगी, लम्बाई बढ़ जाएगी, श्वास अपने आप मन्द हो जाएगा। यह श्वास की मन्दता का नियम स्थिरता के साथ जुड़ा हुआ है।

अध्यात्म और व्यवहार के नियम

अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति को, समाधि और ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति को अध्यात्म के नियमों को जानना जरूरी है। जो अध्यात्म के नियमों को नहीं जानता वह अध्यात्म की साधना ही नहीं कर सकता। हर एक के अपने नियम होते है। व्यवहार के अपने नियम होते हैं, अध्यात्म के अपने नियम होते हैं। परिवार के अपने नियम होते हैं, समाज की व्यवस्था के अपने नियम होते हैं। जो जहां का नियम है, वहां का नियम जानना जरूरी होता है। जो वहां के नियमों को नहीं जानता, वह उस दिशा में विकास नहीं कर सकता।

जो स्थल-यात्रा का नियम है, वह वायु-यात्रा का नहीं हो सकता। वायुयान में बैठा आदमी कितनी ही दौड़ लगाए, जल्दी नहीं पहुंचेगा। वायुयान पहुंचेगा तभी पहुंच पाएगा, पहले नहीं पहुंच पाएगा। चंचलता का अपना नियम है और स्थिरता का अपना नियम है।

गयी, चेतना ने देखा और ऐसा छींटा लगा कि विचार तत्काल शान्त। वेदना का दर्शन होता है। शरीर में जो भी पीड़ा होती है, कष्ट होता है, चंचलता में पता नहीं चलता। जब स्थिरता होती है तो तत्काल पता चलता है कि कहां वेदना हो रही है? कहां पीड़ा हो रही है? वेदना का पता चलता है, कुछ वेदनाएं प्रकट होती हैं, कुछ वेदनाएं अज्ञात रूप में पलती हैं। बहुत लोगों को बीमारी का पता नहीं चलता। जब बीमारी पल जाती है और जब भयंकर रूप लेती है तब पता चलता है कि कोई बीमारी है। बीमारी का पहले पता चल जाए तो शायद इलाज भी हो जाए। अन्तर्-व्रण, बाहर का नहीं, भीतर का व्रण होता है। पहले पता नहीं चलता। वर्षों तक बीमारी पलती चली जाती है और जब अगले स्टेज में चली जाती है तब पता चलता है। तब वह बीमारी असाध्य जैसी बन जाती है। न जाने हमारी कितनी बीमारियां, कितनी वेदनाएं और कितनी पीड़ाएं ऐसी हैं जिनका पहले कोई पता नहीं चलता। चंचलता में कोई पता नहीं चलता। शरीर की स्थिरता जब सधती है, शरीर के हर अवयव की स्थिरता सधती है, प्रत्येक कोशिका की स्थिरता का अभ्यास होता है तो फिर किस कोशिका में कहां क्या हो रहा है, घटना का पता लगने लग जाता है। नाड़ी-संस्थान में, ग्रन्थि-संस्थान में जो कुछ हो रहा है, विद्युत्-प्रवाह की जो गति हो रही है, हमारे शरीर के रसायन किस प्रकार अपने विविध परिणमन कर रहे हैं और किस प्रकार के रसायन बन रहे हैं उन सब घटनाओं का कायोत्सर्ग में पता लगने लग जाता है। कायोत्सर्ग जैसे-जैसे विकसित होता है, जैसे-जैसे शरीर की स्थिरता सधती है वैसे-वैसे जागरूकता बढ़ती जाती है, चेतना निर्मल होती जाती है और इस स्थूल शरीर की सीमा का अतिक्रमण कर सूक्ष्म शरीर की घटनाओं का भी पता लगने लग जाता है।

आभामण्डल : एक विज्ञान

आभामंडल का दर्शन होता है। हर प्राणी के आस-पास एक आभामंडल होता है, एक रश्मियों का घेरा होता है कवच जैसा। पूरे शरीर के बाहर फैला हुआ। किसी का तीन फुट का, किसी का पांच फुट का और किसी का सात फुट का। हर व्यक्ति का एक घेरा होता है। किसी का बहुत सुन्दर होता है, किसी का बहुत भद्दा होता है। किसी का बड़ा आकर्षक होता है, किसी का ग्लानि पैदा करने वाला होता है। किसी का आभामंडल पास में आने वाले व्यक्ति को शान्ति देता है और किसी का आभामंडल पास में आने वाले व्यक्ति को चिन्ता, दुर्मनस्कता से भर देता है। हर व्यक्ति के पास आभामंडल होता है। आभामंडल लक्षण है हमारी जीवन का। आभामंडल लक्षण है हमारी भावधारा का। आभामंडल लक्षण है हमारी चैतन्य प्रक्रियाओं का। आभामंडल का दर्शन हर किसी को नहीं होता।

जागता है, अपूर्वकरण होता है। जैसा सम्यक-दर्शन पहले नहीं जागा, वैसा सम्यक्-दर्शन जागता है।

स्थूल-शरीर नहीं, सूक्ष्म-शरीर है उत्तरदायी

हम मानते थे कि सारा दुःख इस शरीर से होता है। इस शरीर में दुःख के सारे केन्द्र हैं। इस शरीर में वेदनाओं के सारे केन्द्र हैं। शरीर में वासनाओं के सारे केन्द्र हैं। इस शरीर में क्रोध, कपट, लोभ, घृणा आदि बुराइयों के केन्द्र हैं। सारा मस्तिष्क इन केन्द्रों से भरा है। सारा ग्रन्थि-तन्त्र इन दायित्वों को निभा रहा है। ये विद्युत् के प्रवाह, ये नाना प्रकार के रसायन, शरीर में पैदा होने वाले केमिकल—इन सारे दायित्वों को निभा रहे हैं। हमारी पूरी की पूरी कल्पना जुड़ी हुई थी स्थूल शरीर के साथ। सारा भार आरोपित कर रहे थे इस स्थूल-शरीर पर। अविवेक का, मूर्खता का, दुःख का, सारा का सारा नाता इस शरीर के साथ जोड़ रहे थे, किन्तु जैसे ही कर्म-शरीर के स्पन्दनों का पता चला, वे पकड़ में आए, हमारी भ्रान्ति टूट गयी। हमें पता चला वास्तविकता का कि यह स्थूल-शरीर तो बेचारा कुछ भी नहीं है। यह तो केवल अभिव्यक्ति का माध्यम है। जो भी घटना भीतर घटती है यह उसे प्रकट कर देता है। सारा का सारा संचालन-सूत्र भीतर बैठे सेनापति कर्म-शरीर के हाथ में है। बेचारा यह स्थूल-शरीर सैनिक है, लड़ रहा है। सैनिक का काम है—मोर्चे पर जाना। उसका काम है—मरना, मारना। पर सूत्र-संचालन कर्म-शरीर करता है। हमें पता चलेगा कि इस स्थूल-शरीर में जितने केन्द्र हैं, जितने बिन्दु हैं वे सारे के सारे सम्बादि हैं। सूक्ष्म-शरीर में, अतिसूक्ष्म-शरीर 'में जितनी क्रियाएं चल रही हैं, जितनी क्षमता, अक्षमता चल रही है, उतने ही केन्द्र इस शरीर में बन जाते हैं। वहां से स्रोत चलता है और यहां आकर प्रकट हो जाता है। संचालन का काम कर्म-शरीर का और अभिव्यक्ति देने का काम स्थूल-शरीर का।

कायोत्सर्ग की फलश्रुति

कायोत्सर्ग से इस स्थूल-शरीर के प्रति हमारी पकड़ कम हो जाती है और हम दुःख के उपादान तक पहुंच जाते हैं। यह शरीर है—दुःख को प्रकट करने का हेतु, किन्तु प्रकट करने का उपादान नहीं है। उपादान, मूल कारण है—कर्म-शरीर। हमारी अपाय-विचय की खोज पूरी होती है। हमें दुःख के उपादान का दर्शन होता है। जब दुःख के उपादान का दर्शन होता है तब सारा व्यक्तित्व भिन्न प्रकार का होता है। फिर, जिसे सहयोगी मानता रहा, उसे असहयोगी मानने लग जाता है आदमी। असहयोगी मान रहा था, उसे सहयोगी मानने लग जाता है। एक सत्य स्थिर होता है चेतना में कि कर्म-शरीर को क्षीण करना है, इस स्थूल-शरीर का

पास कुछ है नहीं, कोई आकर्षण शेष नहीं। सेवा का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा। सेवा बन्द हो गई। बड़ा दुःखी हो गया बूढ़ा।

एक स्वर्णकार था मित्र। वह आया। उसने पूछा—क्या स्थिति है?

बूढ़े ने कहा—स्थिति विकट है। कोई भी पूछता नहीं है। उसने कहा—चिन्ता मत करो। उपाय करूंगा। दो-चार दिन के बाद वह आया। एक पेटी लाया। सिरहाने रख दी। जब स्वर्णकार बूढ़े पिता के पास आया तब छोटा लड़का भी वहां आ पहुंचा। पेटी को देखकर वह बोला—'यह क्या है?'

'यह रत्नों की पेटी है।'

'रत्नों की पेटी कहां थी इतने दिन।'

स्वर्णकार ने कहा—'मेरे पास रखी हुई थी। मैंने सोचा—सेठजी बूढ़े हो गए चल-फिर नहीं सकते। मेरे पास पड़ी रह जाएगी। आज लाकर यह सौंप दी है।'

लड़कों ने कहा—'हमें सौंप दीजिए। ये क्या करेंगे?'

स्वर्णकार बोला—'नहीं, यह तुम्हें नहीं मिलेगी। सेठजी के पास रहेगी, मेरे मित्र के पास रहेगी, इनके सिरहाने ही रहेगी।'

वह लड़का दौड़ा-दौड़ा भाइयों के पास गया। रत्नों की बात सुनाई। सबके मुंह में पानी भर आया। बूढ़े की सेवा प्रारम्भ हो गई।

जब हमें यह पता चल जाए कि रत्न हैं तो सहयोग मिलना शुरू हो जाएगा। हम इसीलिए सहयोग नहीं कर रहे हैं कि हमें पता है कि पास में कुछ भी नहीं है।

इस शरीर का सहयोग लेना है स्थिरता में। शरीर का काम है चंचलता। साधना नहीं करने वाला व्यक्ति स्थिरता उत्पन्न नहीं करता।

रोग अनेक : दवा एक

आज के डॉक्टर कायोत्सर्ग बहुत अच्छा करवाते हैं। जब किसी की हड्डी टूट जाती है, पैर के पक्का प्लास्टर करते हैं। पैर का इतना अच्छा कायोत्सर्ग होता है कि सामान्य आदमी कर ही नहीं सकता। दो-तीन महीने तक पूरा कायोत्सर्ग हो जाता है। हाथ का कायोत्सर्ग, पैर का कायोत्सर्ग और कभी-कभी पूरे शरीर का कायोत्सर्ग करा देते हैं। डॉक्टर इस बात को जानता है कि कायोत्सर्ग नहीं होगा तो हड्डी भी नहीं जुड़ेगी। शरीर की स्वस्थता के लिए भी कायोत्सर्ग जरूरी है। किसी भी मानसिक चिकित्सक के पास आप जाएं। सबसे पहले व्यवस्था होगी कि लेट जाएं। शरीर को रिलेक्स करें। पूरा रिलेक्सेशन। शिथिलीकरण। फिर आपको निर्देश मिलेगा कि मन को देखें, विचारों को देखें और जो भी विचार आए कहते चले जाएं, छिपाएं नहीं। जो कुछ आए, एक भोले बच्चे की भांति सब कुछ प्रकट करते चले जाएं। मानसिक चिकित्सक भी कायोत्सर्ग करवाता है।

२७. चित्त-शुद्धि और अनुप्रेक्षा

१. ध्यान और स्वाध्याय।

२. समस्या के एक पहलू पर केन्द्रित होना, समस्या के अनेक पहलुओं पर चिंतन करना।

३. ध्यान के समय समस्याएं पैदा होती हैं :

- कुंडलिनी—तैजस-शक्ति जागृत होती है तब काम सक्रिय होता है।
- ध्यान द्वारा ताप, शोष और भेद।
  शरीर का (योग का) और कर्म-शरीर का तब उभार होता है।
- ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा तब भयंकर गर्मी। अन्य कठिनाइयां भी होती हैं।
  —इन सबका समाधान स्वाध्याय द्वारा।

४. सहिष्णुता के पांच आलंबन।

५. अहंकार से बचने की चार अनुप्रेक्षाएं—

- अनित्य अनुप्रेक्षा
- अशरण अनुप्रेक्षा
- एकत्व अनुप्रेक्षा
- संसार अनुप्रेक्षा

२७. चित्त-शुद्धि और अनुप्रेक्षा

१. ध्यान और स्वाध्याय।

२. समस्या के एक पहलू पर केन्द्रित होना, समस्या के अनेक पहलुओं पर चिंतन करना।

३. ध्यान के समय समस्याएं पैदा होती हैं :

- कुंडलिनी—तैजस-शक्ति जागृत होती है तब काम सक्रिय होता है।
- ध्यान द्वारा ताप, शोष और भेद।
  शरीर का (योग का) और कर्म-शरीर का तब उभार होता है।
- ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा तब भयंकर गर्मी। अन्य कठिनाइयां भी होती हैं।
  —इन सबका समाधान स्वाध्याय द्वारा।

४. सहिष्णुता के पांच आलंबन।

५. अहंकार से बचने की चार अनुप्रेक्षाएं—

- अनित्य अनुप्रेक्षा
- अशरण अनुप्रेक्षा
- एकत्व अनुप्रेक्षा
- संसार अनुप्रेक्षा

मूल्य है और तरल पानी का भी अपना मूल्य है। तरल रहने से उसका मूल्य समाप्त नहीं हो जाता, कम नहीं हो जाता। उसकी अपनी विशेपताएं कहीं नहीं जातीं।

स्वाध्याय हमारे चित्त की तरल अवस्था है। एक विन्दु पर हम चित्त को केन्द्रित करते हैं, चित्त वहां जम जाता है, स्थिर हो जाता है। वह तरल चित्त ध्यान बन जाता है। जब चित्त उस विन्दु पर जमता नहीं, स्थिर नहीं होता, आस-पास घूमता है तव वह स्वाध्याय वन जाता है। समस्या को सुलझाने के लिए स्वाध्याय भी बहुत जरूरी है और ध्यान भी बहुत जरूरी है। एक समस्या पर ध्यान केन्द्रित करना विचय-ध्यान की प्रक्रिया है। समस्या के जो पर्याय अज्ञात हैं, जिनकी हमें कोई जानकारी नहीं है, अज्ञात को ज्ञात करना है, अनुपलब्ध को उपलब्ध करना है, सत्य का अनुसंधान करना है तो उस विन्दु पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। जब चेतना की धारा एक दिशागामी, एक लक्ष्यगामी और एक विचारगामी होती है, तव ऐसा क्षण आता है कि समाधान मिल जाता है। समस्या सुलझ जाती है। अज्ञात ज्ञात हो जाता है।

स्वाध्याय : पथ-दर्शन

जब तक ध्यान की स्थिति नहीं बनती तव तक स्वाध्याय के द्वारा भी समस्या को सुलझाया जा सकता है, चिन्तन और विचारों के द्वारा भी समस्या को सुलझाया जा सकता है। बहुत बार ऐसा होता है कि ध्यान-काल में भी समस्याएं पैदा होती हैं और ध्यान-साधक के सामने अनेक समस्याएं उपस्थित हो जाती हैं। यदि स्वाध्याय का आलंबन न हो तो व्यक्ति उलझ जाता है। यदि गुरु का मार्ग-दर्शन न हो तो वह भटक जाता है। यदि ये दोनों बातें नहीं होती हैं तो ध्यान का मार्ग बहुत कंटीला है। ध्यान-साधक यह मानकर चलता है कि ध्यान का मार्ग फूलों की सैर का मार्ग है। किन्तु उचित मार्ग-दर्शन के बिना उसके पैर कांटों से विंध जाते हैं। फूल हाथ नहीं लगते, कांटे पहले ही चुभ जाते हैं।

ध्यान-साधक के लिए पथ-दर्शन अपेक्षित होता है। स्वाध्याय पथ-दर्शन करने में क्षम है। वह स्वयं पथ-दर्शक है। अध्ययन करना, जिज्ञासा करना, पुनरावर्तन करना, अनुप्रेक्षा करना, धर्म-कथा करना—ये सब स्वाध्याय के अंग हैं। मंत्र का जप करना भी स्वाध्याय है और अनुचिंतन करना भी स्वाध्याय है।

ध्यान में उभरती समस्याएं : निराकरण का उपाय

कुछेक व्यक्ति कहते हैं—ध्यान करने वाले को ग्रंथ नहीं पढ़ने चाहिए, मंत्र का जप नहीं करना चाहिए। संकल्प-शक्ति और प्राण-शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए, चिंतन-मनन नहीं करना चाहिए। ध्यान-साधक जितना निर्विकल्प और

का शोषण होता है। ध्यान करने वाले व्यक्ति के शरीर का विदारण होता है, जमी हुई ग्रन्थियों का भेद होता है, ग्रन्थियां खुल जाती हैं। जिस प्रकार स्थूल-शरीर में ये तीनों अवस्थाएं घटित होती हैं वैसे ही कर्म-शरीर में भी ये तीनों अवस्थाएं घटित होती हैं। कर्म शरीर का ताप होता है। कर्म-शरीर का शोष होता है। कर्म-शरीर का भेदन होता है।

पशु अपने स्थान पर इतना भयंकर नहीं होता। उसको छेड़ने से उसका भयंकर रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। सिंह अपनी गुफा में इतना भयंकर नहीं होता जितना वह छेड़ने से होता है। कर्म-शरीर की भी यही बात है। वह भीतर पड़ा है और अपने ढंग से कार्य कर रहा है। न उसमें कोई उफान आता है और न कोई तूफान आता है। वह भयंकर रूप धारण नहीं करता। किन्तु जब ध्यान के द्वारा उसके साथ छेड़छाड़ होती है तब वह रौद्र रूप धारण कर लेता है। उसमें भयंकर तूफान आता है, बवंडर उठते हैं। यदि उस समय गुरु का पथ-दर्शन नहीं मिलता, स्वाध्याय का सम्बल नहीं मिलता तो व्यक्ति निराश हो जाता है, टूट जाता है। वह उन स्थितियों को संभाल नहीं पाता। ध्यान करने वाले व्यक्ति में जब ऊर्जा जागती है तब क्रोध भी बढ़ जाता है। शक्ति का कार्य है उत्तेजना पैदा करना। आग से पकाया भी जा सकता है और जलाया भी जा सकता है। अग्नि जलाती है। उसमें यह विवेक नहीं होता कि किसको जलाना है और किसको नहीं जलाना है। जो भी सामने आता है उसे वह जलाकर राख कर देती है। जब वह चूल्हे में सीमित होती है तो पका सकती है। जब वह सीमा का अतिक्रमण कर फैलती है तब सब कुछ भस्मसात् कर देती है। हमारे भीतर की ऊर्जा भयंकर आग है। शरीर में तैजस की इतनी बड़ी और भयंकर आग है कि अन्यत्र वह दुर्लभ है। जिस साधक को तेजोलब्धि प्राप्त हो जाती है, उसमें इतनी क्षमता विकसित हो जाती है कि वह एक क्षण में हजारों मील के भूभाग को भस्म कर सकता है। एक अणु-विस्फोट से अधिक विनाश करने में वह सक्षम हो जाता है। जब यह शक्ति जागती है और यदि उसे सही रास्ता मिल जाए, एक चूल्हा मिल जाए, नियामक तत्त्व मिल जाए तो वह हमारी अन्यान्य शक्तियों के संवर्धन में हेतुभूत हो सकती है। यदि ऐसा नहीं होता तो वह उसी व्यक्ति को जलाने लग जाती है। जब तैजस-शक्ति का जागरण होता है तब भयंकर ताप पैदा होता है। यदि साधक उस ताप को सहने में सक्षम नहीं होता तो वह पागल हो जाता है। यह शक्ति बहुत खतरनाक होती है। इनसे क्रोध बढ़ जाता है। शाप देने की शक्ति हाथ में आ जाती है। ध्यान करने वाले कुछ तपस्वी ऐसे होते हैं, जिनकी शक्ति जाग जाती है, क्रोध बढ़ जाता है, पर उन्हें क्रोध के उपशमन का उपाय हाथ नहीं लगता तब उनकी शक्ति दूसरों का अनिष्ट करने में, शाप देने में, खपती है।

स्वाध्याय के द्वारा यह जाना जा सकता है कि शक्ति-जागरण होने पर किस

मैं ज्ञानी हूं। मुझे क्रोध के दुष्परिणाम ज्ञात हैं। मैंने क्षमा का मूल्य समझा है। अज्ञानी आदमी को क्रोध करते देखकर यदि मैं भी क्रोध करूं तो मैं भी अज्ञानी वन जाऊंगा।

एक व्यक्ति अपने मित्र के घर गया। पूछा—आज इतने प्रसन्न कैसे लग रहे हो? उसने कहा—आज एक अजीव घटना घटी। मैं पड़ोसी के घर गया। उसने जाते ही मुझे कहा—तुम गधे हो। मित्र ने पूछा—तुमने प्रत्युत्तर में क्या कहा? उसने कहा—मैं मौन रहा। क्योंकि मैं भी गाली का उत्तर गाली से देता तो सचमुच मैं गधा वन जाता। उसने मुझे गधा कहा, इससे मैं गधा नहीं वना किन्तु मैं गाली देता तो अवश्य ही गधा बन जाता।

जिनमें सहन करने की शक्ति दुर्बल होती है, वे गुस्से के प्रति गुस्सा, उत्तेजना के प्रति उत्तेजना करने में रस लेते हैं। जिनमें यह चेतना जाग जाती है—अज्ञानी मनुष्य को देखकर अज्ञानी नहीं बनना है। क्रोध वह करता है जो अज्ञानी होता है, मुझे ज्ञान उपलब्ध हुआ है, मैं अज्ञानी नहीं हूं, क्रोध को देखकर क्रोध नहीं करूंगा, यदि करूंगा तो अज्ञानी वन जाऊंगा—उन्हें दूसरा आलंबन प्राप्त हो जाता है।

३. मैं मूर्ख नहीं

क्रोध करना मूर्खता का लक्षण है। क्रोध करने वाला मूर्ख होता है। समझदार आदमी कभी क्रोध नहीं करता। समझदार आदमी कारण को खोजता है, क्रोध के प्रति क्रोध नहीं करता। जो व्यक्ति कारण की खोज में लग जाता है, वह क्रोध की ओर कम जाता है, कारण तक पहुंचने का प्रयत्न करता है। साधक इन आलंवन-सूत्रों को पुष्ट करे—मैं मूर्ख नहीं हूं। मूर्खता मेरा स्वभाव नहीं है।

४. दोष मेरा ही है

मैं सवके साथ सद्-व्यवहार करता हूं, किसी का प्रतिवाद नहीं करता, फिर भी कोई व्यक्ति मेरे व्यवहार से कुपित होता है तो यह मेरे पूर्वकृत कर्म का ही फल हो सकता है। कोई ऐसा विपाक है, मेरे स्वरों में या शब्दों के व्यवहार में ऐसी कोई कमी है कि सामने वाला कुपित हो जाता है। दोप दूसरों का नहीं है, मेरा ही है। इस आलंवन के आधार पर वह गुस्से से वच जाता है। संपर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसके ऊपर क्रोध करता है, किन्तु वह क्रोध नहीं करता क्योंकि उसे एक पुष्ट आलंवन प्राप्त है।

५. आग हाथ जलाती है

जो क्रोध करता है उसका मन रुग्ण हो जाता है। क्षमा करने वाले का चित्त स्वस्थ रहता है। यह सचाई जव समझ में आ जाती है तव क्रोध की जड़ पर तीव्र

निकला। उसने दोनों की बात सुनी। उसने कहा—एक मछली भी पानी में तैरती है, बैठती है। यह तो मामूली बात है। मक्खी आकाश में उड़ती है। अधर रह जाती है। इसमें क्या अनोखापन है? पानी पर बैठना या आकाश में अधर रहना कोई महत्त्व की बात नहीं है। मछली और मक्खी का जीवन मत जीओ। साधना की सही दिशा में चलो। अध्यात्म को उपलब्ध करो और अपने कषायों और मलिनताओं को दूर करो, अशुद्धियों को समाप्त करो। अन्यान्य लब्धियां महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। वे साधना के साथ स्वयं उपलब्ध होती हैं।

अहंकार से बचने का एकमात्र उपाय है—अनुप्रेक्षा। जो व्यक्ति ध्यान के साथ-साथ अनित्य अनुप्रेक्षा का प्रयोग प्रारंभ कर देता है, उसमें अहंकार जागने की संभावना कम हो जाती है। यदि अहंकार जागता भी है तो शांत हो जाता है। क्रोध आता है तो वह टिक नहीं पाता, अपने आप विलीन हो जाता है। ध्यान करने वाले व्यक्ति को इस अनुप्रेक्षा का बार-बार आलंबन लेना चाहिए। इसके कुछ सूत्र ये हैं—

अनित्य अनुप्रेक्षा

यह शरीर अनित्य है। यह यौवन अनित्य है। शरीर की सुंदरता का अभिमान हो सकता है। यौवन का अभिमान हो सकता है। यह परिवार का संयोग अनित्य है। अपने परिवार का अभिमान हो सकता है। यह वैभव, यह संपदा अनित्य है। संपदा का अहंकार हो सकता है। इष्ट का संयोग भी अनित्य है। ये सब अनित्य हैं। और क्या? जीवन भी अनित्य है। जब अनित्यता का यह अनुचिंतन सामने रहता है, बार-बार चेतना में उभरता है तब अहंकार के प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को अनित्यता का अनुभव नहीं होता उसमें क्रोध आने का बहुत अवकाश रहता है। जिसकी चेतना में यह बात जम गई कि संयोग अनित्य है, पदार्थ नश्वर है, तब पदार्थ के चले जाने पर भी वह दुःखी नहीं होगा।

हमारे व्यावहारिक जीवन में भी अनित्य अनुप्रेक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। जिस व्यक्ति के चित्त में यह संस्कार पुष्ट बन जाता है कि सब पदार्थ अनित्य हैं, फिर उस व्यक्ति के मन से विवाद बढ़ने वाली बातें समाप्त हो जाती हैं। वह घटना को जान लेता है, भोगता नहीं। ध्यान करने वाले में और ध्यान नहीं करने वाले में यही अन्तर है। ध्यान करने वाला व्यक्ति घटना को जानता है, भोगता नहीं। ध्यान नहीं करने वाला व्यक्ति घटना को जानता नहीं, भोगता है। घटना को जानने वाला व्यवहार को अमृतमय बना देता है, मधुर बना देता है। घटना को भोगने वाला स्वयं दुःख पाता है और सारे वातावरण में दुःख के परमाणुओं को बिखेर देता है, सारा वातावरण दुःखपूर्ण बन जाता है। वह दुःख उसी तक सीमित नहीं रहता, विस्तृत हो जाता है।

है। वह परिस्थिति के आने पर भी टूटेगा नहीं। यदि यह भावना चित्त में स्थित नहीं है, और व्यक्ति सुनता है कि सबने उसका साथ छोड़ दिया है, तो वह विक्षिप्त बन जाएगा, पागल हो जाएगा। ऐसा इसलिए होता है कि वह व्यक्ति अटल सचाई को विस्मृत किए चलता है। वह उस सचाई का पालन नहीं करता, अनुभव नहीं करता। यदि चित्त सचाई से भावित रहे तो ऐसी घटना घटने पर भी आदमी विचलित नहीं होता, वह संभला रहता है।

जब सब साथ कार्य करते थे, वह आश्चर्य की बात नहीं है। अब सब बिछुड़ गए या सहयोग खींच लिया, यह भी आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसी घटनाएं प्रतिदिन घटती रहती हैं, फिर भी आदमी आंख मूंदकर सचाई की अवहेलना करता जा रहा है। 'मैं अकेला हूं'—यह है एकत्व अनुप्रेक्षा।

संसार अनुप्रेक्षा

चौथा सूत्र है—संसार अनुप्रेक्षा। इसका अर्थ है—संसार की नाना परिणतियों को जानना, विविध परिवर्तनों को जानना। जन्म और मृत्यु के चक्र से बराबर परिचित रहना।

चित्त-शुद्धि की प्रक्रिया : अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षाएं अनेक हैं। मैंने चार मुख्य अनुप्रेक्षाओं की चर्चा का है। जो व्यक्ति ध्यान के साथ-साथ इन अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करता है, उसके चित्त पर कोई मूर्च्छा नहीं जमती, मैल नहीं जमता। कभी कुछ जमता है तो अनुप्रेक्षा से उसकी धुलाई हो जाती है। इसलिए प्रेक्षा-ध्यान करने वाले साधकों को चित्त-शुद्धि के लिए अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करना जरूरी है। उनके लिए स्वाध्याय भी बहुत अपेक्षित है। प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया में स्वाध्याय का भी स्थान है, गुरु के पथ-दर्शन का भी स्थान है। इस सचाई को बराबर मानते चलें तो ध्यान के साथ-साथ हमारे चित्त की निर्मलता और चित्त की निर्मलता पर संभावित दोषों का शोधन करते चले जाएंगे और तब व्यवहार के क्षेत्र में भी जीवन-यात्रा सुखद होती चली जाएगी। उस स्थिति में अध्यात्म की यात्रा निर्विघ्न और निर्बाध बन सकेगी।

अट्ठाईस

वैज्ञानिक उपलब्धि

मनुष्य सारी जीवन-यात्रा स्थूल शरीर की परिक्रमा करते हुए करता है। जीवन इसी स्थूल शरीर के आसपास चलता है। इस सीमा को पार कर आगे जाने वाले कुछ ही लोग होते हैं। हमारे पास जानने के जितने भी साधन हैं, वे सब स्थूल हैं। वे स्थूल को पकड़ सकते हैं। सूक्ष्म को जानने का कोई भी साधन नहीं है।

इस वैज्ञानिक युग ने मनुष्य जाति का बहुत उपकार किया है। आज धर्म के प्रति जितना सम्यग् दृष्टिकोण है वह ५०-१०० वर्ष पूर्व नहीं हो सकता था। आज सूक्ष्म सत्य के प्रति जितनी गहरी जिज्ञासा है, उतनी पहले नहीं थी। कुछ समय पूर्व तक जब कभी सूक्ष्म सत्य की बात प्रस्तुत होती तो मनुष्य उसे पौराणिक या मनगढ़ंत मानकर टाल देता था। वह उसे अंधविश्वास कहता था। एक ऐसा शब्द है अंधविश्वास कि उसकी ओट में सब कुछ छिपाया जा सकता है। किन्तु विज्ञान ने जैसे-जैसे सूक्ष्म सत्यों की प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की, वैसे-वैसे अंधविश्वास कहने का साहस टूटता गया। अब यदि कोई व्यक्ति किसी बात को अंधविश्वास कहकर टालता है तो वह साहस ही करता है। आज विज्ञान जिन सूक्ष्म सत्यों का स्पर्श कर चुका है, दो शताब्दी पूर्व उसकी कल्पना करना भी असंभव था। यह कहा जा सकता है कि विज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान की सीमा के आस-पास पहुंच रहा है। प्राचीनकाल में साधना द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास और सूक्ष्म सत्यों का साक्षात्कार किया जाता था। आज के आदमी ने अतीन्द्रिय ज्ञान की साधना भी खो दी और अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास करने का अभ्यास भी खो दिया। पद्धति भी विस्मृत हो गयी। अब सिवाय विज्ञान के कोई साधन नहीं है। वैज्ञानिकों ने कोई साधना नहीं की, अध्यात्म का गहरा अभ्यास नहीं किया, अतीन्द्रिय चेतना को जगाने का प्रयत्न नहीं किया किन्तु इतने सूक्ष्म उपकरणों का निर्माण किया कि जिनके माध्यम से अतीन्द्रिय सत्य खोजे जा सकते हैं, देखे जा

आज वैज्ञानिकों ने यह प्रतिपादन किया कि ये चार ही प्रकार नहीं होते। एक और प्रकार भी है। उसे जैव प्लाजमा कहा जाता है। वह जैव प्लाजमा मृत्यु के बाद भी नष्ट नहीं होता। वह विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों में चला जाता है।

तैजस शरीर भी मृत्यु के बाद नष्ट नहीं होता। एक दृष्टि से यह अमर कहा जाता है। जब तक मनुष्य इस शरीर से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता तब तक यह तैजस शरीर कभी नहीं मरता। मनुष्य अनादिकाल से शरीर धारण करता आ रहा है। एक स्थूल शरीर को छोड़ता है और दूसरे स्थूल शरीर को धारण कर लेता है। उसने कितने शरीर बदले हैं, कितनी बार बदले हैं। किन्तु इतना सब होने पर भी उसके पास एक तैजस शरीर है जो सदा से उसके साथ आ रहा है। वह नहीं मरता, नहीं बदलता। इस दृष्टि से वह अमर है, सदा साथ रहने वाला है। तैजस शरीर से भी सूक्ष्म है कर्म-शरीर। वह भी प्राणी का साथ नहीं छोड़ता। वह भी नहीं मरता। वह कभी नहीं मरा। उसने जीव का साथ आज तक नहीं छोड़ा और तब तक नहीं छोड़ेगा जब तक जीव बंधनों से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाएगा। ये दोनों शरीर अमर हैं।

जब हम तैजस शरीर में प्रवेश करते हैं तब हमारा चिन्तन बदल जाता है, भावधारा बदल जाती है। भावों का सारा निर्माण इस तैजस शरीर या विद्युत् शरीर की सीमा में होता है। हमारे भाव बनते हैं, अच्छे होते हैं, बुरे होते हैं, वे सब तैजस शरीर की सीमा में होते हैं। तैजस शरीर के आसपास सारी घटनाएं घटित होती हैं। वे घटनाएं और भाव स्थूल शरीर में उतरते हैं और हमारे ग्रंथि संस्थान, हमारे स्नायु-मंडल को प्रभावित करते हैं। फिर वे हमारे आचरण में आते हैं। मनुष्य के आचरण और व्यवहार का अध्ययन नाड़ी-मंडल और ग्रन्थि-संस्थान के आधार पर नहीं किया जा सकता। उसका अध्ययन किया जा सकता है तैजस शरीर के आधार पर, लेश्याओं और भावतंत्र के आधार पर।

प्रकाश ही है रंग

हम जब इस स्थूल शरीर की सीमा से पार जाकर देखते हैं तो हमें विचित्र रंग दिखाई देते हैं। विचारों को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले दो तत्त्व हैं—शब्द और रंग। मनुष्य इन दोनों से अत्यधिक प्रभावित होता है। दो इन्द्रियां—चक्षु और श्रोत्र आदमी पर प्रभाव डालती हैं। हमारे आस-पास रंगों का वलय बना हुआ है। हमारे भीतर रंगों का वलय बना हुआ है। आप देखें। आंखों को बंद करें। दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करें। थोड़े समय में ही रंगों के बिन्दु दीखने लग जाएंगे। आंख को मूंदकर दबाएं और देखें, प्रकाश के बिन्दु और रंगीन बिन्दु आस-पास चक्कर लगाते हुए दीख पड़ेंगे। सर्वेन्द्रिय-संयम मुद्रा करें। आंखों के सामने रंग ही रंग दीख पड़ेंगे। ये रंग हमारे भीतर हैं। तैजस शरीर रंगों का

कर सकता है। वह व्यक्ति-व्यक्ति के चरित्र को जान सकता है।

ध्यान की दीक्षा देने वाला गुरु शिष्य के आभामंडल को देखकर उसके समूचे चरित्र को पढ़ लेता है और जान जाता है कि यह कैसा व्यक्ति है? इसकी भाव धारा कैसी है?

एस्ट्रलप्रोजेक्शन और समुद्घात

एक हब्शी महिला है। उसका नाम है—लिलियन। वह अतीन्द्रिय प्रयोगों में दक्ष है। उससे पूछा गया—तुम अतीन्द्रिय घटनाएं कैसे बतलाती हो? उसने कहा, 'मैं एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा उन घटनाओं को जान जाती हूं। प्रत्येक प्राणी में प्राणधारा होती है। उसे एस्ट्रल बॉडी भी कहा जाता है। एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा मैं प्राणशरीर से बाहर निकलकर, जहां घटना घटित होती है, वहां जाती हूं और सारी बातें जानकर दूसरों को बता देती हूं।'

विज्ञान द्वारा सम्मत यह एस्ट्रलप्रोजेक्शन की प्रक्रिया जैन परंपरा की समुद्घात प्रक्रिया है। समुद्घात का यही तात्पर्य है कि जब विशिष्ट घटना घटित होती है तब व्यक्ति स्थूल शरीर से प्राणशरीर को बाहर निकालकर घटने वाली घटना तक पहुंचाता है और घटना का ज्ञान कर लेता है। यह प्राण-शरीर बहुत दूर तक जा सकता है। इसमें अपूर्व क्षमताएं हैं।

समुद्घात सात हैं—वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात। जब व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है तब उसका प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। यह कषाय समुद्घात है। जब आदमी के मन में अति लालच आता है तब भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार भयंकर बीमारी में, मरने की अवस्था में भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। आज के विज्ञान के सामने ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई हैं।

एक रोगी ऑपरेशन थियेटर में टेबल पर लेटा हुआ है। उसका मेजर ऑपरेशन होना है। डॉक्टर ऑपरेशन कर रहा है। उस समय उस व्यक्ति में वेदना समुद्घात घटित हुई। उसका प्राण-शरीर स्थूल शरीर से निकलकर ऊपर की छत के आसपास स्थिर हो गया। ऑपरेशन चल रहा है और वह रोगी अपने प्राण-शरीर से सारा ऑपरेशन देख रहा है। ऑपरेशन करते-करते एक बिन्दु पर डॉक्टर ने गल्ती की। तत्काल ऊपर से रोगी ने कहा, 'डॉक्टर! यह भूल कर रहे हो।' डॉक्टर को पता नहीं चला—कौन बोल रहा है। उसने भूल सुधारी। वेदना कम होते ही रोगी का प्राण-शरीर पुनः स्थूल शरीर में आ जाता है। प्रोजेक्शन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। होश आने पर रोगी ने डॉक्टर से कहा, 'छत पर लटकते हुए मैंने पूरा ऑपरेशन देखा है।

कर सकता है। वह व्यक्ति-व्यक्ति के चरित्र को जान सकता है।

ध्यान की दीक्षा देने वाला गुरु शिष्य के आभामंडल को देखकर उसके समूचे चरित्र को पढ़ लेता है और जान जाता है कि यह कैसा व्यक्ति है? इसकी भाव धारा कैसी है?

एस्ट्रलप्रोजेक्शन और समुद्घात

एक हब्शी महिला है। उसका नाम है—लिलियन। वह अतीन्द्रिय प्रयोगों में दक्ष है। उससे पूछा गया—तुम अतीन्द्रिय घटनाएं कैसे बतलाती हो? उसने कहा, 'मैं एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा उन घटनाओं को जान जाती हूं। प्रत्येक प्राणी में प्राणधारा होती है। उसे एस्ट्रल बॉडी भी कहा जाता है। एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा मैं प्राणशरीर से बाहर निकलकर, जहां घटना घटित होती है, वहां जाती हूं और सारी बातें जानकर दूसरों को बता देती हूं।'

विज्ञान द्वारा सम्मत यह एस्ट्रलप्रोजेक्शन की प्रक्रिया जैन परंपरा की समुद्घात प्रक्रिया है। समुद्घात का यही तात्पर्य है कि जब विशिष्ट घटना घटित होती है तब व्यक्ति स्थूल शरीर से प्राणशरीर को बाहर निकालकर घटने वाली घटना तक पहुंचाता है और घटना का ज्ञान कर लेता है। यह प्राण-शरीर बहुत दूर तक जा सकता है। इसमें अपूर्व क्षमताएं हैं।

समुद्घात सात हैं—वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात। जब व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है तब उसका प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। यह कषाय समुद्घात है। जब आदमी के मन में अति लालच आता है तब भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। इसी प्रकार भयंकर बीमारी में, मरने की अवस्था में भी प्राण-शरीर बाहर निकल जाता है। आज के विज्ञान के सामने ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई हैं।

एक रोगी ऑपरेशन थियेटर में टेबल पर लेटा हुआ है। उसका मेजर ऑपरेशन होना है। डॉक्टर ऑपरेशन कर रहा है। उस समय उस व्यक्ति में वेदना समुद्घात घटित हुई। उसका प्राण-शरीर स्थूल शरीर से निकलकर ऊपर की छत के आसपास स्थिर हो गया। ऑपरेशन चल रहा है और वह रोगी अपने प्राण-शरीर से सारा ऑपरेशन देख रहा है। ऑपरेशन करते-करते एक बिन्दु पर डॉक्टर ने गलती की। तत्काल ऊपर से रोगी ने कहा, 'डॉक्टर! यह भूल कर रहे हो।' डॉक्टर को पता नहीं चला—कौन बोल रहा है। उसने भूल सुधारी। वेदना कम होते ही रोगी का प्राण-शरीर पुनः स्थूल शरीर में आ जाता है। प्रोजेक्शन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। होश आने पर रोगी ने डॉक्टर से कहा, 'छत पर लटकते हुए मैंने पूरा ऑपरेशन देखा है।

शरीर प्रक्षेपण की अनेक प्रक्रियाएं हैं। इन प्रक्रियाओं में प्राण-शरीर बाहर चला जाता है।

उस हब्शी महिला लिलियन ने कहा, 'मैं एस्ट्रलप्रोजेक्शन के द्वारा यथार्थ बात जान लेती हूं। मैं लोगों के आभामंडल में प्रविष्ट होकर उनके चरित्र का वर्णन कर सकती हूं। किन्तु शराबी आदमी के चरित्र को मैं नहीं जान सकती, क्योंकि शराबी आदमी का आभामंडल अस्त-व्यस्त हो जाता है। वह इतना धंधला हो जाता है कि उसके रंगों का पता ही नहीं चलता।'

हमारी भावनाएं, हमारे आचरण आभामंडल के निर्माता हैं। जब अच्छी भावनाएं, और पवित्र आचरण होता है तब आभामंडल बहुत सशक्त और निर्मल होता है। भावधारा मलिन होती है और चरित्र भी मलिन होता है तब आभामंडल धूमिल, विकृत और दूषित हो जाता है।

भामंडल और आभामंडल

दो शब्द हैं। एक है—भामंडल और दूसरा है—आभामंडल। ऑकल्ट साइन्स (Occult-Science) में भामंडल को हॅलो (Hallow) कहते हैं। यह सिर के पीछे होता है। आज भी जो अवतारों के चित्र मिलते हैं, बड़े व्यक्तियों के चित्र मिलते हैं उनमें हम व्यक्ति के सिर के पीछे गोलाकार पीले रंग का एक चक्र-सा देखते हैं। यह भामंडल हैं। यह प्रत्येक प्राणी में नहीं होता। विशिष्ट व्यक्तियों के ही होता है। दूसरा है आभामंडल। इसे ऑकल्ट साइन्स में 'ओरा' (Auro) कहते हैं। यह आभामंडल हमारे चरित्र का, हमारी भावधारा का प्रतिनिधित्व करता है। आभामंडल को देखकर व्यक्ति के चरित्र को जाना जा सकता है और व्यक्ति के चरित्र को देखकर आभामंडल को जाना जा सकता है। जो व्यक्ति चरित्रवान् है, उसका आभामंडल सशक्त होगा। उस पर दूसरों का प्रभाव नहीं हो सकेगा। दूसरे तत्त्व उस आभामंडल में प्रवेश नहीं कर सकेंगे।

हम जिस दुनिया में जीते हैं वह संक्रमण की दुनिया है। एक व्यक्ति पर अनेक तत्त्व संक्रमण करते हैं। अनेक रूप-रंग आक्रमण करते हैं और आभामंडल को विचलित करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जिनका चरित्र शुद्ध होता है, भावधारा निर्मल होती है, उनका आभामंडल विचलित नहीं होता। बाह्य आक्रमणों से वह आक्रान्त नहीं होता। उसमें इतनी क्षमता होती है कि जो आता है, टकराता है और वापस चला जाता है, भीतर प्रवेश नहीं पा सकता। एक चरित्रवान् व्यक्ति को कोई अभिशाप दे, उस पर कोई असर नहीं होगा।

हमारा चरित्र और भाव जब निर्मल होता है तब इस संक्रमण की दुनिया में रहते हुए भी हम बाह्य प्रभावों से बच जाते हैं। चरित्र का बहुत बड़ा मूल्य है। आदमी सफल होता है और कभी-कभी प्रत्येक कार्य में सफल होता चला जाता

दिया। धार्मिक लोगों ने भी यही किया। उन्होंने धर्म को रूढ़ बना दिया। जो धर्म प्रायोगिक था, वह आज प्रयोगशून्य हो गया। जो अनुभव के द्वारा प्राप्त होने वाला तत्त्व था, उससे अनुभव को काट दिया गया। धर्मरूपी पंछी के दो पंख थे। एक था प्रयोग का पंख और दूसरा था अनुभव का पंख। दोनों पंख काट दिए गए। आज वह धर्म का पंखी पंखविहीन होकर तड़फ रहा है।

जिस धर्म के साथ प्रयोग नहीं है, कुछ नया जानने की जिज्ञासा नहीं है, नये तथ्य खोजने की अभीप्सा नहीं है, वह धर्म रूढ़ हो जाता है और गढ़े में गिरे हुए पानी जैसा गंदला बन जाता है।

जिसके साथ स्वयं का कोई अनुभव नहीं होता, केवल सुनने और मानने की बात चलती है, वह धर्म बहुत भला नहीं कर सकता।

त्याग की शक्ति का उत्स—धर्म की चेतना

धर्म की सबसे बड़ी शक्ति है—त्याग की शक्ति। दुनिया में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो त्याग की शक्ति पैदा कर सके। एकमात्र धर्म की चेतना से व्यक्ति में त्याग करने की क्षमता आती है। संसार के सारे शास्त्र भोग की बात सिखाते हैं, बटोरने की बात और इन्द्रियों के विषयों के सेवन की बात सिखाते हैं। एकमात्र धर्म की चेतना व्यक्ति को त्याग सिखाती है। वह कहती है—त्याग करो, विषयों का परित्याग करो, अनुपलब्ध को उपलब्ध करने का प्रयत्न मत करो। किन्तु आज मूल पर ही कुठाराघात हो चुका है। चरित्र की चेतना जब लुप्त हो जाती है, तब व्यक्ति के मन में यह विचार उठता है कि चरित्रवान् दुःख पाता है और चरित्रहीन सुख भोगता है। जब यह विचार दृढ़मूल बन जाता है तब उस व्यक्ति का, समाज या राष्ट्र का चरित्र-पक्ष कभी उज्ज्वल नहीं रह सकता। वे कभी उन्नति के शिखर का स्पर्श नहीं कर सकते।

आनन्दघनजी से संबंधित चारित्रिक पक्ष की एक दूसरी घटना है। एक बार एक प्रदेश के राजा-रानी आनन्दघनजी के पास आए। वे बोले—गुरुवर ! और सब कुछ है, पर पुत्र नहीं है। पुत्र के बिना संपदा और वैभव का प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? आनन्दघनजी बोले—मैं क्या पुत्र दूंगा ? जाओ, और किसी से याचना करो। राजा-रानी ने बहुत आग्रह किया। आनन्दघनजी ने एक पन्ने पर कुछ लिखा और कहा—रानी के बाएं हाथ पर बांध देना। मेरी एक शर्त मानना, सदा सदाचार का पालन करना। अहिंसा, सत्य का पालन करना। मनोकामना पूरी होगी। अन्याय मत करना, शोषण और उत्पीड़न से बचना। न्याय करना।

राजा-रानी ने सभी व्रतों का पालन प्रारंभ कर दिया। आचरण का पक्ष उज्ज्वल हुआ। क्षमता बढ़ी। भावनाओं में शक्ति आई, संकल्प-शक्ति का विकास हुआ। संयोग की बात पुत्र की प्राप्ति हो गई। वे दोनों आनन्दघनजी के पास

आकर बोले—महाराज ! आपका मंत्र सफल हुआ। हम आपके अत्यन्त आभारी हैं। आनन्दघनजी ने कहा—रानी के हाथ पर बंधा पत्र लाओ। उसे पढ़ो। उसमें लिखा था—रानी को पुत्र हो तो आनन्दघनजी को क्या ? पुत्र न हो तो आनन्दघनजी को क्या ? यह न कोई यंत्र था और न मंत्र।

चरित्र और संकल्प

जब व्यक्ति का चरित्र शुद्ध होता है तब उसका संकल्प अपने आप फलित होता है। चरित्र की शुद्धि के आधार पर संकल्प की क्षमता जागती है। जिसका संकल्प बल जाग जाता है उसकी कोई भी कामना अधूरी नहीं रहती।

संकल्प लेश्याओं को प्रभावित करते हैं। लेश्या का बहुत बड़ा सूत्र है—चरित्र। तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या—ये तीन उज्ज्वल लेश्याएं हैं। इनके रंग चमकीले होते हैं। कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या—ये तीन अशुद्ध लेश्याएं हैं। इनके रंग अंधकार के रंग होते हैं। वे विकृतभाव पैदा करते हैं। वे रंग हमारे आभामंडल को धूमिल बनाते हैं। चमकते रंग आभामंडल में निर्मलता और उज्ज्वलता लाते हैं। वे आभामंडल की क्षमता बढ़ाते हैं। उनकी जो विद्युत्-चुम्बकीय रश्मियां हैं वे बहुत शक्तिशाली बन जाती हैं।

हम लेश्या-ध्यान का प्रयोग करते हैं। जब हम दर्शन केन्द्र पर बाल सूर्य के अरुण रंग का ध्यान करते हैं और वह रंग जब प्रकट होता है तब करने वाले को ज्ञात होता है कि उसमें कितना आनन्द जाग रहा है। जिस व्यक्ति ने तेजोलेश्या का प्रयोग नहीं किया, ध्यान नहीं किया, वह व्यक्ति इस स्थूल शरीर से परे भी कोई आनन्द होता है, इन विषयों से परे भी कोई सुखानुभूति है, नहीं समझ पाता, कल्पना भी नहीं कर पाता।

आंसू क्यों ?

जैन विश्व भारती के प्रांगण में प्रेक्षा ध्यान का शिविर था। वह सम्पन्न हुआ। अन्तिम दिन पति-पत्नी मेरे पास आए। वे रोने लगे। मैंने पूछा—क्यों ? उन्होंने कहा—जाना पड़ रहा है, पर जाने को जी नहीं करता क्योंकि जिस सुख का अनुभव यहां हुआ, वह जीवन में कभी नहीं हुआ था। हमने दर्शन-केन्द्र पर बाल-सूर्य के लाल रंग का ध्यान किया। ऐसा तेज प्रकाश जागा कि आज तक हमने वैसा रंग नहीं देखा। उससे जो आनन्दानुभूति हुई वह अनिर्वचनीय है। आज जा रहे हैं, बड़ा दुःख हो रहा है। इसीलिए आंखों में ये आंसू आ गए।

सुख के निमित्त : विद्युत् प्रकंपन

जब तक वे प्रयोग से नहीं गुजरे थे, तब तक उन्हें यह ज्ञात ही नहीं था कि

ऐसा अनिर्वचनीय सुख भी हो सकता है। आश्चर्य होगा, प्रश्न भी होगा कि न कुछ खाया, न सूंघा, न सुना, न देखा और न स्पर्श किया। फिर कैसा सुख? कहां से मिला? बहुत बार आदमी भ्रान्ति में उलझ जाता है। क्या खाने से, सुनने और सूंघने से, स्पर्श करने और देखने से सुख मिलता है? इस भ्रान्ति को तोड़ें। पदार्थों में सुख नहीं है। हमारे भीतर एक विद्युत्-धारा है। वह सुख का निमित्त बनती है। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि विद्युत् के प्रकंपनों के बिना कोई सुख का संवेदन नहीं हो सकता। जो सुख, इन्द्रिय-विषयों के उपभोग से उपलब्ध किया जाता है, वही सुख इन्द्रिय-विषयों के बिना कल्पना से भी किया जाता है और वही सुख केवल विद्युत् के प्रकंपन पैदा करके भी किया जा सकता है। कान के बिन्दु पर या स्वाद के बिन्दु पर इलेक्ट्रोड लगाकर प्रकंपन पैदा किए जाएं, तो पदार्थ के बिना भी उनके उपभोग की-सी सुख-संवेदना का अनुभव होता है। वस्तु के संयोग से जो प्रतिक्रियाएं पैदा होती हैं, वे प्रतिक्रियाएं वस्तु के बिना भी विद्युत् के प्रकंपनों से पैदा की जा सकती हैं। इसलिए यह तथ्य प्रमाणित हो गया कि सुख का संवेदन विद्युत् प्रकंपन-सापेक्ष है।

जब तेजोलेश्या जागती है तब विद्युत् के प्रकंपन बहुत बढ़ जाते हैं, तीव्रतम हो जाते हैं। प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाले को इलेक्ट्रोड लगाने की जरूरत नहीं है। जब वह तेजोलेश्या का ध्यान करता है, बाल सूर्य की रश्मियां साकार होती हैं, विद्युत् के प्रकंपन तीव्र होते हैं तब इतने सुख का अनुभव होता है कि व्यक्ति उसे छोड़ना नहीं चाहता। इन्द्रिय विषयों को भोगने के बाद कठिनाइयां भी पैदा होती हैं, कभी शक्तिहीनता का अनुभव होता है और कभी संताप का। नानाप्रकार की प्रतिक्रियाएं होती है। किन्तु तैजस शरीर की जो प्रतिक्रियाएं हैं, बायोइलेक्ट्रीसिटी के द्वारा जो प्रकंपन पैदा होते हैं, वे केवल सुखद होते हैं। वे अपने पीछे दुःखद परिणाम नहीं छोड़ते। जिस व्यक्ति ने इस सचाई का अनुभव नहीं किया वह इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता कि पदार्थों को भोगे बिना भी अपूर्व सुख का अनुभव हो सकता है।

जब पद्म-लेश्या के स्पंदन जागते हैं, पीले रंग के परमाणुओं के प्रकंपन पैदा होते हैं तब व्यक्ति को अनिर्वचनीय निर्मलता प्राप्त होती है। उसमें प्रज्ञा की निर्मलता, बुद्धि की निर्मलता और ज्ञान-तंतुओं की निर्मलता इतनी तीव्र होती है कि वह हजारों ग्रन्थों के अध्ययन से भी उपलब्ध नहीं होती। गहराई में जाने की ऐसी दृष्टि मिल जाती है कि आदमी समस्या को तत्काल सुलझाने में सक्षम हो जाता है।

समस्या सुलझाने का प्रयोग

समस्या को सुलझाने का एक छोटा-सा प्रयोग करें। जब कभी समस्या आए,

शान्त होकर कायोत्सर्ग मुद्रा में वैठें। श्वास शांत, शरीर शांत, मांसपेशिया शिथिल, पूरा कायोत्सर्ग। दस मिनिट तक करें। मस्तिष्क में पीले रंग का ध्यान करें, पद्‌मलेश्या का ध्यान करें। अथवा दस मिनिट तक आंखें वंद कर आंखों पर पीले रंग का ध्यान करें। अथवा दस मिनिट तक आनन्द केन्द्र में अरुण रंग का ध्यान करें। ऐसा लगेगा कि समस्या विना सुलझाए सुलझ रही है। समाधान स्वतः कहीं से उतर कर सामने आ गया है।

शुक्ल लेश्या—

जब शुक्ल लेश्या के प्रकंपन तीव्र होते हैं तव अनिर्वचनीय शांति प्राप्त होती है। ऐसी शांति उतरती है कि मन में कोई संताप शेष नहीं रहता। सफेद रंग शांति का प्रतीक है। जब आभामंडल सफेद परमाणुओं से भर जाता है तब व्यक्ति प्रफुल्लित हो जाता है। मन में कोई विषाद नहीं रहता। कार्य का कितना ही भार हो, उसे कुछ लगता ही नहीं। उसे पर्वत-सी समस्या राई जैसी लगने लगती है।

व्यक्तित्व-रूपान्तरण के घटक

तेजोलेश्या, पद्‌मलेश्या और शुक्ललेश्या के प्रयोग, उनसे परिष्कृत होने वाला आभामंडल और उन आभामंडलों में आने वाले वे परमाणु—ये सारे हमारे व्यक्तित्व को नया निखार और नया रूप दे देते हैं।

लेश्या-ध्यान एक कसौटी है। सामाजिक जीवन में ध्यान करने वाले व्यक्ति की कसौटी होती है उसका व्यवहार और उसका चरित्र। ध्यान करता चला जाए और व्यवहार न बदले, चरित्र न वदले तो मानना चाहिए कि उसका ध्यान भी एक नशामात्र है। कोरा आनन्द मिलना, कोरी शांति मिलनी या तृप्ति मिलनी—यह ध्यान की परिपूर्णता नहीं है। ये तो प्रारंभिक बातें हैं। ध्यान की व्यावहारिक कसौटी होगी कि ध्यान करने वाले का जीवन बदले, उसका व्यवहार और चरित्र बदले। यदि यह होता है तो समझना चाहिए कि व्यक्ति को ध्यान उपलब्ध हो गया। ध्यान करने वाले व्यक्ति की आंतरिक कसौटी है—आभामंडल का परिष्कार। जिसका आभामंडल निर्मल हो गया, लेश्याएं विशुद्ध हो गई, भाव-धारा शुद्ध हो गई तो समझा जा सकता है कि व्यक्ति ध्यान करता है। इसीलिए प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति में एक कसौटी के रूप में और आने वाले अवरोधों को समाप्त करने के लिए लेश्या-ध्यान का वहुत वड़ा महत्त्व है।

२६. चैतन्य का अनुभव

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च, योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते, भवन्त्येकार्थ वाचकाः ।।

अध्यात्म की दो पद्धतियां—

१. आज्ञा-विचय—विचारध्यान
   - पहले आगम द्वारा अपने आप में आत्म-संस्कार को आरोपित करें। उस संस्कारित आत्मा में एकाग्रता कर कुछ भी चिंतन न करें।
   - मानसिक प्रक्षेपण की पद्धति।

२. निर्विचार ध्यान।

३. रेचन—एकमात्र उपाय।

४. खाली करने की कला।

५. निर्विकल्प चेतना के आलंबन—
   क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव।

६. रोग का कारण कुपथ्य ही नहीं, विचार और आचार भी।

७. निर्विचार की निष्पत्तियां।

उनतीस

प्रेक्षा-ध्यान : अप्रयत्न का प्रयत्न

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयत्न अप्रयत्न का प्रयत्न है, अनायास का आयास है। यह क्यों ?

यह प्रश्न सहज है। प्रेक्षा-ध्यान में श्वास की प्रेक्षा करते हैं, शरीर और चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा करते हैं, रंगों का ध्यान करते हैं—यह सब क्यों ? श्वास भी नश्वर है, शरीर भी नश्वर है, चैतन्य-केन्द्र भी नश्वर हैं और ये सारे रंग भी नश्वर हैं। क्या इन नश्वर तत्त्वों की उपलब्धि के लिए ही इतना बड़ा समारंभ, इतना बड़ा प्रयत्न और इतना बड़ा आयास किया जा रहा है ? इतना समय और शक्ति का दान क्या इन्हीं की उपलब्धि के लिए दिया जा रहा है ? यह तो वैसा ही एक तुच्छ प्रयत्न होगा, जैसे पहाड़ को खोदा और निकली एक चुहिया। यह आयास बुद्धि-संगत नहीं लगता।

प्रेक्षा-ध्यान एक प्रयत्न है, समारंभ है, आयास है। किन्तु यह अप्रयत्न के लिए प्रयत्न है, अनायास के लिए आयास है, सहज के लिए थोड़ा असहज भी है। हमारा ध्येय है अनाकार तक पहुंचना। विज्ञान नहीं मानता कि इस दुनिया में कोई भी पदार्थ अनाकार है। हमारा उद्देश्य है चेतना तक पहुंचना। चेतना को सब स्वीकार करते हैं। कोई भी दर्शन ऐसा नहीं है जो चेतन-तत्त्व को स्वीकार न करता हो। इस स्वीकृति में मतभेद अवश्य है। कुछ मानते हैं कि चेतन तत्त्व है, पर जब तक यह जीवन है तब तक चेतन का अस्तित्व है, जीवन समाप्त चेतन भी समाप्त। यदि जीवन के साथ-साथ चेतन भी समाप्त होने वाला है तो उसके साक्षात्कार के लिए इतना प्रयत्न क्यों ? नश्वरता की दृष्टि से शरीर और चेतन में अन्तर ही क्या रहा ? शरीर भी एक दिन नष्ट होगा और चेतन भी एक दिन नष्ट हो जाएगा। दोनों में कोई अंतर नहीं है। जिन लोगों ने चेतन-तत्त्व के विषय में यह धारणा बनाकर मान लिया कि श्वास नश्वर है, शरीर नश्वर है, चैतन्य-केन्द्र नश्वर है और रंग नश्वर हैं, उन लोगों ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को विस्मृत कर दिया कि इन नश्वर

तत्त्वों के पीछे एक अनश्वर तत्त्व भी है। इन सबके नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता। उसी को जानने के लिए यह महान् प्रयत्न किया जाता है। उसे जानने की भावना ही आत्म-जिज्ञासा है। यह मनुष्य की अनादिकालीन जिज्ञासा है। वह चिरकाल से आत्मा को जानने का प्रयत्न करता रहा है, आत्मा के साक्षात्कार का आयास करता रहा है। आत्म-जिज्ञासा एक बलवती जिज्ञासा है, अदम्य जिज्ञासा है। न जाने आत्मा को नकारने के कितने-कितने प्रयत्न हुए, कितने ग्रन्थ लिखे गए, नास्तिकता का पुरजोर प्रचार किया गया और यह प्रतिपादित किया गया कि जीवन से परे कुछ नहीं है, फिर भी मनुष्य में आत्म-ज्ञान की जिज्ञासा, आत्म-साक्षात्कार की भावना कभी विनष्ट नहीं हुई। उसकी यह प्रबल भावना सदा जलती रही है और आज भी वह प्रज्ज्वलित है।

प्रेक्षा-ध्यान और समाधि का सारा समारंभ उस आत्म-साक्षात्कार के लिए, चेतन तत्त्व की उपलब्धि के लिए और अनश्वर तथा अनाकार की आराधना के लिए है।

प्रश्न है—क्या आत्मा को देखा-जाना जा सकता है ? क्या चैतन्य का अनुभव किया जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर वही पा सकता है जो स्वयं प्रयोग करता है।

आत्म-साक्षात्कार की दो प्रक्रियाएं

आत्म-साक्षात्कार की दो पद्धतियां हैं। एक है—सविचार-ध्यान और दूसरी है—निर्विचार-ध्यान। ध्यान का अभ्यास करने वाला स्थूल से प्रारंभ करता है और सूक्ष्म तक पहुंचता है। प्रारंभ में ही सूक्ष्म तक कोई पहुंच जाए, यह कभी संभव नहीं है। साधक प्रारंभ स्थूल से करेगा और सूक्ष्म तक पहुंच जाएगा। हम आत्मा को मानते हैं, जानते नहीं। हम शास्त्रों के आधार पर आत्मा को मानते हैं।

विचार-ध्यान : एक प्रक्रिया

हमें आत्मा का साक्षात्कार करना है। सबसे पहले हमें श्रुत का सहारा लेना होगा। आगम का सहारा लेना होगा। जिन्हें अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध हुआ, उन्होंने अपनी अनुभव की वाणी में जो बताया, उसका सहारा लेना होगा। सबसे पहले साधक अपने आपको इन संस्कारों से भावित करे—'आत्मा' है। वह चैतन्यमय, अनाकार, निर्लेप, शब्दातीत, रूपातीत, गंधातीत, रसातीत और स्पर्शातीत है। वह केवल चैतन्यमय है। सारा चैतन्य ही चैतन्य है। वह एक सूर्य है, ज्योति है, प्रकाशपुंज है। वहां कोई अंधकार नहीं है, कोई तमस् नहीं है। इस भावना से साधक अपने मन को भावित करे। वह यह आरोपण करे—मैं अनाकार हूं। मैं निरंजन हूं। मैं पदार्थ और पुद्गल से परे हूं। मैं अमूर्त्त हूं। मैं चेतनामय, आनन्द-

मय और शक्तिमय हूं। मैं शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श से परे हूं। इस भावना से चित्त को भावित कर साधक अपने स्वरूप का ध्यान करता है। वह प्रारंभ करता है श्रुत से, विकल्प से, किन्तु आत्म-स्वरूप से चित्त को भावित कर ऐसा करता है। वह स्वरूप में तन्मय बन जाता है, एकाग्र हो जाता है, विचारों को छोड़ देता है। यह आत्म-साक्षात्कार की, विचार-ध्यान की एक पद्धति है। विचार-ध्यान के द्वारा आत्मा का अनुभव किया जा सकता है। जब तल्लीनता और एकाग्रता बढ़ती है तब जिस स्वरूप की कल्पना की थी वह स्वरूप साक्षात् होने लगता है। द्रष्टा, ध्याता ध्यान में बैठा है। आभास होता है, जैसे सामने ही आत्मा स्थित है या भीतर वैसी ही आत्मा सक्रिय हो रही है। प्रत्यक्षत: साक्षात्कार हो जाता है। इस ध्यान को आज्ञा-विचय-ध्यान कहा जाता है। हमने स्थूल का आलंबन लिया, स्थूल का विचार किया, वह स्थूल हट गया और सूक्ष्म सामने प्रस्तुत हो गया। चित्त सूक्ष्म हुआ, चेतना सूक्ष्म हुई, चेतना की कुशाग्रीयता बढ़ी और तद्रूप आत्मा का आभास हो गया। यह एक अतीन्द्रिय तत्त्वों के साथ संपर्क स्थापित करने की पद्धति है, सूक्ष्म तत्त्वों को जानने की एक प्रक्रिया है।

मानसिक प्रक्षेपण

जब सूक्ष्म सत्य जानने होते हैं तब सबसे पहले कायोत्सर्ग करना होता है। शरीर को शिथिल कर, सर्वथा शून्य कर, पूर्ण रिक्त करना होता है। कोई तनाव न रहे। न शरीर का तनाव रहे और न मन का तनाव रहे। कोई अवरोध न रहे। ऐसी स्थिति में अवस्थित होकर जब सूक्ष्म-तत्त्व का ध्यान किया जाता है तब वह तत्त्व शरीर में प्रविष्ट होकर सक्रिय बन जाता है। जैसे ही ध्यान सघन होता है, एकाग्रता बढ़ती है तब साधक उस तत्त्व के साथ तन्मय और तद्रूप बन जाता है। यह तन्मय बनने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के आधार पर शक्ति और स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है।

शरीर को सर्वथा शून्य बनाकर आरोग्य का ध्यान करते ही समरसी भाव पैदा होता है। उस समय एकरसता और समाधि की स्थिति उपलब्ध होती है और तब वहीं आरोग्य का परिणमन होने लग जाता है।

कुछेक वैज्ञानिकों ने परीक्षण के लिए वनस्पति के साथ तादात्म्य स्थापित किया। उनका तादात्म्य इतना गहरा था कि पौधों में जो संवेदन होता, वे उसे पकड़ लेते। संवेदन का तार ऐसा जुड़ा कि पौधों में जो प्रतिक्रियाएं होतीं वे प्रतिक्रियाएं स्वयं में होने लग जातीं और जो प्रतिक्रियाएं स्वयं में होतीं वे प्रतिक्रियाएं पौधों में होने लग जातीं। यह शून्यीकरण की प्रक्रिया है। इससे आरोपण हो सकता है। यह मनोविज्ञान का विषय है, आत्मा की वस्तुस्थिति नहीं है। इस पद्धति से आत्मा की सचाई को नहीं जाना जा सकता। यह आरोपण है। यह एक

मानसिक प्रक्रिया है, मानसिक प्रक्षेपण है। जिस प्रकार की मानसिक कल्पना व्यक्ति करता है, एकाग्रता के कारण वह कल्पना प्रकट होते-होते सामने आ जाएगी। यह मात्र मानसिक प्रक्रिया है। इससे आत्मा का कोई पता नहीं चल सकता।

जिस व्यक्ति के चित्त में अपने इष्ट के प्रति श्रद्धा और समर्पण भाव है, ध्यान करते-करते वही इष्ट उसी रूप में उसके सामने प्रस्तुत हो जाता है। जिस इष्ट का जिस रूप में ध्यान करेंगे, चित्त को एकाग्र करेंगे और जब वह एकाग्रता एक निश्चित बिन्दु पर पहुंचेगी तब वह प्रतिमूर्ति साकार होकर सामने प्रस्तुत हो जाएगी। मनोविज्ञान की भाषा में यह मानसिक प्रक्षेपण है। इससे यह पता नहीं चलता कि हमें अपने इष्ट का साक्षात्कार हुआ है।

बहुत लोग यह कहते हैं—हमें परमात्मा या गुरु का साक्षात्कार हो गया, हमें अमुक देवी या अमुक देवता का साक्षात्कार हो गया। वह उनका साक्षात्कार नहीं है, वह उन लोगों का ही मानसिक प्रक्षेपण है। हम स्वयं मन में एक कल्पना कर लेते हैं, एक आकार बना लेते हैं। वह आकार पुष्ट होते-होते एक दिन साकार हो जाता है और कभी-कभी वह हमसे बात भी कर लेता है। वह निर्देश देने और पथ-प्रदर्शन करने भी लग जाता है। यह कुछ देने भी लग जाता है। यह सारा है मानसिक प्रक्षेपण, मानसिक आरोपण। यह हमारे ही मन की प्रतिक्रिया है।

इस पद्धति का आलम्बन इसलिए लिया जाता है कि व्यक्ति में श्रद्धा और आस्था का निर्माण हो, उसमें सूक्ष्म सत्यों को जानने की तीव्र अभीप्सा जाग जाए। यह स्थूल से सूक्ष्म को जानने की प्रक्रिया है, किन्तु आत्मा जैसे अतिसूक्ष्म या परम-सूक्ष्म को जानने की प्रक्रिया नहीं है। यह अंतिम प्रक्रिया या समाधान नहीं है।

निर्विचार-ध्यान

आत्म-साक्षात्कार की दूसरी प्रक्रिया है—निर्विचार ध्यान, निर्विचार समाधि। जब समाधि विकल्पशून्य, चिन्तनशून्य होती है, जिसमें केवल चैतन्य का अनुभव मात्र होता है, वह है निर्विचार समाधि। निर्विचार अवस्था में न चिन्तन होता है, न कल्पना होती है और न स्मृति होती है। न शब्द का आलंबन, न रूप का आलंबन। पदस्थ ध्यान भी नहीं, रूपस्थ ध्यान भी नहीं, पिंडस्थ ध्यान भी नहीं। तीनों ध्यान नहीं होते। सब छूट जाते हैं। केवल निर्विकल्प और निर्विचार अवस्था, अमन अवस्था होती है। मन समाप्त हो जाता है। उस स्थिति में शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है। उसी स्थिति में आत्मा का साक्षात्कार घटित होता है। **से न रूवे, न सद्दे···अरूवी सत्ता।** वह न रूप है, न शब्द है···अरूपी सत्ता है। आत्मा अपद है। वह पद के द्वारा नहीं जाना जा सकता—**अपयस्स पयं णत्थि।**

शब्दातीत को शब्द से कैसे ?

अनेक लोग आत्मा को जानने के लिए तर्क का प्रयोग करते हैं, बुद्धि का व्यायाम करते हैं। कैसे जानेंगे ? अपद को पद के द्वारा नहीं जाना जा सकता। जिसका शब्द के साथ कोई संबंध ही नहीं है उसे शब्द के द्वारा कैसे जाना जा सकता है। जो विकल्पातीत है उसे विकल्प के द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो विचारातीत है वह विचारों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। **सव्वे सरा णियट्टंति**—स्वर जाते हैं किन्तु बीच से ही लौट आते हैं। वहां तक पहुंच ही नहीं पाते। **'तक्का जत्थ न विज्जइ'**—तर्क वहां है ही नहीं। आत्मा की सिद्धि के लिए अनेक तर्क दिए गए हैं। मध्यकाल में तर्कों का विकास हुआ और तर्कशास्त्र के अनेक ग्रन्थ लिखे गए। उन पंडितों ने आत्मा की सिद्धि के लिए प्रबल तर्क दिए। मैं मानता हूं कि वे सारे तर्क अनुभवशून्य हैं। केवल बौद्धिक व्यायाममात्र हैं। वे आत्मा तक नहीं पहुंचाते। आत्मा के खंडन में भी उतने ही तर्क हैं जितने तर्क आत्मा के मंडन में हैं। खंडन करने वाला भी नहीं जानता कि आत्मा नहीं है और मंडन करने वाला भी नहीं जानता कि आत्मा है। वादी और प्रतिवादी—दोनों अनुभवशून्य हैं। दोनों इस ज्ञान से शून्य हैं। आत्मा को जानता कोई नहीं। आस्तिक भी नहीं जानता और नास्तिक भी नहीं जानता। दोनों केवल मानते हैं।

तर्क से आत्मा के अस्तित्व का खंडन भी किया जा सकता है और तर्क से आत्मा का मंडन भी किया जा सकता है। तर्क कहीं नहीं पहुंचाता। वह उलझाता है। यह तर्क का एक खेल है। एक पक्ष आत्मा को सिद्ध कर रहा है। दूसरा पक्ष उसके अस्तित्व को नकार रहा है। किन्तु दोनों नहीं जानते कि वास्तविकता क्या है ? जब तक हम तर्कातीत, शब्दातीत और विकल्पातीत नहीं होते तब तक आत्मा को उपलब्ध नहीं कर सकते। उसको उपलब्ध करने का एकमात्र उपाय है—निर्विकल्प-चेतना का निर्माण। इसे साम्य-चेतना, स्वस्थ-चेतना, समाधि-चेतना, शुद्धोपयोग-चेतना कहा जा सकता है। यही चित्त-निरोध की चेतना है। जिस तत्त्व को चित्त का निरोध करके जानना होता है उसे हम बुद्धि के व्यापार से, चित्त के व्यापार से जानना चाहें, यह कभी संभव नहीं है। जिस तत्त्व को आंखें बन्द कर जानना होता है उसे हम आंखें फाड़-फाड़कर जानना चाहते हैं। जिस तत्त्व को कान बंद कर जानना होता है उसे हम शब्दों को सुन-सुनकर जानना चाहते हैं। यह कभी संभव नहीं है। इन्द्रियातीत चेतना, बुद्धि से परे की चेतना, मनसातीत चेतना होती है तब आत्मा की सीमा में प्रवेश किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

रेचन : एकमात्र उपाय

दूसरे शब्दों में चैतन्य के अनुभव का एकमात्र उपाय है—रेचन, खाली करना। बुद्धि को, चित्त को और मन को पूर्ण खाली करें, समाप्त करें, विलीन करें। इन्द्रियों को खाली करें। खाली करने पर ज्ञात होता है कि यथार्थ क्या है ?

खाली में भगवान होता है

एक संन्यासी एक दूकान पर गया। दुकानदार से पूछा—इस डिब्बे में क्या है ? दुकानदार ने कहा—आटा है। इसमें क्या है ? दाल है। इसमें क्या है ? घी है। पूछता रहा। दुकानदार बताता रहा। अन्त में एक डिब्बा बचा। संन्यासी ने पूछा—इसमें क्या है ? उसने कहा—यह खाली है। इसमें कुछ भी नहीं है। संन्यासी उछल पड़ा, उसने कहा डिब्बे में कुछ नहीं। इसका अर्थ है इसमें भगवान् हैं। दुकानदार ने कहा महाराज ! यह खाली है। इसमें भगवान् कैसे ? संन्यासी बोला—जिसमें और कुछ नहीं होता, खाली होता है, उसमें भगवान् होते हैं।

संन्यासी ने बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन किया कि जो रिक्त है उसी में भगवान् का निवास है। रिक्त मन में, रिक्त चित्त में और रिक्त इन्द्रियों में सचमुच भगवान् रहता है, अपना प्रभु होता है, अपनी आत्मा होती है।

लोग भरे हुए का मूल्य समझते हैं, खाली का मूल्य नहीं समझते। भरा हुआ बहुत सताता है।

नौका नदी पार कर रही थी। अनेक व्यक्ति उसमें थे। भार अधिक हो गया। नौका डगमगाने लगी। नाविक ने कहा—नौका डूब जाएगी। यदि सबको बचना है तो स्वयं को सुरक्षित रखते हुए अपना सारा सामान नदी में बहा दो। अन्यथा सामान के साथ-साथ प्राण भी जाएंगे। सबने अपने जीवन की सुरक्षा को महत्त्व देते हुए सामान नदी में डाल दिया। एक बनिए के पास तीन खाली डिब्बे और एक रुपयों से भरा डिब्बा था। उसने खाली डिब्बे पानी में डाल दिए। नाविक ने कहा—इस वजनी डिब्बे को डाल दो। बनिए ने रुपयों को ऐसे व्यर्थ बहाना उचित नहीं समझा। वह डिब्बे को साथ ले नदी में कूद पड़ा। नौका हल्की हो गई। पर वह बनिया उस डिब्बे के भार से दबकर डूब गया। यदि वह खाली डिब्बे के साथ कूदता तो सम्भव है बच जाता, पर भरे हुए डिब्बे ने उसे डुबो दिया।

लोगों का भरे हुए पर अधिक विश्वास है, खाली पर नहीं। काम में लगे रहते हैं तो समझते हैं भरे हुए हैं, समय का उपयोग हो रहा है। जब खाली होते हैं तब समझते हैं, आज तो समय व्यर्थ ही खो रहे हैं। लोग खाली रहना नहीं जानते और खाली रहने के समय का उपयोग करना भी नहीं जानते। आदमी खाली कहां रह पाता है। जब उसके पास कोई काम नहीं होता, तब भी वह खाली

नहीं है। उसके मन का चक्का इतनी तीव्र गति से घूमता है कि दुनिया की सारी स्मृतियां उस समय उभर आती हैं। मस्तिष्क विचारों से, संकल्प-विकल्पों से भर जाता है। कहां है खाली वह आदमी ? उसका दिमाग भरा ही रहता है।

बहुत बड़ा कवि था—इमरसन। वह घूमने निकला। अकस्मात् वर्षा आ गई। उसके पास अपनी कविताओं की एक पांडुलिपि थी। भीगने के डर से उसने उस पांडुलिपि को एक दुकानदार के पास रख दी। इमरसन चला गया। दुकानदार ने देखा—कुछ पन्ने भरे हुए हैं, कुछ खाली हैं। वह भरे हुए पन्नों में वस्तुएं लपेट कर ग्राहकों को देता रहा। कुछ समय पश्चात् वर्षा रुकी, इमरसन आया। पांडुलिपि मांगी। दुकानदार ने कहा—'माफ करना, कुछेक भरे पन्नों का मैंने उपयोग कर लिया है। खाली पन्ने ज्यों के त्यों हैं। भरे काम के नहीं थे। खाली लिखने के काम आ सकते हैं।' यह सुनते ही इमरसन का माथा ठनका। उसकी सद्यः लिखित महत्त्वपूर्ण कविताओं के पन्ने निकल चुके थे। शेष बचे थे केवल कोरे कागज।

अध्यात्म है खाली होने की प्रक्रिया

संभव है इमरसन ने भी ध्यान नहीं दिया होगा और दुकानदार ने भी ध्यान नहीं दिया होगा कि व्यवहार की दुनिया में खाली का मूल्य नहीं होता, भरे का मूल्य होता है। खाली पन्ने का क्या मूल्य हो सकता है व्यवहार की दुनिया में और खाली डिब्बे का क्या मूल्य हो सकता है व्यवहार की दुनिया में ? इसी प्रकार खाली चित्त और खाली मन का भी क्या मूल्य हो सकता है व्यवहार की दुनिया में ? व्यवहार में जीने वाले यही चाहते हैं कि ये सब सदा भरे ही रहें, कभी खाली न हों। जब अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है तब भरे का क्या मूल्य है और खाली का क्या मूल्य है, स्पष्ट हो जाता है। उस यात्रा में यह अनुभव होता है कि लिखा हुआ कागज चला गया, अच्छा हुआ। भरा हुआ डिब्बा चला गया तो अच्छा हुआ। भरा हुआ मन, भरी हुई बुद्धि, भरा हुआ चित्त खाली हो गया तो अच्छा हुआ। वहां खाली होना ही श्रेयस्कर माना जाता है। जब खाली होने की प्रक्रिया प्रारंभ होती है तब उस क्षण में जो अनुभव होता है, वही वास्तव में चैतन्य का अनुभव है। चैतन्य के अनुभव का वही क्षण है जिस क्षण में हमारा चित्त खाली हो गया होता है। उस क्षण में न श्वास-प्रेक्षा, न शरीर-प्रेक्षा, न चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा और कोई भी प्रेक्षा की जरूरत नहीं होती। न रंगो का ध्यान, न लेश्या-ध्यान, न केन्द्र-ध्यान, कुछ भी आवश्यक नहीं होता। फिर लेश्यातीत स्थिति प्राप्त हो जाती है।

इस संदर्भ में एक प्रश्न आता है कि जिन क्रियाओं की जरूरत नहीं है, उन्हें हम करते ही क्यों हैं ? जिन्हें छोड़ना है, उन्हें क्यों करते जा रहे हैं ? प्रश्न स्वाभाविक है। इस संसार का स्वभाव ही ऐसा है कि जिसे छोड़ना होता है, उसे पहले

करना होता है। नदी को पार कर नौका को छोड़ना पड़ता है। किन्तु जब तक नदी का किनारा न आ जाए तब तक नौका पर चलना होता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। जब तक निर्विकल्प चेतना न जाग जाए तब तक अध्ययन, पुनरावर्तन, जिज्ञासा, अनुप्रेक्षा—ये सब करने पड़ते हैं। विचार ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। जब विचार ध्यान की सीमा समाप्त होती है और निर्विचार ध्यान की सीमा में प्रवेश करते हैं, निर्विचार चेतना में जाते हैं, केवल आत्म-ध्यान की भूमिका में जाते हैं तब अध्ययन, अनुप्रेक्षा आदि छूट जाते हैं। कोई आवश्यकता नहीं रहती। सब समाप्त हो जाते हैं। वहां फिर आलंबन बनते हैं—क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव।

निर्विकल्प-चेतना के आलंबन

निर्विकल्प-चेतना का पहला आलंबन बनता है—क्षान्ति। इसका अर्थ है—क्रोध-मुक्ति। क्रोध के पर्याय नष्ट होते हैं और क्रोध-मुक्ति की भावना जाग जाती है। वह उस चेतना का आलंबन बन जाता है। आत्म ध्यान से क्रोध नष्ट होता है, क्रोध को देखने से क्रोध नष्ट होता है। क्रोध आता है। श्वास रोका, क्रोध नष्ट हो गया। अच्छा विचार उभरा, क्रोध शांत हो गया। यह क्रोध का उपशमन है। इसे कुछ लोग दमन भी कहते हैं। दमन और उपशमन एक ही बात है। क्रोध भी एक विकल्प है। दूसरा विकल्प आते ही क्रोध शांत हो जाता है। एक विकल्प के द्वारा दूसरे विकल्प को परास्त कर दिया। एक शक्तिशाली हाथी ने दूसरे मदोन्मत्त हाथी को परास्त कर दिया। एक सांड ने दूसरे सांड पर विजय पा ली। इतना ही हुआ। वह मिटा नहीं, नष्ट नहीं हुआ। परास्त होने वाला निमित्त पाकर पुनः फुफकार सकता है। उपशान्त किया हुआ क्रोध न जाने कब पुनः सक्रिय होकर सताने लग जाए। विकल्प के द्वारा विकल्प का उपशमन– यह दमन की प्रक्रिया है। यह क्षय की प्रक्रिया नहीं है। उस विकल्प को क्षीण करने की प्रक्रिया है—निर्विकल्प चेतना का जागरण। निर्विकल्प चेतना जैसे-जैसे पुष्ट होती है, क्रोध का विकल्प अपने आप क्षीण होता जाता है। उपशांत नहीं, क्षीण हो जाता है।

जब निर्विकल्प चेतना शक्तिशाली होती है तब क्षमा स्वयं एक आलंबन बन जाती है।

मुक्ति का अर्थ है—निर्लोभता। लोभरहित चेतना एक आलंबन बनती है। अनुभव होने लगता है कि चेतना में लोभ का कोई पर्याय नहीं है। चेतना स्वयं एक आलोक है। लोभ चेतना का एक विकार है, अन्धकार है। उस विकार का साक्षात् होने लगता है। इसी प्रकार कपट की चेतना का साक्षात् होता है, ऋजुता की चेतना जाग जाती है। अहंकार के विकल्प का साक्षात् होता है, मृदुता की

चेतना जाग जाती है। साधक को यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि क्रोध चेतना का स्वभाव नहीं है, अहंकार और लोभ चेतना का स्वभाव नहीं है। माया और कपट चेतना का स्वभाव नहीं है। चेतना का स्वभाव है—क्षमा, ऋजुता, मृदुता, लघुता आदि। ये ही निर्विकल्प चेतना के आलंबन बनते हैं। इस चेतना के जागने पर सारे ग्रन्थ छूट जाते हैं, स्वाध्याय और अनुप्रेक्षाएं छूट जाती हैं। उनके केवल सूक्ष्म पर्याय बचते हैं, स्थूल पर्याय छूट जाते हैं। जब क्षमा, ऋजुता, मृदुता आदि चेतनाओं का साक्षात्कार होता है तब उनके नीचे छिपी हुई सूक्ष्म चेतना का भी साक्षात्कार होने लगता है। चित्त निर्मल होता है, स्वस्थ बनता है। अस्वस्थ चित्त से क्या-क्या नहीं हो जाता।

विचार और आचार भी रोग के कारण

आत्रेय आयुर्वेद के महान् आचार्य थे। अग्निवेश ने उनसे पूछा—'भगवन्! आपने कहा है कि रोगों का कारण है कुपथ्य। किन्तु कभी-कभी एक साथ इतने रोग फैलते हैं कि सारे गांव, नगर और पूरा जनपद ही नष्ट हो जाता है। क्या सबने एक साथ कुपथ्य कर लिया कि सबको एक साथ मरना पड़ा?'

आत्रेय ने कहा—'वत्स! केवल कुपथ्य ही रोगों का कारण नहीं है। मनुष्यों के विचार और आचरण भी रोगों के कारण बनते हैं। जब एक साथ कोई बुरा विचार फैलता है तब महामारी की स्थिति बन जाती है। जब एक साथ कोई बुरा आचरण होता है तब भयंकर बीमारी से सारा जनपद आक्रान्त हो जाता है। जब तक बुरा विचार और बुरा आचरण नहीं छूटता, तब तक बीमारी से छुटकारा नहीं मिलता, लोगों का स्वास्थ्य नहीं बनता।'

रोग का कारण केवल भोजन ही नहीं है, विचार और आचार भी उसके मुख्य कारण हैं। स्वास्थ्य की कामना करने वाले व्यक्ति को आहार से अधिक ध्यान विचार और आचार पर केन्द्रित करना पड़ता है। जब निर्विकल्प चेतना जागती है तब पता चलता है कि वास्तव में स्वास्थ्य क्या है? आज समाज के स्तर पर विषमता मिटाने और समता की स्थापना करने के अनेक प्रयत्न चलते हैं, किन्तु यथार्थ में समता क्या है, विषमता क्या है इसका ज्ञान निर्विकल्प चेतना के जागने पर ही हो सकता है। निर्विकल्प चेतना का क्षण वास्तव में साधना की परम उपलब्धि का क्षण है।

निर्विचार का संसार : निष्पत्तियां

हमारे सारे प्रयत्न आरंभिक हैं। हम अभी यह न मानें कि रंगों का स्पन्दन या श्वास के स्पन्दन पकड़ में आ गए, चैतन्य-केन्द्र और शरीर के स्पन्दन पकड़ में आ गए, हम ध्यान में सफल हो गए। यह तो अध्यात्म-यात्रा का प्रथम पड़ाव है।

हमें यहां रुकना नहीं है। बहुत आगे जाना है। गन्तव्य दूर है। हमें चलते रहना है। इस कंपन और स्पन्दन वाले शरीर में, इन्द्रिय-चेतना, मनस्थ चेतना और चित्त की चेतना वाले शरीर में एक ऐसा तत्त्व भी है जो इन स्पन्दनों से परे है, इन चेतनाओं से परे है। उसका साक्षात्कार हमें इष्ट है। जितने क्षण हम निर्विकल्प चेतना में रहेंगे, जितने क्षण हम शून्य में रहेंगे, उन क्षणों में आत्म-साक्षात्कार होगा। आत्म-साक्षात्कार की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है—निर्विकल्प चेतना का निर्माण।

अध्यात्म जगत् की यह एक महत्त्वपूर्ण देन है। भौतिक और व्यावहारिक जगत् में इसका कोई मूल्य नहीं है। इस सीमा पर पहुंचकर ही हम भौतिक जगत् और अध्यात्म जगत् के अन्तर को समझ सकते हैं।

अव्यथ चेतना

जिस दुनिया में निर्विचार और निर्विकल्प का महत्त्व है, सचमुच वह कोई दूसरे प्रकार की दुनिया है। यह काल्पनिक बात नहीं है। यह यथार्थ है। जब यह चेतना जागती है तब सारी असमाधियां दूर हो जाती हैं। सबसे पहला सुफल होता है—अव्यथ चेतना की जागृति। निर्विकल्प चेतना में जीने वाला व्यक्ति निर्व्यथ जीवन जीता है। उसकी चेतना में व्यथा नहीं होती। उसके सामने कितना ही प्रतिकूल वातावरण उपस्थित हो, भयंकर परिस्थितियां और समस्याएं हों, वह कभी व्यथित नहीं होता। उसका चित्त सदा अव्यथ रहता है। वह घटना को जानता है, पर व्यथित नहीं होता। उस पर घटना का कोई असर नहीं होता। जैसे सोये हुए व्यक्ति के सामने घटने वाली घटना का उस पर कोई असर नहीं होता वैसे ही निर्विकल्प चेतना में जीने वाले व्यक्ति पर घटनाओं का कोई असर नहीं होता। कोई भी घटना उसे क्षुब्ध नहीं कर पाती। वह घटना को जान लेता है, भोगता नहीं। वह केवल ज्ञाता रहता है, भोक्ता नहीं।

अमूढ़ चेतना

दूसरा सुफल यह होता है कि चेतना असम्मोह स्थिति में चली जाती है। उसमें फिर मूढ़ता पैदा नहीं होती। इस दुनिया में मूढ़ता पैदा करने वाले अनेक तत्त्व हैं। वह एक शब्द सुनता है, एक रूप देखता है और सम्मोहित हो जाता है। उसकी चेतना संमूढ़ बन जाती है। एक विचार सामने आता है और संमूढ़ बन जाता है। पग-पग पर संमूढ़ता के कारण बिखरे पड़े हैं। वह इनमें फंस जाता है। सारे सम्मोहन विकल्प चेतना में जागते रहते हैं। विकल्प उभरता है। साथ-साथ मूढ़ता उभरती है। निर्विकल्प चेतना के उपलब्ध होने पर चित्त मूढ़ नहीं बनता, सम्मोहन समाप्त हो जाते हैं।

पग-पग पर मूढ़ता है

वह अभी-अभी संन्यासी बना था। एक तालाव के पास सो रहा था। कुछ स्त्रियां पानी लेने तालाव पर आईं। उन्होंने संन्यासी को देखा। एक स्त्री वोली—देखो, संन्यासी हो गया तो क्या? अभी सिरहाने का मोह नहीं छूटा। कपड़े का तकिया नहीं मिला तो ईंट का तकिया बना दिया।

संन्यासी के कानों में ये शब्द पड़े। वह उन शब्दों से संमूढ़ हो गया। उसने तत्काल सिर के नीचे दी हुई ईंट निकाल दी। स्त्रियों ने यह देखा। एक स्त्री वोली—'अच्छे संन्यासी बने! थोड़ी-सी वात कही और डर गए। उन शब्दों के प्रभाव में आ गए। महाराज! आपने संन्यास ले लिया। घर-वार छोड़ दिया, पर लगता है अभी तक आपने चित्त नहीं छोड़ा। हम तो गृहस्थ हैं। यों ही कहते रहेंगे। हमारे कहे-कहे आप करते रहेंगे तो संन्यास का पालन ही नहीं कर पाएंगे। आप कभी ईंट निकालेंगे और कभी रखेंगे।'

कितनी मार्मिक है कथा! कोई व्यक्ति पग-पग पर मूढ़ बनता है तो दुनिया उसको टिकने नहीं देती। यह दुनिया अच्छे कार्य की भी आलोचना करती है और बुरे कार्य की भी आलोचना करती है। यदि कोई व्यक्ति शब्दों और विचारों के आधार पर संमूढ़ होता है तो उसे जीने का अधिकार ही प्राप्त नहीं होता। निर्विकल्प चेतना में संमूढ़ होने की स्थिति समाप्त हो जाती है।

विवेक-चेतना

तीसरा सुफल यह होता है कि उससे विवेक-चेतना जाग जाती है। विवेक-चेतना के जागने पर साधक में पार्थक्य-शक्ति विकसित हो जाती है। वह जान जाता है कि यह छाछ है और यह मक्खन। यह खली है और यह तेल। यह शरीर है और यह आत्मा। यह अचेतन है और यह चेतन। यह अशाश्वत है और यह शाश्वत। आत्मा और पुद्‌गल का स्पष्ट भेद उसे साक्षात् हो जाता है। यह विवेक चेतना बहुत बड़ी उपलब्धि है।

व्युत्सर्ग-चेतना

चौथा सुफल यह होता है कि जब विवेक-चेतना पुष्ट होती है तब व्युत्सर्ग की क्षमता बढ़ती है, त्याग और विसर्जन की शक्ति का विकास होता है। फिर छोड़ने में संकोच नहीं होता, चाहे शरीर को छोड़ना पड़े, इन्द्रिय-विषयों को छोड़ना पड़े, परिवार या धन को छोड़ना पड़े। उसमें छोड़ने की इतनी क्षमता बढ़ जाती है कि वह जब चाहे तव किसी को भी छोड़ सकता है। कोई मोह नहीं रहता।

व्युत्सर्ग की चेतना जागने पर साधक को स्पष्ट अनुभव हो जाता है कि मैं

चैतन्यमय हूं। यही मेरा अस्तित्व है। चैतन्य के अतिरिक्त जितना भी जुड़ा हुआ है वह विजातीय है, मेरा नहीं है। वह रहे या न रहे इससे मुझे क्या? समय पर सबको छोड़ दूंगा। व्युत्सर्ग-चेतना से त्याग की शक्ति प्रबल होती है।

समाधि-यात्रा और निष्पत्ति

समाधि का पहला बिन्दु है—केवल ज्ञान और केवल दर्शन—केवल जानना और केवल देखना। इस बिन्दु से हम समाधि की साधना प्रारंभ करते हैं। दूसरे शब्दों में, समाधि की यात्रा संवेदनशून्य ज्ञान और संवेदनशून्य दर्शन से होती है। हम प्रयत्न करते हैं कि हमारे कुछ क्षण ऐसे बीतें जिनमें हम केवल जानें, केवल देखें, कोई संवेदन साथ में न जुड़े। प्रियता और अप्रियता, राग और द्वेष—कोई विकल्प न रहे। यहां से समाधि की यात्रा शुरू होती है और वह आगे बढ़ती-बढ़ती निर्विकल्प चेतना तक पहुंच जाती है। यहां पहुंचने पर विचारों के विकल्प, पदार्थों के विकल्प, सब विकल्प शांत हो जाते हैं। मन का समुद्र शांत हो जाता है। उसमें विकल्प की कोई तरंग नहीं उठती। जिस चेतना में विकल्प की हल्की-सी तरंग भी नहीं उठती, वह है—निर्विकल्प चेतना। उस स्थिति तक पहुंच जाना ही हमारी साधना का उद्देश्य है। यही हमारा गन्तव्य है, यही हमारी मंजिल है। जैसे-जैसे चेतना का विकास होगा, जैसे-जैसे विकल्पों को कम करते हुए निर्विकल्प चेतना के क्षणों में जीने का अभ्यास होगा, वैसे-वैसे वह चेतना पुष्ट होगी और चेतना का वह अनन्त सागर एक दिन निस्तरंग और ऊर्मिविहीन बन जाएगा। उस स्थिति में, उस परम सत्य का साक्षात्कार होगा जिसके लिए हजारों-हजारों लोग सदा उत्सुक रहते हैं।

आत्मा का साक्षात्कार कैसे हो? परमात्मा का साक्षात्कार कैसे हो? परम सत्य का साक्षात्कार कैसे हो?—ये प्रश्न किसी शाब्दिक उत्तर के द्वारा समाहित नहीं होंगे। ये प्रश्न शब्दातीत चेतना के जागने पर ही समाहित हो सकेंगे।

अप्पाणं सरणं गच्छामि

शिविर ४

अणुव्रत विहार, नई दिल्ली

१५-५-७६ से २०-५-७६

३०. समस्या के मूल की खोज

१. समस्या के मूल की खोज।

२. मूल है—मनोवल की दुर्वलता।

३. मनुष्य परिस्थिति को झेलने में असमर्थ होता है तव टूट जाता है।

४. अनुप्रेक्षा है आंच, टॉनिक।

- कल्पना जगत् से निकल यथार्थ के जगत् में।
- स्वतन्त्रता।
- अपनी शक्तियों के प्रति जागरूकता।

५. समस्या क्या है ?

- शरीरशास्त्र और मनःशास्त्र की भाषा में—तनाव।
- कर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र की भाषा में—कर्म-विपाक।
- समाजशास्त्र की भाषा में परिस्थिति और वातावरण।
- अर्थशास्त्र की भाषा में—उत्पादन कम, खपत अधिक, आय कम, आवश्यकता अधिक।

६. वहुमुखी जीवन—वहुमुखी समस्याएं।

तीस

मूल की खोज

एक भाई ने मेरे पास आकर कहा—'मन को शान्त करना चाहता हूं। मन बहुत अशान्त है।' मैंने पूछा—क्या हुआ? उसने कहा—'अभी-अभी मेरी पत्नी का देहावसान हो गया। उसका वियोग मेरे मन में खटक रहा है। मन को समझाता हूं पर वह मानता ही नहीं।'

यह शिकायत एक की नहीं, सबकी है कि हम मन को समझाते हैं, पर वह मानता ही नहीं। मनुष्य ने इस सूत्र को पकड़ लिया कि मन मानता ही नहीं, समस्या कैसे सुलझे! यह बहुत बड़ा बहाना है। जो मानता है उसे हम मनवाना नहीं चाहते, और जो बेचारा नहीं मानता उसे हम मनवाना चाहते हैं। जिसे मनवाना चाहिए उस ओर हम ध्यान नहीं देते। यही हमारी सबसे बड़ी समस्या है। जब तक हम समस्या का मूल नहीं खोज लेते तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि समस्या मिटे, दुःख मिटे, सुख आए, सुलझाव आए। चाहता है, पर केवल चाह से कुछ भी नहीं मिल सकता। मनुष्य अनन्तकाल तक चाह करता रहे पर वह चाह कभी पूरी नहीं होती। जब तक चाह की पूर्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक चाह से कुछ नहीं बनता। चाह के अनुरूप मार्ग की खोज होनी चाहिए। सबसे पहले यह खोज होनी चाहिए कि समस्या का मूल क्या है? जब तक समस्या का मूल नहीं खोजा जाता तब तक समस्या का अंत नहीं हो सकता। एक समस्या को सुलझाते हैं तो दूसरी समस्या सामने आ खड़ी हो जाती है, क्योंकि मूल विद्यमान है। जब तक मूल (जड़) हरा-भरा है तो वसन्त भी आएगा और पतझड़ भी आएगा। इनको रोका नहीं जा सकता। नये पत्ते आते रहेंगे, पुराने पत्ते गिरते रहेंगे, उनका अन्त कभी नहीं होगा, क्योंकि जड़ हरी-भरी है। मूल बात है जड़ की, पत्ते की नहीं है। हम पत्ते का समाधान चाहते हैं। यह समाधान होता नहीं। समाधान के लिए जड़ तक पहुंचना जरूरी है।

समस्या का मूल है—मनोवल की दुर्वलता

आज की समस्या का मूल है—चित्त की दुर्वलता, मनोवल की कमी। जब मन की शक्ति कम होती है तब समस्याएं भयंकर वनती चली जाती हैं। जब मन की शक्ति दृढ़ होती है तब समस्याएं आती हैं पर लगता है कि कोई समस्या ही नहीं है। वहुत वड़ी समस्या भी छोटी हो जाती है। जब मन का वल टूट जाता है तब राई पहाड़ वन जाती है। समस्या को वड़ा-छोटा नहीं कहा जा सकता। कोई भी समस्या स्वयं में वड़ी नहीं है और कोई भी समस्या स्वयं में छोटी नहीं है। मनोवल अटूट है तो प्रत्येक समस्या छोटी है। मनोवल टूटा हुआ है तो प्रत्येक समस्या वड़ी है। समस्या का छोटा होना या वड़ा होना, भयंकर होना या सरल होना इस वात पर निर्भर है कि मनोवल कम है या अधिक। आदमी समस्या पर ध्यान अधिक केन्द्रित करता है, समस्या को सुलझाने का अधिक प्रयत्न करता है। जैसे-जैसे वह सुलझाने का प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे समस्या उलझती जाती है और इसलिए उलझती जाती है कि समस्या को सुलझाने की जो शक्ति है—इच्छा-शक्ति, एकाग्रता की शक्ति या संकल्प-शक्ति—वह वहां नहीं है। व्यक्ति न इच्छा-शक्ति को जगाने का अभ्यास करता है, न एकाग्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और न संकल्प-शक्ति को जगाने का प्रयत्न करता है। जब यह नहीं होता, भीतर से शक्ति का जागरण नहीं होता तब मनोवल नहीं वढ़ता और मनोवल के अभाव में समस्या का समाधान हो सके, यह संभव नहीं हो सकता। समस्या के समाधान के लिए शक्ति का संचय जरूरी है। जितनी शक्ति है उतनी यदि खर्च हो जाती है तो समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

शक्ति का संचय

पत्नी पढ़ी-लिखी थी। उसने पति से कहा—अव आय-व्यय का हिसाव मैं रखा करूंगी। उसने एक कॉपी ली। एक ओर आय का विभाग, एक ओर व्यय का विभाग। महीना पूरा हुआ। आय के विभाग में लिखा था—हजार रूपयों की आय। व्यय के विभाग में लिखा था—सव खर्च हो गए।

जितनी शक्ति का अर्जन होता है, उतनी शक्ति का खर्च हो जाए तो कोई अतिरिक्त कार्य नहीं किया जा सकता। अतिरिक्त कार्य के लिए संचय आवश्यक होता है। शरीर में शक्ति की जितनी आय होती है, यदि वह सारी खर्च हो जाती है तो केवल जीवन जीया जा सकता है, कोई अतिरिक्त कार्य नहीं किया जा सकता। अतिरिक्त कार्य या विकास के लिए शक्ति का संचय अपेक्षित होता है। यह शक्ति-संचय तभी संभव है जव हम तनाव-विसर्जन की प्रक्रिया को जानें। जो व्यक्ति इस तनाव-विसर्जन की प्रक्रिया को नहीं जानता वह शक्ति का अतिरिक्त

संचय नहीं कर पाता। जो शक्ति अर्जित होती है वह विसर्जित हो जाती है। शक्ति पैदा होती है पर तनाव उस शक्ति को क्षीण कर देता है। तब मनुष्य कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। उसके पास बड़ा काम संपन्न करने की शक्ति ही नहीं बचती। मनुष्य और पशु में यही तो अन्तर है कि पशु शक्ति का संचय नहीं कर सकता। शारीरिक शक्ति को भले ही वह कुछ संचित कर ले, पर मस्तिष्कीय शक्ति का संचय वह कर ही नहीं सकता। क्योंकि वह शक्ति-संचय की प्रक्रिया से अनभिज्ञ है। मनुष्य शक्ति-संचय की प्रक्रिया को जानता है। मनुष्य में चिन्तन की यह विशेषता है कि वह शक्ति के संचरण और संचय की पद्धति को जानता है।

शक्ति-जागरण का सूत्र

हमारे शरीर में एक तरल पदार्थ है जो मस्तिष्क से लेकर पूरे पृष्ठरज्जु तक फैला हुआ है। उसे 'सेरिगो स्पाइनल फ्लूइड' कहते हैं। इसका रंग भूरा है। यह शक्ति संचरण का माध्यम है। इसके माध्यम से मस्तिष्क से लेकर पूरे पृष्ठरज्जु तक शक्ति का संचार और विशिष्ट शक्तियों का जागरण होता है। यदि यह तरल पदार्थ न हो तो कोई बौद्धिक विकास या आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता, अतिरिक्त विकास संभव नहीं बन सकता। यह भूरे रंग का तरल पदार्थ बहुत शक्तिशाली पदार्थ है। आयुर्वेद में इसे मज्जा कहा जाता है। इसमें अद्भुत शक्तियां भरी पड़ी हैं। यदि इसे प्रभावित किया जा सके, इस पर ध्यान केन्द्रित किया जा सके तो न केवल बौद्धिक विकास ही किया जा सकता है, अपितु अतीन्द्रिय चेतना का जागरण भी किया जा सकता है। इसके माध्यम से मन की सूक्ष्मतम शक्तियों को खोला जा सकता है, शक्ति को बढ़ाया जा सकता है।

समस्या एक : मूल अनेक

आज सबसे बड़ी समस्या है—मन की दुर्बलता। मन इतना जल्दी टूट जाता है कि वह किसी भी परिस्थिति को झेल नहीं पाता। दो वाद हैं। एक है परिस्थितिवाद और दूसरा है चैतन्यवाद। समाजशास्त्री सारी समस्याओं का समाधान परिस्थिति में खोजते हैं। समाजशास्त्रीय भाषा में समस्या है—परिस्थिति। जब परिस्थिति उलझ जाती है तब वह समस्या बन जाती है। जब परिस्थिति सुलझ जाती है तब समस्या सुलझ जाती है। समाजशास्त्र समस्या का पूरा दायित्व परिस्थिति पर डालता है। इस प्रकार सारी समस्याओं के लिए परिस्थिति उत्तरदायी है।

मानसशास्त्री मानता है कि समस्या का मूल है तनाव। वह सारी समस्याओं के लिए तनाव को उत्तरदायी मानता है। फिजिकल टेन्सन—शारीरिक तनाव

और मेन्टल टेन्सन—मानसिक तनाव—ये समस्या को पैदा करते हैं। शरीर में दर्द तब होता है जब वह तनावग्रस्त होता है। जब शरीर के स्नायु-संस्थान में तनाव भर जाता है तब दर्द होता है, पीड़ा होती है। जब तनाव जम जाता है तब वह हमारे ऊर्जा-क्षेत्र को प्रभावित और क्षतिग्रस्त करता है।

चैतन्यवादी, अध्यात्मशास्त्री या कर्मशास्त्री समस्या के लिए उत्तरदायी मानता है—कर्म के विपाक को, संस्कारों को। कर्म का विपाक होता है, संस्कार जागते है तब समस्याएं पैदा होती हैं।

समस्या के प्रति ये अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। तनाव भी उनमें एक मुख्य दृष्टिकोण है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से आय कम और व्यय अधिक होता है तब एक प्रकार का तनाव पैदा हो जाता है, जिससे समस्या पैदा होती है। तनाव की जितनी भाषाएं हैं, व्याख्याएं हैं या जितने दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण हैं वे परस्पर विरोधी नहीं हैं, किन्तु वास्तविक हैं, सापेक्ष हैं। क्या जीविका एक समस्या नहीं है? क्या उससे तनाव पैदा नहीं होता? एक आदमी नौकरी पर है। सुख से जीवन-यापन कर रहा है। अचानक उसकी नौकरी छूट जाती है। क्या वह तनाव से ग्रस्त नहीं होगा? अवश्य ही वह तनाव से भर जाएगा। उसका सारा सुख एक सपना बन जाएगा। छूटी केवल नौकरी और वह घटना उसके मनोबल को मिटाने के लिए पर्याप्त है। वह व्यक्ति चिन्ता, विषाद और पीड़ा से आक्रान्त हो जाएगा। कल क्या होगा? बच्चे कैसे पढ़ेंगे? किराया कैसे देंगे? आदि-आदि चिन्ताओं से वह ग्रस्त हो जाएगा। क्या अर्थ का अभाव तनाव पैदा नहीं करता? क्या परिस्थिति तनाव पैदा नहीं करती? जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे एक प्रकार की परिस्थिति निर्मित होती है और व्यक्ति तनावग्रस्त हो जाता है। परिस्थिति व्यक्ति को बहुत प्रभावित करती है।

एक व्यक्ति रेल में यात्रा कर रहा था। अचानक चार-पांच आदमी आए और बोले—देखो, यह चाकू है। जो कुछ तुम्हारे पास धन है वह दे दो, अन्यथा चाकू की तेज धार तुम्हारी छाती के आर-पार पहुंच जाएगी। अनचाहे एक परिस्थिति पैदा हो गई। अब वह क्या करे? एक ओर धन का मोह है, दूसरी ओर प्राणों का मोह है। दोनों ओर मोह है। आदमी परिस्थिति में उलझ जाता है।

परिस्थिति कुछ भी नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। परिस्थिति का प्रभाव क्या होता है, वह उस व्यक्ति से पूछो जो उसका सामना कर रहा है, जो उसमें उलझा हुआ है। परिस्थिति कुछ भी नहीं है, यह वही व्यक्ति कह सकता है जिसने परिस्थिति को भोगा नहीं है। जिसने परिस्थितियों को भोगा है, सामना किया है, देखा है, वह परिस्थिति का मूल्य जानता है। परिस्थिति के कारण व्यक्ति क्या होता है और क्या बन जाता है। उसका सारा व्यक्तित्व ही बदल जाता है। परिस्थिति का अपना मूल्य है। यह एक सचाई है।

शरीर का तनाव भी एक सचाई है। जब शरीर में कोई तनाव पैदा होता है तब वह भाग अकड़ जाता है। उसमें ऐंठन पैदा हो जाती है। वह पीड़ा और दर्द करने लगता है।

रसायन और विद्युत्प्रवाह

शरीर में दो तत्त्व अधिक सक्रिय रहते हैं। एक है रसायन और दूसरा है विद्युत्। शरीर का अपना फिजिक्स है, उसका अपना तन्त्र है। विद्युत् का अपना कार्य है। दोनों कार्य करते हैं। शरीर के रसायन ठीक होते हैं तो शरीर स्वस्थ ढंग से काम करता है और यदि ये रसायन बिगड़ जाते हैं तो शरीर अस्वस्थ बन जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि जब सोते हैं तब शरीर स्वस्थ-सा प्रतीत होता है, उठते हैं तब निष्प्राण और शिथिल-सा लगता है। कुछ लोग कहते हैं कि सोते हैं तब शरीर ढीला लगता है, अस्वस्थ लगता है, पर उठते हैं तब उसमें ताजगी आ जाती है और बिल्कुल स्वस्थ लगता है। सुबह स्वस्थ, शाम को अस्वस्थ, शाम को अस्वस्थ और सुबह स्वस्थ। ऐसा क्यों? यह इसीलिए होता है कि या तो शरीर के विद्युत् का सन्तुलन बिगड़ जाता है या शरीर के रसायन बदल जाते हैं। जब-जब ये रसायन बदलते हैं, जब-जब विद्युत् की धारा का सन्तुलन बिगड़ता है, तब-तब शरीर में परिवर्तन आता रहता है। एक आदमी को २४ घंटों में एक जैसा नहीं पाया जा सकता, न मानसिक दृष्टि से और न शारीरिक दृष्टि से।

बड़ा गिरगिट है आदमी

आदमी सूर्योदय के साथ अपना दिन प्रारम्भ करता है और सूर्यास्त के साथ उसे पूरा करता है। वह सूर्यास्त के साथ रात्रि का प्रारम्भ करता है और सूर्योदय के साथ उसे पूरा करता है। सूर्य की साक्षी से वह दिन बिताता है और सूर्य के अभाव में रात्रि बिताता है। कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि वह इस पूरे समय में एक-सा रहा हो। यदि कोई दावा करता है तो वह झूठा होगा। इस अवधि में मानसिक-तन्त्र और शारीरिक-तन्त्र में उतार-चढ़ाव आते हैं। मन और तन एक-सा नहीं रहता। कितना बदलता है। चेतन जितना बदलता है उतना जड़ नहीं बदलता। जड़ में भी परिवर्तन आता है। सूक्ष्म जगत् में सब कुछ बदलता है, किन्तु स्थूल जगत् में आदमी का तन और मन जितना बदलता है उतना जड़ पदार्थ नहीं बदलता। आदमी इतने रंग बदलता है कि शायद गिरगिट भी इतने रंग नहीं बदलता। गिरगिट के पास उतने रंग हैं ही नहीं। आदमी बहुत बड़ा गिरगिट है। एक घंटे में कितने मनोभाव बदल जाते हैं। कभी उसमें राग का भाव जागता है, कभी द्वेष का। कभी वह क्रूर बनता है तो कभी करुणा में भर जाता है। कभी उसमें हास्य का भाव जागता है तो कभी रुदन का भाव जागता

है। इन सब भावों को यदि फिल्माया जाए तो बहुत बड़ी फिल्म हो सकती है। इसके लिए हाई फ्रीक्वेन्सी का केमरा आवश्यक होगा। एक घंटे में हजारों-लाखों भाव बदलते हैं। एक-एक भाव के अनेक पोज लेने होंगे, तब मन का एक चित्र सामने आएगा। इतनी है हमारी गतिशीलता और परिवर्तनशीलता। यदि हम इन सारे रूपों को जान सकें तो समस्या का समाधान प्राप्त हो सकता है। समस्या का समाधान खोजने के लिए सारे दृष्टिकोणों को सापेक्ष करना होगा। जिन-जिन पर, जिन-जिन लोगों ने दायित्व डाला है, उन सबको सापेक्ष कर, एक पूरा चित्र बनाकर देखना होगा।

समस्या के मूल में

समस्या के मूल में परिस्थिति भी एक सचाई है, शरीर की विद्युत् और रसायन भी एक सचाई है, मानसिक परिवर्तन और तनाव भी एक सचाई है, आजीविका का प्रश्न भी एक सचाई है, संस्कार और कर्म के विपाक भी एक सचाई है। हम किसी एक सचाई को पूरी सचाई मानकर यदि शेष सचाइयों को अस्वीकार कर देते हैं तो और सघन अन्धकार में भटक जाते हैं।

संसार : समस्याओं का आलय

एक व्यक्ति ने मुझे पूछा—क्या ध्यान के द्वारा सभी समस्याओं का समाधान हो सकता है? मैंने कहा—'संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो सभी समस्याओं का समाधान दे सके। सब शक्तियों की अपनी-अपनी सीमा है। यदि किसी एक शक्ति के द्वारा सारी समस्याओं का समधान हो सके तो मैं उसे सार्वभौम शक्ति सम्पन्न ईश्वर मानूंगा। ईश्वर की विशेषता ही क्या है? ईश्वर वह होता है जो सारी समस्याओं का समाधान दे सके, किन्तु मैं समझता हूं कि इन सारी समस्याओं का समाधान ईश्वर भी नहीं दे सकता। वह अपनी स्थिति में ही समाधान दे सकता है, जगत् की स्थिति में नहीं दे सकता। जगत् की स्थिति में यदि समाधान देने की उसकी क्षमता होती तो आज सारा संसार समस्याओं से मुक्त हो जाता, संसार में कोई समस्या रहती ही नहीं। यह संसार समस्याओं का संसार है। इसमें समस्याएं थीं, हैं और रहेंगी। अगर कोई कहे कि सत्युग समस्याओं से मुक्त था, वह दावा झूठा होगा। यदि कोई यह कल्पना करे कि ऐसा युग आएगा जिसमें कोई समस्या ही नहीं रहेगी तो यह भी अति-कल्पना होगी। आदमी सदा समस्या के साथ जीता रहा है, जी रहा है और जीता रहेगा।

आप इसे निराशा की बात न समझें। आप सोचेंगे, हम शिविर में आए हैं समस्याओं को मिटाने के लिए। किन्तु जब समस्याएं शाश्वत हैं तब हमारा ध्यान का, कायोत्सर्ग का या अन्यान्य साधना का प्रयत्न व्यर्थ होगा। क्यों हम ध्यान

करें ? क्यों साधना में समय लगाएं ?

हम सचाई को समझकर चलें। आदमी कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, वह समस्याओं से बच नहीं सकता। समस्याएं आएंगी, समस्याएं रहेंगी। परिस्थिति को नहीं मिटाया जा सकता। आर्थिक समस्याओं को सदा-सदा के लिए नहीं सुलझाया जा सकता। गरीबी को मिटाने के लिए अनेक सपने लिये गए, पर सारी दुनिया से गरीबी नहीं मिटा। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न देशों में भी हजारों लोग गरीबी से पीड़ित हैं। जो देश अन्यान्य देशों को करोड़ों की सहायता देते हैं, वहां के हजारों निवासी फुटपाथों पर सोते हैं। जहां सामाजिक समानता के लिए प्रयत्न किए गए, वहां के लोग भी सामाजिक विषमता से पीड़ित हैं और आर्थिक भ्रष्टाचार के शिकार हैं।

नयी शक्ति : प्रतिरोधात्मक शक्ति

हम ध्यान साधना के द्वारा समस्या को मिटाने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं, किन्तु समस्या के मूल की खोज कर, समस्या के प्रतिरोध में एक नयी शक्ति खड़ी करने का प्रयास कर रहे हैं। हम प्रतिरोधात्मक शक्ति उत्पन्न करें जो समस्या की शक्ति के सामने खड़ी रहकर समस्या का प्रतिरोध कर सके। जब आमने-सामने दूसरी शक्ति होती है तब आक्रामक शक्ति का वेग मन्द हो जाता है। उसे सावधानी से आगे बढ़ना होता है। जब शत्रु-सेना के सामने दूसरी शक्तिशाली सेना खड़ी होती है तब उसे आगे बढ़ने का उतना अवकाश प्राप्त नहीं होता। यदि प्रतिरोध करने वाली सेना न हो तो वह निर्भीकता से आगे बढ़ जाती है।

हमारे शरीर में जब रोग-प्रतिरोधक शक्ति प्रबल होती है तब किसी भी प्रकार के रोग के कीटाणु आक्रमण नहीं कर सकते। वे आते हैं और प्रतिरोधात्मक शक्ति से पराजित होकर भाग जाते हैं। सारा शरीर कीटाणुओं से आक्रान्त है। वे रोग पैदा कर सकते हैं किन्तु जिस व्यक्ति का रेजिस्टेन्स पॉवर—प्रतिरोधात्मक शक्ति प्रबल होती है, जिसमें रोग के कीटाणुओं से लड़ने की क्षमता होती है, वह व्यक्ति रोगों से आक्रान्त नहीं होता। वह बीमार नहीं होता। जिसकी यह शक्ति क्षीण होती है, वह सहजतया बीमारी से ग्रस्त हो जाता है। कुछेक लोग प्रतिश्याय या सिरदर्द से सदा पीड़ित रहते हैं। कुछेक लोग अन्यान्य भयंकर बीमारियों से दुःखी रहते हैं। क्या रोग के कीटाणु उन्हीं को सताते हैं ? वे दूसरों को क्यों नहीं सताते ? कीटाणु सबको सताने का प्रयत्न करते हैं। जिस-जिस व्यक्ति की प्राण-शक्ति कम हो जाती है, रोग-निवारक शक्ति क्षीण हो जाती है, उसे कीटाणु अधिक सताते हैं। जिस व्यक्ति की प्राण-शक्ति मजबूत है, उसे कीटाणु सताने का प्रयत्न करते हैं पर सता नहीं पाते। हम ध्यान के द्वारा प्राण-शक्ति को सक्षम बनाते हैं, प्रतिरोधक शक्ति की एक मजबूत दीवार खड़ी

करते हैं जिससे कि कोई आक्रमण न कर सके और हमें समस्या न सता सके।

शोधन की प्रक्रिया

लोह और इस्पात दो हैं। लोह कमजोर होता है और इस्पात बहुत मजबूत होता है। लोह पर जंग जमता है, इस्पात पर जंग नहीं जमता। लोह ही इस्पात में बदलता है। धातु को मजबूत करने के लिए उसे तेज तापमान दिया जाता है और जितने विजातीय कण उससे निकाल दिए जाते हैं, उतना ही वह धातु मजबूत बन जाता है। अन्तरिक्षयान के लिए लोह-धातु को बहुत मजबूत बनाया जाता है, जिससे कि वह हर झटके को झेल सके। किन्तु मजबूती तब आती है जब विजातीय कण निकाल दिए जाते हैं और मूल कण अधिक से अधिक विकसित होते हैं।

हमारे चित्त की भी यही प्रक्रिया है। जब चित्त में विजातीय तत्त्व ज्यादा होते हैं तब चित्त इतना कमजोर बन जाता है कि वह परिस्थिति के झटके को सहन नहीं कर सकता, तत्काल टूट जाता है। यदि उसी चित्त को ध्यान की तेज अग्नि के द्वारा तपाया जाता है, उसे लोह से फौलाद बना दिया जाता है, उसके सारे विजातीय तत्त्वों—संस्कारों को निकाल दिया जाता है तो वह बहुत मजबूत बन जाता है। उस स्थिति में केवल चित्त रह जाता है, विशुद्ध चित्तमात्र। वह प्रत्येक तूफान का सामना कर सकता है और भयंकर से भयंकर बवंडर में अविचल खड़ा रह सकता है।

ध्यान की निष्पत्ति : समस्या की समाप्ति या मनोबल की वृद्धि ?

ध्यान की प्रक्रिया समस्याओं को समाप्त करने की प्रक्रिया नहीं है। ध्यान-साधक यह भ्रान्ति न रखें कि ध्यान से सारी समस्याएं समाप्त हो जाएंगी। ऐसा कभी नहीं होगा। ध्यान के द्वारा समस्याएं या परिस्थितियां नहीं मिट सकतीं। जगत् में विभिन्न प्रकार के लोग हैं। उनकी ग्रन्थियों के आन्तरिक स्राव भी भिन्न-भिन्न हैं। उनकी विद्युत्-धाराओं के प्रवाह भी भिन्न हैं। क्या-क्या मिटा पायेंगे ? ध्यान के द्वारा रोटी की और आजीविका की समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। कितना ही ध्यान करें उससे रोटी प्राप्त नहीं हो सकती। रोटी के लिए खेती आवश्यक है। रोटी के लिए श्रम और व्यवसाय अपेक्षित है। ध्यान के द्वारा रोटी की समस्या नहीं सुलझ सकती। ध्यान के द्वारा जो प्राप्तव्य है वह ध्यान से मिल सकता है। जो ध्यान के द्वारा नहीं हो सकता, उसको ध्यान के द्वारा करने के लिए प्रयत्न करना, एक भ्रान्ति है। यदि इस भ्रान्ति में जाएंगे तो न ध्यान को ही समझ पाएंगे और न ध्यान के द्वारा जो प्राप्तव्य है, वही उपलब्ध होगा।

ध्यान के द्वारा मिलता है—मनोबल, चित्तशक्ति, शुद्ध चेतना का पराक्रम।

ध्यान के द्वारा एक ऐसी शक्ति मिलती है जो व्यक्ति को प्रत्येक समस्या को झेलने में सक्षम बनाती है। व्यक्ति में ऐसी शक्ति जगा देती है कि व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति का हंसते-हंसते सामना कर सकता है, समस्या को सुलझा सकता है और अच्छी-बुरी घटना घटित होने पर भी संतुलन नहीं खोता। संतुलन को बनाए रखना बहुत बड़ी बात है। बड़े-बड़े लोग भी विषम परिस्थिति में संतुलन नहीं रख पाते। बड़े आदमी ही ज्यादा असंतुलित होते हैं। छोटा आदमी सहना जानता है। वह छोटी-बड़ी अप्रिय घटना सह लेता है। संतुलन नहीं खोता। बड़ा आदमी सह नहीं सकता। अप्रिय घटना होते ही उसका अहं जाग जाता है। धन और सत्ता का नशा उसको आक्रान्त कर देता है। वह तब दूसरों को तुच्छ मानकर अप्रिय कर बैठता है। उसका संतुलन बिगड़ जाता है और तब जो होना होता है वही होता है। बड़े आदमी को संतुलन खोने के अनेक अवसर मिलते हैं। छोटे आदमी को वे अवसर सुलभ नहीं हैं। यही कारण है कि छोटा आदमी कम अवसरों में संतुलन खोता है, और बड़ा आदमी कम अवसरों में संतुलन रख पाता है।

संतुलन का विकास ध्यान से

हमें ध्यान के द्वारा संतुलन का विकास, मनोबल का विकास और क्षमता का विकास करना है। हमें वह विकास करना है जो सारी परिस्थिति के सामने एक दीवार खड़ी कर सके, परिस्थिति से टूटे नहीं, घुटने न टेके। क्या हम नहीं जानते कि जब आदमी का मन शुद्ध नहीं होता, चित्त शुद्ध नहीं होता तब वह कितनी कठिनाइयों से गुजरता है? जब हम लोगों की समस्याओं को सुनते हैं तब मन करुणा से भर जाता है। सोचते हैं—क्या यही है संसार? किसी का पिता मर गया है और किसी का बेटा मर गया है। किसी पति ने पत्नी को छोड़ दिया है और किसी पत्नी ने पति को छोड़ दिया है। ये सारी स्थितियां समस्याएं पैदा करती हैं। इस विश्व में इतनी विरोधी स्थितियां हैं मन को और चित्त की चेतना को तोड़ने के लिए कि यदि मन शक्तिशाली नहीं होता है तो मनुष्य के लिए पागल बनने के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं बचता।

समस्या पर एकाग्र होना : समस्या का समाधान

एक भाई ने आकर कहा—मैं पागल होता जा रहा हूं। आप बताएं कि मैं ठीक होऊंगा या नहीं? मैंने कहा—ठीक होना या न होना तुम्हारे हाथ में है। तुम झेलने की शक्ति का विकास करो। झेलने की शक्ति एकाग्रता से प्राप्त होती है। आज का व्यक्ति एकाग्र होना नहीं जानता। जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में एकाग्रता की शक्ति नहीं होती वह कंगाल बन जाता है। आज भारत और जापान की स्थिति को देखें। जापान ने जितना विकास किया है, भारत उससे

बहुत पीछे है। किसी भी विषय पर एकाग्र होने का अभ्यास जितना जापानियों ने किया है, उतना भारतवासियों ने नहीं किया, ऐसा नहीं कहना चाहिए किन्तु यह कहना चाहिए कि एकाग्रता की जो शक्ति भारत में थी और जिस शक्ति का शिक्षण जापान को दिया था, आज भारत उस विद्या को भुला बैठा और जापान उसका उपयोग कर रहा है। जब तक व्यक्ति समस्या पर एकाग्र होना नहीं जानता, पूरी एकाग्रता और तन्मयता के साथ समस्या का समाधान खोजना नहीं जानता तब तक समस्या समाहित नहीं होती। आज एक विषय पर मन एकाग्र होता है तो कल दूसरे विषय पर। आज एक योजना बनती है तो कल दूसरी योजना सामने आ जाती है।

एक गांव में एक सेवक रहता था। वह एक काम शुरू करता, बीच में ही दूसरा काम शुरू कर देता। इस प्रकार वह अनेक काम प्रारंभ कर देता, पर पूरा एक भी नहीं होता। एक दिन एक आदमी ने उसे आम लाने भेजा। बीच में दूसरा आदमी मिला। उसने कहा—सेवकजी! घर में आटा नहीं है, आटा ला दो। वह आम लाना भूल गया और आटा लाने चला गया। फिर तीसरा आदमी मिला वह बोला—सेवकजी! घर में पत्नी बेहोश पड़ी है, वैद्य को बुला लाओ। वह आटा लाना भूल गया और वैद्य को लाने दौड़ा। आगे चौथा आदमी बोला—अरे भागे जा रहे हो। देखो, मेरी लाडली सुसराल जा रही है। उसे पहुंचाने जाना है। रेल में चार घंटे का रास्ता है। बेटी को ससुराल पहुंचाकर चले आना। सेवक ने स्वीकार कर लिया। सारे काम छोड़ वह स्टेशन की ओर चल पड़ा। उसने चार काम संभाले, पर पूरा एक भी नहीं हुआ।

प्रायः व्यक्तियों की यही स्थिति है। वे एक समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, ध्यान दूसरी समस्या पर चला जाता है, फिर तीसरी समस्या और फिर चौथी समस्या पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है। वहां भी वह ध्यान नहीं टिकता। एक भी समस्या नहीं सुलझती। पानी सौ हाथ नीचे है तो सौ हाथ खोदने पर ही वह प्राप्त हो सकता है। दस-दस हाथ के दस गड्ढे खोदने से पानी प्राप्त नहीं हो सकता। यहां गणित काम नहीं आता कि दस-दस हाथ के गड्ढे खोदने से सौ हाथ हो गए। पूरे सौ हाथ एक स्थान पर खोदने से ही पानी मिल सकता है। अन्यथा दस-दस हाथ के हजार गड्ढे भी खोद लो, पानी नहीं मिलेगा।

ध्यान इस समस्या को सुलझा सकता है। वह व्यक्ति को केन्द्रित होना सिखाता है। साधक ध्यान के द्वारा एकाग्रता और संकल्प-शक्ति का विकास करे और समस्याओं के समक्ष एक प्रतिरोधात्मक शक्ति खड़ी करे जिससे कि चित्त समस्या से डरे नहीं, किन्तु उसके सामने एक पर्वत की भांति अचल खड़ा रह सके।

३१. नयी आदतें : नयी आस्थाएं

१. दो अवस्थाएं—जवानी और बुढ़ापा।

२. जवान कौन ? बूढ़ा कौन ?
- जवान वह जिसका रक्तचाप सन्तुलित है।
- बूढ़ा वह जिसका रक्तचाप सन्तुलित नहीं है।

३. रक्त-संचार का बाधक है—मल का संचय।

४. जिसके मन में सन्ताप आता है और निकल जाता है, वह सुखी है, जवान है।
जिसके मन में सन्ताप आता है, वहीं जम जाता है, वह दुःखी है, बूढ़ा है।

५. पदार्थों के सम्बन्ध से झटका।

६. संयोग में सुख, वियोग में दुःख—यह पुरानी आदत।
- दोनों में अनासक्ति—यह नयी आदत, यह नयी आस्था।

७. वियोग से दुःख नहीं, वियोग का पता चलने से दुःख।
- वियोग का पता चलने से दुःख नहीं, उस वियुक्त होने वाले पदार्थ में आसक्ति का भाव होने से दुःख।

८. ध्यान है आस्था का परिमार्जन।

९. दो दृष्टियां—
- जीवन संचालित है—प्राणशक्ति और मस्तिष्कीय चेतना के द्वारा।
- जीवन संचालित है—शाश्वत चेतना के द्वारा।

इकतीस

कौन जवान ? कौन बूढ़ा ?

आदमी दो अवस्थाओं में जीता है। एक अवस्था है जवानी की और दूसरी है बुढ़ापे की। आयुष्य के सौ वर्ष के अनुपात में व्यक्ति की दस अवस्थाएं बतलाई गई हैं, किन्तु वे सारी अवस्थाएं इन दो अवस्थाओं में समाविष्ट हो जाती हैं।

प्रश्न होता है—जवान कौन ? बूढ़ा कौन ? सामान्य आदमी का यही उत्तर होगा कि जो २५-३० वर्ष की आयु का है वह जवान है। जिसके सिर के बाल काले हैं वह जवान है। जो आदमी साठ वर्ष पार कर चुका है, जिसके बाल पक गए हैं, सफेद हो गए हैं, वह बूढ़ा है। यह सामान्य उत्तर होगा। जो व्यक्ति शरीर की शक्ति को जानता है, वह ऐसा उत्तर नहीं देगा। वह कहेगा—जवान वह होता है जिसका रक्तचाप सन्तुलित होता है। बूढ़ा वह होता है जिसका रक्तचाप सन्तुलित नहीं होता। जिसका रक्तचाप सन्तुलित है और वह सत्तर वर्ष का हो गया है, तो भी वह जवान है। जिसका रक्तचाप असन्तुलित है और वह तीस वर्ष का ही है, फिर भी वह बूढ़ा है।

रक्तचाप बढ़ने का कारण है हृदय पर अतिरिक्त भार पड़ना। जब हृदय को अधिक श्रम करना पड़ता है तब रक्तचाप बढ़ जाता है। जब धमनियां ठीक काम नहीं करतीं, धमनियों के छिद्र अवरुद्ध हो जाते हैं तब हृदय को उन तक रक्त पहुंचाने के लिए अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। वह कमजोर होता चला जाता है और रक्तचाप बढ़ता चला जाता है। इससे तीस वर्ष का आदमी भी बूढ़ा होता चला जाता है। जब धमनियां ठीक होती हैं, प्रणालिकाएं ठीक होती हैं तो रक्त का संचार निर्बाध गति से होता रहता है। इस स्थिति में हृदय को अतिरिक्त श्रम नहीं करना पड़ता। उसकी शक्ति कम क्षीण होती है और वह लम्बे समय तक कार्यक्षम हो सकता है। इस स्थिति में आदमी कभी बूढ़ा नहीं होता। वह सत्तर वर्ष की अवस्था में भी जवान बना रह सकता है।

रक्त-संचार में बाधा क्यों ?

पुनः एक प्रश्न होता है कि धमनियों के रास्ते अवरुद्ध क्यों होते हैं ? वे कमजोर क्यों होती हैं ? रक्त-संचार में बाधा क्यों आती है ?

यह शरीर मलों का शरीर है। इसमें इतने मल जमा होते हैं कि यदि वे न निकलें तो सारा शरीर मलमय बन जाता है। मल निकलने के अनेक द्वार हैं— मलद्वार (गुदा), मूत्र द्वार (शिश्न), त्वचा और श्वास-प्रणाली। ये सारे द्वार मल को बाहर फेंकते हैं। किन्तु कुछेक कारणों से ये अवयव विसर्जन का काम कम करने लग जाते हैं। शरीर में अधिक विष जमा हो जाने के कारण नाड़ी-संस्थान दुर्बल हो जाता है, मल फेंकने वाले अवयव कमजोर हो जाते हैं, और धीरे-धीरे धमनियां विष से भर जाती हैं। मल आंतों से चिपट जाता है, रास्ते संकड़े हो जाते हैं, आंतें कठोर हो जाती हैं। जब तक मल निकलने के द्वार ठीक काम करते हैं तब विष जमा होते हैं और बाहर निकल जाते हैं। विष का जमा होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। ऐसा कभी संभव नहीं है कि शरीर में मल जमा न हो, विष का संचय न हो। हम जो कुछ खाते हैं, सब के साथ विष जाता है। जो अमृत माना जाता है, उसके साथ भी विष जुड़ा रहता है। यह माना जाता है—फल बहुत लाभप्रद हैं। पत्ती का शाक बहुत अच्छा है। दूध, घी और फलों के रस अमृत तुल्य हैं, स्वास्थ्यकारक हैं। किन्तु इन सबके साथ विष है। एक भी खाद्य पदार्थ ऐसा नहीं है जिसे केवल अमृत कहा जाए, जिसके साथ विष की मात्रा न हो। हम अमृत भी खाते हैं और साथ-साथ जहर भी खाते हैं। जब वह उचित मात्रा में बाहर नहीं निकलता तब अनेक रोग आक्रमण करते हैं। जब तक मल-निष्कासन का मार्ग साफ रहता है, खुला रहता है तब तक जीवन की यात्रा निर्बाधरूप से चलती रहती है। जब मार्ग में रुकावट आती है, तब बुढ़ापा आता है, आयुष्य कम हो जाता है। आवश्यक यह है कि मार्ग साफ रहना चाहिए। ये नाले गन्दे न हों, सदा साफ रहें। इनमें कोई अवरोध नहीं होना चाहिए, जिससे कि जो जहर जमा हो वह सहजतया विसर्जित हो जाए। यदि अवरोध नहीं होगा तो बुढ़ापा नहीं आएगा।

जवान सुखी, बूढ़ा दुःखी

इस शरीर की प्रक्रिया के साथ जब मैं चित्त की और चेतना की प्रक्रिया को देखता हूं तो मुझे लगता है कि दोनों की प्रक्रिया समान है। बाह्य जगत् में यह प्रश्न है कि बूढ़ा कौन ? जवान कौन ? मानसिक जगत् में यह प्रश्न है कि सुखी कौन ? दुःखी कौन ? इसका उत्तर है—जवान अर्थात् सुखी, बूढ़ा अर्थात् दुःखी। बुढ़ापा आने आप में दुःख है। महावीर ने दुःखों का वर्गीकरण इस प्रकार किया—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जस्स कीसंति जन्तवो॥

—जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मरण दुःख है। बुढ़ापा अपने आप में बीमारी है, दुःख है।

मानसिक जगत् में जवान वह है जिसके मन मे कोई संताप आता है और निकल जाता है। जिसमें कोई अवरोध नहीं आता, वह सुखी और जवान है। दुःखी वह है जिसके मन में संताप आता है और वह जमा हो जाता है, निकलने का रास्ता नहीं मिलता। वही बूढ़ा होता है। दुःखी और बूढ़ा—कोई अन्तर नहीं है। हम यह न मानें कि इस दुनिया में कोई जन्म ले और संताप न आए। जैसे अमृत आए और साथ में जहर न आए, ऐसा नहीं हो सकता तो मानसिक जगत् मे मानसिक आनन्द आए और दुःख न आए, संताप न आए, ऐसा भी नहीं हो सकता। जहां सुख की अनुभूति होती है वहां सन्ताप भी साथ-साथ आता है। कोई भी ऐसा सुख नहीं है जिसके साथ दुःख जुड़ा हुआ न हो। इस भौतिक जगत् की सीमा में होने वाला आनन्द ऐसा नहीं है जिसके पहले या पीछे या समरेखा मे संताप न हो। यह हो ही नहीं सकता। संताप अवश्य होगा। किन्तु जब मन और चेतना की प्रणालिका साफ रहती है, विष जमा होता है और निकल जाता है, मल साफ हो जाता है तो बुढ़ापा नहीं आता, दुःख घनीभूत नहीं होता, वेदना सघन नहीं होती। आती है, चली जाती है। जब मल ज्यादा जमा हो जाता है और उसे निकलने का मार्ग नहीं मिलता तब संताप इतना सघन बन जाता है कि वह भीतर ही भीतर वृद्धिगत होता हुआ आदमी को पूरा दुःखी बना डालता है। वह दुःखमय और वेदनामय बन जाता है। पीड़ा उसे घेर लेती है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यही है कि जब व्यक्ति हृदय से और चेतना से अतिरिक्त काम लेने लग जाता है, तब मलावरोध होता है और वही इस पीड़ा को उत्पन्न करता है।

संचालक-शक्ति—चेतना

हमारा सारा जीवन चलता है—आस्था के द्वारा। यह जीवन संचालन का सूत्र है। आंख देखती है, कान सुनते है, हाथ-पैर चलते है। ये सब क्रिया करने वाले है। इनका सूत्रधार कौन है? इन्हें संचालित करने वाला सूत्र कौन है, जिसकी प्रेरणा से ये सारे क्रियाशील रहते है? आंख देखती है। यदि आंख स्वयं संचालक हो तो वह एक ही दिशा में देखेगी। किन्तु आंख कभी सामने देखती है, कभी इधर-उधर देखती है। कभी दाएं देखती है और कभी बाएं। कभी एक वस्तु को देखती है और कभी दूसरी वस्तु को। ऐसा क्यों होता है? आंख एक उपकरण है, साधन है। भीतर में रहने वाला संचालक-सूत्र उसे इस प्रकार संचालित कर रहा है। जिस दिशा में वह संचालित होती है, उसी दिशा में देखने लग जाती

है। आंख स्वयं संचालक नहीं है। वह संचालित है। सारी इन्द्रियां संचालित हैं। संचालन का सूत्र किसी दूसरे के हाथ में है। सेना का संचालन सेनापति करता है। वह कंट्रोल रूम में बैठा-बैठा ही संचालन कर लेता है। संचालन-सूत्र किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ में रहता है और संचालित होने वाले दूसरे होते हैं। हमारी सभी कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, मन और मस्तिष्क—ये सब दूसरे सूत्र से संचालित होती हैं। इनको संचालित करने वाली शक्ति है—चेतना। चेतना में जितनी आसक्ति, जितनी मूर्छा, जितना मोह है उतना ही अधिक विष जमा होता जाता है और हमारा सारा स्नायु-तन्त्र अवरुद्ध हो जाता है। प्रश्न है—मूर्च्छा और आसक्ति का जो चेतना के साथ जुड़ी हुई होती है।

पदार्थों के सम्बन्ध से झटका

पदार्थ पदार्थ होता है। वह जड़ है। वह न सुख देता है और न दुःख। पदार्थ में सुख-दुःख देने की क्षमता नहीं होती। अचेतन में यह क्षमता नहीं होती। पदार्थ के साथ हमारा सम्बन्ध होता है, संयोग होता है, और फिर वियोग हो जाता है? आदमी प्रातःकाल उठता है और उठते ही पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। कुछ लोग उठते ही अपनी हथेलियां देखते हैं, उनसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे मानते हैं कि ऐसा करना शुभ है, मंगलकारी है। कुछ व्यक्ति उठते ही अपने आस-पास के व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, कमरे में पड़ी हुई वस्तुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जब वे बाहर जाते हैं तब अन्यान्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उठते ही आदत के कारण भी सम्पर्क स्थापित होता है। चाय की आदत या खाने की आदत हो तो चाय और खाने के पदार्थों के साथ सम्पर्क होता है। इस प्रकार उठते ही बाह्य जगत् के साथ हमारा संपर्क स्थापित होना शुरू हो जाता है और वह सिलसिला दिन भर और रात भर (जब तक नहीं सोते तब तक) चलता रहता है। न जाने कितनी वस्तुओं के साथ हमारा संपर्क होता है और हम उनसे सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। बाह्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित होते ही एक झटका लगता है। दूसरे पदार्थ से संपर्क होते ही दूसरा झटका लगता है और ये सारे झटके स्मृति-कोष्ठ में जाकर संचित हो जाते हैं। पदार्थ यदि कमजोर होता है तो झटका मन्द होता है। पदार्थ यदि शक्तिशाली होता है तो झटका तीव्र होता है। झटका लगता अवश्य है।

एक बच्ची पड़ोसी के घर गई। घर का मालिक खड़ा था। बच्ची ने पूछा—स्त्री चाहिए। घर के स्वामी ने अपनी पत्नी की ओर इशारा करते हुए कहा—वह खड़ी है 'सामने, ले जाओ। बच्ची ने कहा—'वह नहीं, कपड़ों वाली चाहिए।' मालिक बोला—कपड़ों वाली ही तो है, नंगी कहां है? बच्ची बोली—यह नहीं,

करंट वाली चाहिए, जिसके हाथ लगते ही झटका लगे।' मालिक ने हंसते हुए कहा—'इसके हाथ लगाकर तो देखो, यह भी तेज झटका देती है।'

पदार्थ का झटका लगता है और सारे झटके स्मृति-कोष्ठ में जाकर जमा हो जाते हैं। यदि झटका तेज होता है तो वह मज्जा तक चला जाता है और स्थायी बन जाता है। आदमी उसमें उलझ जाता है, रास्ता बन्द हो जाता है। ये झटके अवरोध पैदा करते हैं। यह है आसक्ति, मूर्च्छा, मोह। हमने न जाने कितने संबंध स्थापित कर रखे हैं। हमारा संबंध चेतन से भी है और अचेतन से भी है। हजारों-हजारों लोगों से हमारा सम्बन्ध है और हजारों-हजारों पदार्थों से भी हमारा संबंध है। सारे के सारे संबंध हमारी चेतना की प्रणाली में अवरोध पैदा किए हुए हैं। चेतना जो केवल चेतना थी, शुद्ध चेतना थी, चेतना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, वहां इन सारे सम्पर्कों और सम्बन्धों ने अवरोध पैदा कर दिए। चेतना का मार्ग जो राजपथ था, साफ था, विस्तीर्ण था, उसे इन अवरोधों ने सकरा बना दिया, अस्वच्छ बना दिया। मूर्च्छा इतनी सघन हो गई कि धमनियां कड़ी बन गईं और उनमें रक्त का संचार सुगम नहीं रहा। इसीलिए जवानी समाप्त हो रही है, बुढ़ापा आ रहा है और आदमी दुःख पा रहा है।

लक्ष्य और आस्था

बहुत बड़ा प्रश्न है कि ध्यान का प्रयोजन क्या है? ध्यान-साधक का लक्ष्य क्या है? वह क्या चाहता है? जब तक कोई लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता तब तक जीवन का संचालन-सूत्र भी स्पष्ट नहीं होता। आदमी की एक लक्ष्य के प्रति आस्था होती है। जैसी आस्था और श्रद्धा होती है वैसा ही उसका संचालन होता है। एक आदमी बैठा है। भूख लगती है। वह खड़ा होता है और रसोई घर की ओर जाता है। हाथ की मांसपेशियां सक्रिय होती हैं। वह हाथ से भोजन उठाता है। मुंह में लार टपकने लग जाती है, रस का स्राव प्रारम्भ हो जाता है। पित्त का स्राव होने लगता है। सारा शरीर-तंत्र संचालित हो जाता है। पूरे पाचन प्रणाली की मांसपेशियां सक्रिय हो जाती हैं। सब अपना-अपना काम करते हैं। भोजन के लिए जितने रसस्राव अपेक्षित होते हैं, वे सारे होने लग जाते हैं। इसका कारण क्या है? इसका कारण है कि भीतर एक आस्था जमी हुई है कि जब भूख का अनुभव हो तो भोजन करना चाहिए। आस्था से प्रेरित होकर मनुष्य जब भोजन के लिए पैर बढ़ाता है तब सारा तंत्र सक्रिय हो जाता है। हमारे जीवन की समस्त क्रियाएं संचालित होती हैं आस्थाओं के द्वारा। ये सारे कार्यतंत्र हैं। मस्तिष्क भी एक कार्यतंत्र है। वह सारे कार्य को संचालित करता है, नियंत्रित करता है। उसकी प्रेरणा है—गहन अन्तराल में छिपी हुई हमारी आस्था और श्रद्धा। हमारी जैसी आस्था होगी, उसी ओर हमारी सारी शक्ति प्रवाहित होने लग जाएगी। चार

आदमी की आस्था लड़ाई में है तो उसकी सारी शक्ति लड़ाई में लग जाएगी। यदि आदमी की आस्था क्षमा में है तो उसकी सारी शक्ति क्षमा में लग जाएगी। आस्थाओं से आदत का निर्माण होता है। आदत आस्था को नहीं बनाती, किन्तु आस्था आदत को बनाती है। पहले आस्था फिर आदत। जैसी आस्था वैसी आदत। आज आस्थाओं में परिमार्जन अपेक्षित है।

ध्यान है : आस्थाओं का परिमार्जन

ध्यान का लक्ष्य है आस्थाओं का परिमार्जन करना। हम आस्थाओं का परिष्कार करना चाहते हैं। हमारी आस्था संबंध की आस्था बनी हुई है। यह संबंध स्थापित करने की आस्था है। हम अध्यात्म जगत् से अपना संबंध स्थापित करना चाहते हैं। उस संबंध के द्वारा सुख पाना चाहते हैं। सम्पर्क-सूत्र की आस्था, संबंध और सुख—यह एक प्रक्रिया है। पदार्थ का संयोग होता है, तब सुख होता है। पदार्थ का वियोग होता है, तब दुःख होता है। बिजली थी तब सुख का अनुभव होता था। बिजली चली गई तब दुःख का अनुभव होने लगा। सुख बिजली के रहने से नहीं हुआ। दुःख बिजली के जाने से नहीं हुआ। वस्तु के जाने से दुःख नहीं होता। दुःख तब होता है जब हमें पता चलता है कि वस्तु चली गई। व्यक्ति को पता नहीं है कि व्यापार में घाटा है, तब उसे दुःख नहीं होता। दुःख तब होता है जब उसे पता लग जाता है कि घाटा हुआ है। नुकसान होने से कोई दुःख नहीं होता और लाभ होने से कोई सुख नहीं होता। जब दोनों अज्ञात होते हैं तब कुछ नहीं होता। जब वे ज्ञात होते हैं तब सुख-दुःख के कारण बनते हैं। यदि वास्तव में घाटा होने से ही कोई दुःख हो तब तो घाटा लगने की घटना के साथ-साथ ही दुःख हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। कोई प्रिय व्यक्ति चल बसा। चार दिन तक समाचार नहीं मिले। कोई दुःख नहीं हुआ। समाचार मिलते ही दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। अतः यह निश्चित है कि घटना घटित होते ही सुख-दुःख नहीं होता। सुख-दुःख तब होता है जबकि उसका पता चले। कुछ आगे चलें। पता लगने से भी सुख-दुःख नहीं होता। सुख-दुःख तब होता है जब हमारी मूर्च्छा होती है। मूर्च्छा होती है तब संयोग होने पर सुख और वियोग होने पर दुःख होता है। जब मूर्च्छा नहीं होती तब चाहे वियोग हो या संयोग, दुःख भी नहीं होता और सुख भी नहीं होता। घटना घटती है। आदमी जान लेता है। केवल घटना-बोध होता है। पर सुख-दुःख नहीं होता।

सुख-दुःख के अनुभव का पहला सूत्र है—ज्ञान होना और दूसरा सूत्र है—मूर्च्छा होना, आसक्ति होना।

आस्था का निर्माण

ध्यान-साधना के द्वारा हम आस्था की स्थिति का निर्माण करना चाहते हैं। जो घटनाएं घटित होने वाली हैं वे अवश्य घटेंगी। उनका हमें बोध भी होगा, किन्तु उनके साथ न सुख आए और न दुःख आए, यह अपेक्षित है। हम केवल जानते रहें, कर्त्तव्य का पालन करते रहें, चिन्तन करते रहें, चिन्तित न बनें। संताप को इकट्ठा न करें। संतप्त न बनें।

आचार्य श्री रायपुर में थे। विरोध में विद्यार्थियों का एक जुलूस आ रहा था। लोग घबराए हुए थे। उन्होंने कहा—उपद्रव होगा।' आचार्य श्री बोले—चिन्ता मत करो, चिन्तन करो। यह है एक आस्था का निर्माण। सामान्यतः होता यह है कि सामने थोड़ी सी प्रतिकूल स्थिति आती है और आदमी चिन्ताओं से ग्रस्त बन जाता है। उन चिन्ताओं के कारण वह उपाय खोजना ही बन्द कर देता है। उपाय के अभाव में परिस्थिति और अधिक जटिल बन जाती है। अब कष्टों का मार्ग ही उसके लिए उद्‌घाटित रहता है। इनसे बचने का एक मात्र उपाय है—परिस्थिति के आने पर चिन्ता न करना किन्तु चिन्तन करना, व्यथा न करना किन्तु संवेदन करना। इनके पीछे अलग-अलग प्रकार की आस्थाएं बोल रही हैं। चिन्ता के पीछे एक प्रकार की आस्था होती है और चिन्तन के पीछे दूसरे प्रकार की आस्था होती है। जो व्यक्ति चिन्तन करना जानता है वह अपाय के बीच में भी उपाय खोज लेता है और उसे समाधान मिल जाता है। जो व्यक्ति चिन्तन करना नहीं जानता, चिन्ता से ग्रस्त रहता है, वह अपाय के आने पर घुटने टेक देता है। उसे कभी समाधान नहीं मिलता। वह उपाय खोज ही नहीं सकता। उसके लिए सफलता के सारे मार्ग बन्द हो जाते हैं। बहुत सकड़ी रेखा है चिन्ता और चिन्तन में, व्यथा और वेदन में। एक रेखा के परे चिन्ता है, जहां सारी विफलताएं जीवन का वरण कर लेती हैं। एक रेखा है चिन्तन की जहां सारी सफलताएं जीवन का वरण कर लेती हैं। हम ध्यान के द्वारा इस स्थिति का निर्माण करें कि चिन्ता से मुक्त होकर चिन्तन को प्रशस्त करें। व्यथा से मुक्त होकर वेदन को प्रशस्त करें। यह सब कैसे हो सकता है? इस आस्था का निर्माण कैसे हो सकता है?

पहले आस्था का निर्माण, फिर आदत का निर्माण। आस्था के निर्माण का अर्थ है—चेतना का निर्माण, चैतन्य के साथ जुड़ी हुई आस्था का निर्माण। यही है—दृष्टिकोण का परिवर्तन। दृष्टि के द्वारा आस्था का निर्माण होता है। जैसी दृष्टि, वैसी आस्था। जैसी आस्था, वैसा आचरण। आचरण जुड़ा हुआ है आस्था से और आस्था जुड़ी हुई है दृष्टि से। हम ध्यान के द्वारा दृष्टि का परिमार्जन और परिष्कार चाहते हैं। हमारी दृष्टि निर्मल बने, हमारी मूर्च्छा टूटे और आस्था पवित्र हो।

दो दृष्टियां : दो निष्पत्तियां

हमारा जीवन संचालित होता है प्राण-शक्ति और मस्तिष्कीय चेतना के द्वारा—यह एक दृष्टि है। दूसरी दृष्टि यह है—हमारा जीवन संचालित होता है शाश्वत चेतना के द्वारा। जब हम चेतना को मस्तिष्क तक सीमित कर लेते हैं, तब हमारी चेतना वर्तमान तक सीमित बन जाती है और वह केवल जीवन के साथ जुड़ जाती है। हमारी चेतना इस जीवन के पहले क्षण में पैदा हुई चेतना नहीं है। वह शाश्वत काल से चली आ रही चेतना है। उसका संबंध केवल इस जीवन के साथ ही नहीं है, अनन्त-अनन्त जीवनों के साथ है। न जाने कितने संस्कार, कितनी वासनाएं और भावनाएं लेकर यह चेतना आई है और एक नए जन्म को ले रही है। इस आस्था के साथ जब आदमी चलता है तब उसका जगत् बहुत बड़ा बन जाता है। उसके सामने इतना विराट् संसार होता है कि वह वर्तमान की समस्याओं की व्याख्या केवल वर्तमान के संदर्भ में ही नहीं करता, किन्तु वह और विराट् जगत् में चला जाता है। जब शाश्वत चेतना के द्वारा आस्था का निर्माण होता है तो आदतें भी नए प्रकार की बनती हैं। यदि हमारा जीवन भौतिक पदार्थ से निर्मित जीवन है, तो फिर भौतिक पदार्थ से संबंध-विच्छेद करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मूल भौतिक, आवश्यकताएं भौतिक, समाप्ति भौतिक। आदि का क्षण भौतिक, मध्य का क्षण भौतिक और अंत का क्षण भौतिक। सब कुछ भौतिक ही भौतिक है। फिर भौतिकता से परे हटने की कोई जरूरत नहीं है, आस्था को अभौतिक आधार देने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारी सारी आस्था भौतिकता से जुड़ी हुई आस्था होगी। इस स्थिति में अध्यात्म और अभौतिकता किसलिए? अतीत और भविष्य किसलिए? न भविष्य आवश्यक है और न अतीत। न अध्यात्म आवश्यक है और न अभौतिकता। किन्तु जब हमारी आस्था इस बात से जुड़ी हुई होती है कि इस जीवन का मूल सूत्र भौतिक नहीं है, कोई अभौतिक सत्ता है, कोई शाश्वत चेतनसत्ता है, इस स्थिति में भौतिकता गौण हो जाती है। फिर हमारी आस्था मूल सत्ता के साथ, चेतना के साथ जुड़ जाती है। वह आस्था चेतना के परिष्कार की आस्था होती है। हाथ उठता है तो चेतना के परिष्कार के लिए उठता है। पैर उठता है तो चेतना के परिष्कार के लिए उठता है। सोना, जागना, खाना—सब कुछ चेतना के परिष्कार के लिए होता है। जीवन की सारी प्रवृत्तियां चेतना के परिष्कार के लिए होती है।

अज्ञानी सोता है, ज्ञानी जागता है

भगवान् महावीर ने कहा—'सुत्ता अमुणिणो मुणिणो सया जागरंति'—

अज्ञानी सदा सोता रहता है और ज्ञानी सदा जागता रहता है। ज्ञानी वह है जो जागता है और अज्ञानी वह है जो सोता है। ज्ञानी आदमी नींद लेते हुए भी जागता है और अज्ञानी आदमी आंख खुली रखते हुए भी सोता है। बड़ा आश्चर्य होगा। आंखें बन्द हैं। सोया पड़ा है। भान नहीं है, फिर भी महावीर कहते हैं—वह जाग रहा है। एक आदमी चल रहा है। आंखें खुली हैं। महावीर कहते हैं—वह सोया हुआ है। बहुत बड़ा विरोधाभास है। जागता आदमी सोया हुआ है और सोया आदमी जागा हुआ है। बहुत बड़ा रहस्योद्घाटन किया है महावीर ने। जो अज्ञानी है, जिसकी आस्था केवल भौतिक सत्ता के साथ जुड़ी हुई है, वह जागते हुए भी सोया हुआ है। वैसा व्यक्ति चेतना के परिष्कार के लिए कोई काम नहीं करता। वह चेतना को मूर्च्छित करने वाले कार्य करता है। वह जो भी करता है मूर्च्छा में करता है, बेहोशी में करता है, सोए हुए करता है। ज्ञानी सोए हुए भी जागता है। वह चेतना के परिष्कार के लिए काम करता है। वह सब कुछ होश में करता है, मूर्च्छा में नहीं। वह सब कुछ जागते हुए करता है। एक बहुत बड़ी बात कही गई कि साधु खाता है, उत्सर्ग करता है, वह सब धर्म है। साधु जो कुछ करता है वह धर्म होता है। गृहस्थ खाता है, उत्सर्ग करता है, वह सब पाप है। प्रथम दर्शन में लगता है कि यह सचाई नहीं है। किन्तु इस पाप-धर्म की बात को जब हम सूक्ष्म जगत् में उतर कर देखते हैं तो प्रतीत होता है कि यह एक बहुत बड़ी सचाई का उद्घाटन है। जिस व्यक्ति में चेतना के परिष्कार की भावना जाग गई, जो चेतना के परिष्कार में लग गया, जिसकी सारी ऊर्जा चेतना के परिष्कार में लग गई वह जो कुछ भी करता है, वह सारा धर्म ही है। जिसकी ऊर्जा चेतना के परिष्कार में नहीं लगी, उसका करना पाप है अधर्म है। साधु का मतलब केवल वेश पहनने मात्र से नहीं है। महावीर का यही आशय है। उन्होंने वेश को लक्ष्य कर कुछ नहीं कहा। उन्होंने चेतना को लक्ष्य कर ही सारा प्रतिपादन किया है। जिसकी यात्रा चेतना के जगत् में शुरू हो गई, जिसने चेतना के जगत् में एक पैर भी रख दिया, वह व्यक्ति चेतना के जगत् में रह कर जो कुछ करता है वह सारा का सारा धर्म है। जिसने चेतना की अन्तर् यात्रा शुरू नहीं की, वह व्यक्ति जो कुछ करता है वह अधर्म है, धर्म नहीं है।

मुख्य बात है—चेतना के परिष्कार की। चेतना का परिष्कार चाहे साधु करे या गृहस्थ करे। दोनों कर सकते हैं।

गृहस्थ के वेश में साधु : साधु के वेश में गृहस्थ

साधु कौन ? गृहस्थ कौन ? यह खोज का विषय है कि किस वेश में कौन बैठा है ? गृहस्थ के कपड़ों में बैठा हुआ साधु हो सकता है और साधु के कपड़ों में बैठा

हुआ गृहस्थ हो सकता है। मैं चेतन जगत् की चर्चा कर रहा हूं। जिसने चेतन जगत् की यात्रा शुरू कर दी, चेतना के जगत् में जिसके जीवन का क्रिया-कलाप प्रारंभ हो गया, वह साधु है। गृहस्थ का सारा क्रिया-कलाप बाह्य जगत् में होता है। वह चेतना का स्पर्श नहीं कर पाता। यह वेश से गृहस्थ की बात नहीं है।

ध्यान का उद्‌देश्य है—आस्था का निर्माण जो चेतना के साथ जुड़ी हुई है। उस आस्था के द्वारा जो कुछ होगा वह नई आदतें लाने वाला होगा। हम श्वास का प्रयोग इसीलिए करते हैं कि चेतना के साथ जुड़े हुए विषों और मलों को दूर करें, चेतना का परिष्कार करें। ऐसा होने पर नई आदतों का निर्माण होता है। यदि श्वास लेने की सही विधि हस्तगत हो जाती है और व्यक्ति सही ढंग से श्वास लेने लग जाता है, तो उसकी मूर्च्छा सघन नहीं होती। उसकी उत्तेजनाएं और वासनाएं तीव्र नहीं होतीं। जो व्यक्ति दीर्घ-श्वास का अभ्यास करता है, वह इन सारी बुराइयों को नियंत्रित कर देता है. और धीरे-धीरे इनसे छुटकारा पा जाता है। एक श्वास लेने की आदत को डालने का मतलब है बहुत सारी अच्छी आदतों का निर्माण करना। यदि श्वास लेने की आदत सही नहीं है, तो वह व्यक्ति अन्तर्यात्रा नहीं कर सकता।

ध्यान का प्रयोजन है—चेतना के साथ जुड़ी हुई आस्था का निर्माण। उस आस्था के आधार पर संचालित होने वाली नई आस्थाओं का निर्माण।

३२. वास्तविक समस्याएं और तनाव

१. हमारा जगत् विरोधी युगलों का जगत्।
- संबंध—विसंबंध।
- यथार्थ—कल्पना।

२. अध्यात्म—तनावमुक्ति का उपाय।

३. अंधविश्वास कहना दुःसाहस है।

४. ध्यान यथार्थ को झुठलाने का प्रयत्न नहीं।
ध्यान से सही निर्णय, सही दिशा में पुरुषार्थ।

५. तनाव का मूल—मूर्च्छा, यथार्थ = प्रतिबद्धता।

६. अनुप्रेक्षा का प्रयोजन—भ्रान्तियों का विघटन।

७. शास्त्र-चेतना क्यों है।
प्रेक्षा का तात्पर्य है—स्व-अवगति

८. विसंबंध की चेतना का जागरण अनुप्रेक्षा से।

बत्तीस

जितना पक्ष : उतना प्रतिपक्ष

हम जिस जगत् में जी रहे हैं, वह है विरोधी युगलों का जगत्। जगत् में एक भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो केवल एक ही हो, जिसका कोई विरोधी न हो। कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जिसका प्रतिपक्षी न हो। कोई भी शब्द ऐसा नहीं है, जिसका प्रतिपक्षी शब्द न हो। प्रकाश है तो अंधकार भी है। ठंडा है तो गरम भी है। अच्छा है तो बुरा भी है। जितना पक्ष है, उतना ही प्रतिपक्ष है। केवल एक उपलब्ध नहीं होता। युगल मिलता है। एक है, दूसरा विरोधी है। यह द्वन्द्वों का जगत् है। सर्वत्र द्वंद्व है—दो है। संयोग है, वियोग है। संबंध है, विसंबंध है।

तनाव का उपादान और निमित्त

इन विरोधी युगलों के जगत् में तनाव न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? यहां तनाव के उपादान भी हैं और निमित्त भी हैं। दोनों हैं। कोरा उपादान हो और निमित्त न हो, तो अभिव्यक्ति नहीं मिलती। कोरा निमित्त हो और उपादान न हो, तो भी कुछ नहीं बनता। उपादान और निमित्त—दोनों अपेक्षित होते हैं। उपादान मूल है और निमित्त सहयोगी। जब दोनों का योग होता है तब एक स्थिति का निर्माण होता है। तनाव के उपादान हैं—व्यक्ति का अपना अन्तस्तल, संस्कार, आंतरिक अर्जना, संचित कर्म और उसके विकार तथा मूर्च्छा, आसक्ति, ममत्व आदि। तनाव का निमित्त कारण है—सामाजिक परिस्थिति। आदमी सामाजिक वातावरण में जीता है, अकेला नहीं जीता। समाज में तनाव बढ़ाने के अनेक निमित्त हैं। पग-पग पर तनाव का निमित्त मिलता है। कोई नहीं बच सकता।

घटना कहीं : तनाव कहीं

घटना कहीं घटित होती है और यहां बैठा आदमी तनाव से भर जाता है।

ध्यान की चर्चा से मुझे वहुत समाधान मिला। मैं स्वयं मानसिक तनाव से ग्रस्त थी। अब आपने जो आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन दिया उसका प्रयोग कर मैं लाभान्वित हुई हूं और अब मैं अपने मरीजों को भी उस प्रयोग विधि से अवगत कराऊंगी।'

जो व्यक्ति स्वयं तनाव से भरा है, वह दूसरों को तनावमुक्त कैसे कर पाएगा? आज हम जिस जगत् में जी रहे हैं, वह सारा जगत् तनाव से भरा पड़ा है। अध्यात्म का मार्ग यदि हाथ न लगे, तो दुनिया में ऐसा एक भी तत्त्व नहीं है जो तनाव से मुक्ति दिला सके। धर्म और अध्यात्म की यही उपयोगिता है कि वे व्यक्ति को सारे तनावों से मुक्त करते हैं।

समस्या क्या? कितनी?

मनुष्य केवल रोटी के लिए नहीं जन्मा है। हमने मान लिया रोटी एक बहुत वड़ी समस्या है। बीमारी और अशिक्षा भी एक समस्या है। ये समस्याएं हैं, किन्तु एकमात्र ये ही समस्याएं नहीं हैं। आज विश्व के नेता अनाज, बीमारी और अशिक्षा की समस्या को मिटाने के लिए कृत-संकल्प हैं। अनेक उपाय खोजे जा रहे हैं। पृथ्वी पर उत्पन्न अन्न से अनाज की समस्या हल न हो सकने के कारण समुद्र पर खेती करने की बात सोची जा रही है। विश्व स्वास्थ्य संगठन इस चेष्टा में लगा हुआ है कि वह सारे विश्व को सन् २००० तक रोगमुक्त कर देगा। डब्ल्यू० एच्० ओ० (W. H. O.) की पत्रिका में पढ़ा कि यदि विश्व को रोगमुक्त करना है, तो केवल ऐलोपैथिक औषधियों के सहारे उसे रोगमुक्त नहीं किया जा सकता। उसके पास इतने साधन नहीं है। उस संस्थान के डाइरेक्टर जनरल ने सुझाया कि हम अपने उद्देश्य में तभी सफल हो सकते हैं, जब हम प्रचलित चिकित्सा की प्राचीन पद्धतियों को भी प्रोत्साहन दें। ओझा, मांत्रिक, तांत्रिक, आदिवासी भील, जर्रे आदि-आदि जिन-जिन पद्धतियों से चिकित्सा करते थे, उन सब पद्धतियों को भी समानरूप से व्यवहार में लाएं। तभी संभव है कि सन् २००० तक रोगों का उन्मूलन किया जा सके। कुछ वर्ष पूर्व तक विज्ञान ने जिन पद्धतियों को अंधविश्वास मानकर छोड़ दिया था, आज उन्हीं पद्धतियों को वैज्ञानिक प्रोत्साहन दे रहे हैं।

चमत्कार : अंधविश्वास

मैं नहीं जानता, अंधविश्वास क्या होता है? जो आदमी जिस वात को नहीं जानता, उसके लिए अंधविश्वास कह देना बहुत सुविधा की वात है। वात को समाप्त करने का यह सवसे सहज तरीका है। चमत्कार और अंधविश्वास— ये दो शब्द हैं। इनका प्रयोग करो और वात समाप्त। चमत्कार क्या है?

यह कोई झूठी बात नहीं है। चमत्कार वह होता है जिसे सब लोग नहीं कर पाते, कुछेक व्यक्ति ही कर पाते हैं। यदि सब करें, तो वह चमत्कार नहीं होता।

वेदान्त ने कहा—'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, माया है।' जैनों ने कहा—'जगत् माया है, मृगमरीचिका है। यह बात कहां से आई? मृगमरीचिका एक सत्य है, तभी यह बात कही जा सकती है, नहीं तो नहीं कही जा सकती है। कोई कहे मृगमरीचिका झूठ है। रण में पानी न होने पर भी जो पानी दिखाई देता है, वह मृगमरीचिका है। यदि कहीं पर पानी का अस्तित्व न हो, तो मृगमरीचिका की बात नहीं आ सकती। आकाश कुसुम—यह एक कल्पना है। यदि कुसुम का कहीं अस्तित्व न हो, तो आकाश कुसुम जैसी झूठी कल्पना भी नहीं की जा सकती। 'बांझ का बेटा'—यह एक प्रयोग है। यदि कहीं बेटे का अस्तित्व न हो, तो 'बांझ का बेटा' यह प्रयोग नहीं किया जा सकता। पानी का अस्तित्व है, फूल का अस्तित्व है, पुत्र का अस्तित्व है तभी मृगमरीचिका, आकाश-कुसुम और वन्ध्या-पुत्र—ये प्रयोग चलते हैं। इनका फलित यह है कि संसार में यदि कोई अनहोनी घटना घटित न हो, तो उसकी झूठी कल्पना भी नहीं की जा सकती। चमत्कार तभी कहा जा सकता है जब कहीं न कहीं वह घटना घटित होती है। सब उसे नहीं जानते। एक-दो ही उसे जानते हैं। यही बात अतीन्द्रिय ज्ञान के लिए है। जैसे-जैसे विज्ञान के चरण आगे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे अतीन्द्रिय ज्ञान और चमत्कार भी वैज्ञानिक सचाइयों के रूप में बदलते चले जा रहे हैं।

मानसिक तनाव : कहां कैसे ?

वर्तमान में रोटी की समस्या, बीमारी और अशिक्षा की समस्या को समाहित करने के लिए अनगिनत प्रयत्न हो रहे हैं। सभी राष्ट्र इस प्रयत्न में लगे हुए हैं कि मानवजाति इन तीनों समस्याओं से मुक्त हो। रोटी का अभाव न रहे, बीमारी का आतंक न रहे और अशिक्षा का मूल नाश हो जाए। इस दिशा में [illegible]

[illegible]

जहां स्वास्थ्य की सुविधाएं नही हैं, चिकित्सा के प्रयोग सुलभ नहीं हैं,वहां मानसिक तनाव कम है। इन लोगों की तुलना में शतांश मात्र है। जो राष्ट्र साक्षर हैं, जहां के नागरिक अशिक्षा से मुक्त हैं, वे भी तनावग्रस्त हैं। साक्षरता होने पर तनाव मिट जाएगा, यह कल्पना हो सकती है, पूर्ण यथार्थता नहीं है।

मूल है उपादान

मनुष्य का एक शाश्वत स्वभाव है। वह केवल रोटी से संतुष्ट नहीं होता। वह केवल चिकित्सा की सुविधा मिल जाने से संतुष्ट नहीं होता। वह केवल साक्षर हो जाने मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता। इन तीनों समस्याओं के सुलझ जाने पर भी उसके अन्तःकरण में एक टीस बची रह जाती है। उसमें असंतोष की ज्वाला धधकती रह जाती है। जब तक यह टीस नहीं मिटती, यह ज्वाला नहीं बुझती, तब तक तनाव नहीं मिट सकता, आदमी संतुष्ट नहीं हो सकता। वह टीस है—मूर्च्छा। वह ज्वाला है—मूर्च्छा। जब तक मूर्च्छा की चिकित्सा नहीं होगी, तब तक आदमी में संतोष नहीं आएगा। जब तक आदमी संतुष्ट नहीं होगा, तब तक वह तनाव से मुक्त नहीं होगा। कैसी विडंबना! आज के बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक, धुरन्धर शिक्षाशास्त्री और भूख की समस्या को मिटाने वाले वैज्ञानिक उन एकांगी सिद्धान्तों के आधार पर सारे संसार को सुखमय बनाने का सपना देख रहे हैं, किंतु उपादान को सर्वथा अस्वीकार कर चल रहे हैं। उस ओर ध्यान देना वे आवश्यक ही नहीं मानते। उपादान रहेगा तो कभी-कभी निमित्त आकर उस समस्या को उभार देगा। इसलिए सबसे महत्त्व की बात है कि उपादान पर सारा ध्यान केन्द्रित किया जाए। अध्यात्म की यही महत्त्वपूर्ण देन है। अध्यात्म के लोगों ने सबसे पहले उपादान पर ध्यान दिया। गहरे में जाकर मूल को पकड़ा। मूल है—मूर्च्छा। जब तक मूर्च्छा का निदान नहीं होगा, तब तक तनाव समाप्त नहीं होगा।

तनाव का मूल—मूर्च्छा

धर्म की समूची आराधना, अध्यात्म की सम्पूर्ण प्रक्रिया, ध्यान का अभ्यास—ये सब मूर्च्छा को समाप्त करने के साधन हैं। मूर्च्छा समाप्त होती है, तो तनाव समाप्त हो जाता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि धर्म, अध्यात्म और ध्यान की प्रक्रियाएं तनावमुक्ति की प्रक्रियाएं हैं।

हम मूल बात पर ध्यान दें। ध्यान के साथ अनुप्रेक्षा का अभ्यास करें। यह तनावमुक्ति का अचूक साधन है। प्रेक्षा का अर्थ है—देखना और अनुप्रेक्षा का अर्थ है—ध्यान में जो सचाइयां उपलब्ध हों उन्हें स्थिर बनाना, पुष्ट करना और नई आदतों का निर्माण करना।

कि मेरा कोई नहीं है, तो उसके चले जाने पर भी कोई कष्ट नहीं होगा। इस सचाई को गहराई से पकड़ें कि पदार्थ के आने-जाने से सुख-दुःख नहीं होता। वह होता है पदार्थ को अपना मानने या न मानने से। प्रथम श्रवण में यह बात विपरीत-सी लगती है, पर है यह सचाई। आदमी पदार्थ और व्यक्ति से अपने आप को इतना अभिन्न मान लेता है कि उसके मन में एक भ्रान्ति पनप जाती है। जब अभिन्नता खंडित होती है तब साथ-साथ भ्रान्ति भी खंडित होती है। भ्रान्ति का खंडित होना दुःख का कारण बनता है। हम भ्रान्तियों को न पालें।

भ्रान्तियों का विघटन

अनुप्रेक्षा का प्रयोजन है—भ्रान्तियों को खंडित करना। मनुष्य जितनी ज्यादा भ्रान्तियां पालता है उतना ही अधिक वह दुःखी बनता है। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा हम सचाइयों को जानें और अनुप्रेक्षा के अभ्यास से उन भ्रान्तियों को तोड़ें।

पहली अनुप्रेक्षा है—अनित्य अनुप्रेक्षा। कोई भी संयोग या संबंध शाश्वत नहीं है। युगल है। कुछ शाश्वत है, कुछ अशाश्वत। कुछ नित्य है, कुछ अनित्य। दोनों साथ-साथ चलते हैं। संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है एक भी संयोग ऐसा नहीं है जो नित्य हो। वह संयोग है, अनित्य है। कभी नित्य नहीं होगा। किन्तु मूर्च्छा के कारण संयोग को नित्य मान लिया जाता है। अनित्य को नित्य मान लिया जाता है। दुःख का बीजारोपण यहीं से शुरू हो जाता है। जब उस पदार्थ या व्यक्ति से विसंबंध होता है तब दुःख उभर आता है। क्या यह पदार्थ या व्यक्ति के वियोग से उत्पन्न दुःख है? नहीं, यह अनित्य को नित्य मानने की भ्रान्ति के टूटने का दुःख है। मनुष्य का स्वभाव ही है कि वह पहले झूठी मान्यताओं का महल खड़ा करता है और उनके टूटने पर दुःखी होता है।

प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति प्रारंभ से ही सावधान हो जाता है। वह भ्रान्तियों के वात्याचक्र में नहीं फंसता। वह सचाइयों के साथ जीने का प्रयत्न करता है। ध्यान की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि व्यक्ति सचाइयों को स्वीकार करे और उनके साथ जीना प्रारम्भ करे। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता, मन को एकाग्र नहीं करता, मन के मलों का प्रक्षालन नहीं करता, मलों का संचय करता चला जाता है, वह अनेक प्रकार के असत्यों के साथ जीता है। वह व्यक्ति अनेक कठिनाइयों को पालता है, उन्हें पोषण देता है।

छोटा बच्चा सड़क के किनारे खेल रहा था। किसी ने कहा—'सड़क पर मत खेलो। मोटरें बहुत चलती हैं। कोई मोटर ऊपर से न निकल जाए।' बच्चे ने कहा—'कोई परवाह नहीं है। मेरे ऊपर से रोज दस हवाईजहाज निकलते हैं। आज तक कुछ नहीं बिगड़ा। एक मोटर के निकल जाने से क्या होगा?'

प्रेक्षा : स्व-अवगति

जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं—प्रकंप और अप्रकंप। सारा प्रकंप अनित्य है। प्रकंप आता है, नष्ट होता है। दूसरा आता है, नष्ट होता है। यह प्रकंपन का ज्ञान, अनित्यता का बोध अपने अनुभव से जागे। शरीर-प्रेक्षा करने वाले को यह सहज अनुभव हो सकता है। यह स्वयं जानने की प्रक्रिया है। यही स्वयं सत्य को खोजने की प्रक्रिया है। ध्यान और अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया इसे और गतिमान करती है।

विसंबंध की चेतना

अनुप्रेक्षा का पहला सूत्र है—अनित्य अनुप्रेक्षा। हम इसका अनुभव करें कि संसार में जो भी है सारा अनित्य है। कोई संबंध शाश्वत नहीं है। हम प्रेक्षा करते-करते इस सचाई तक पहुंचें कि जितने संयोग हैं वे सारे वियोग वाले हैं। अगर इस सचाई तक पहुंच जाते हैं, तो अशाश्वत को शाश्वत मानने की भ्रान्ति खंडित हो जाती है और पदार्थ के वियोग से होने वाले सारे संताप समाप्त हो जाते हैं। उससे नई आदत और नए संस्कार का निर्माण होता है। जैसे पदार्थ के संबंध से एक आसक्ति का संस्कार बनता है और वह संस्कार पदार्थ के चले जाने पर दुःख देता है वैसे ही पदार्थ के विसंबंध का संस्कार अनुप्रेक्षा के द्वारा निर्मित हो जाए, तो आदमी कभी संतप्त नहीं होगा। आदमी प्रतिदिन अनुप्रेक्षा के द्वारा इस सचाई का अनुभव करे कि वियोग पहला छोर है, संयोग दूसरा छोर है। वियोग पहला द्वार है, संयोग दूसरा द्वार है। उसे दोनों सचाइयां एक साथ प्रतीत होने लग जाएं। संबंध की भांति विसंबंध की आदत भी निर्मित हो जाए, तो आदमी यथार्थ के जगत् में जी सकता है और यथार्थ के जगत् में घटित होने वाली यथार्थ की समस्याओं को यथार्थ की भूमिका पर खड़े होकर सामना कर सकता है।

तैंतीस

शरण-विवेक

एक भाई ने कहा—हम प्रतिदिन इस सूत्र को दोहराते हैं—**अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि**—मैं अर्हत् की शरण में जाता हूं, मैं सिद्ध की शरण में जाता हूं।' हम दूसरों की शरण में क्यों जाएं? जब सब कुछ पुरुषार्थ के द्वारा उपलब्ध होता है तब दूसरों की शरण क्यों?

जो दूसरों की शरण में जाता है वह खाली हाथ लौटता है। उसे कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। जो अपनी शरण में जाता है वह सब कुछ पा लेता है। अर्हत् की शरण में जाना, सिद्ध की शरण में जाना, साधु की शरण में जाना और धर्म की शरण में जाना, किसी दूसरे की शरण में जाना नहीं है, यथार्थ में वह अपनी ही शरण में जाना है। कोई व्यक्ति कहता है—'सत्यं शरणं गच्छामि', मैं सत्य की शरण में जाता हूं। सत्य की शरण में जाना अपने आपकी शरण में जाना है। आत्मा की शरण में जाना, सत्य की शरण में जाना और अर्हत् की शरण में जाना एक ही बात है।

अर्हत् वह होता है जिसकी सारी अर्हताएं व्यक्त हो जाती हैं। कोई भी अर्हता छिपी नहीं रहती। हर आत्मा में अनन्त अर्हताएं हैं। जिसकी सारी अर्हता, क्षमता, योग्यता या शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है वह अर्हत् बन जाता है। अर्हत् की शरण में जाने वाला अपनी आत्मा की योग्यता की शरण में जाता है, अपनी शक्ति की शरण में जाता है।

शक्ति-परिचय

व्यक्ति को अपनी शक्ति का ज्ञान नहीं होता। यह सबसे बड़ा आश्चर्य है। वे शक्तियां छिपी हुई रह जाती हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जिसमें शक्तियां न हों। बहुत कम लोग ऐसे हैं जिन्हें अपनी शक्तियों का भान हो। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो अपनी शक्तियों का पूरा उपयोग करते हों। मनोविज्ञान कहता

था। आज वैसी स्थिति नहीं है।

अल्प आयुष्य क्यों ?

आयु कम होने के दो कारण हैं—भोजन और तनाव। स्थानांग सूत्र में अकाल-मृत्यु के सात कारण बतलाए हैं। उनमें एक है अतिभोजन और दूसरा है—अभोजन। अतिभोजन से भी अकाल-मृत्यु होती है और अ-भोजन से भी अकाल-मृत्यु होती है। कुछ लोग अतिभोजन का समर्थन करते हैं। वे मानते हैं कि जो ज्यादा खाता है वह ज्यादा शक्तिशाली होता है, वह ज्यादा काम करता है। यह कितनी भ्रान्त धारणा है !

अति-भोजन

भोजन के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक मान्यताएं प्रचलित होती रहती हैं। एक युग आया केलौरी का। यह माना जाने लगा कि प्रत्येक व्यक्ति को एक दिन में इतनी केलौरी अवश्य लेनी चाहिए। चीनी में अधिक केलौरी होती है—यह जानकर लोग चीनी को अधिक खाने लगे। परिणामस्वरूप अनेक बीमारियां होने लगीं। उस पर नियंत्रण किया गया। फिर प्रोटीन का युग आया। मान्यता बन गई कि प्रोटीन अधिक खाना चाहिए। मैंने पहले जो कहा कि पचास वर्ष पूर्व लोग अल्पायु में मर जाते थे, उसका एक कारण यह था कि वे प्रोटीन अधिक मात्रा में खाते थे। घी, दूध, मक्खन और दाल—इनमें प्रोटीन अधिक होता है। लोग इन्हें ज्यादा खाते। इनको पचा पाना सरल नहीं था, अतः अनेक बीमारियां पनपीं। लोग अकाल में ही मृत्यु-कवलित हो जाते। यह आयुष्य की कमी का भी कारण बना। तीसरा युग आया विटामिन का। लोग विटामिन की गोलियों का अंधाधुन्ध प्रयोग करने लगे। इस अति प्रयोग से लाभ के बदले हानि अधिक हुई। इस मात्रा की अति के कारण अकाल-मृत्यु होने लगी।

अ-भोजन

जिस प्रकार अति-भोजन अकाल-मृत्यु या अल्प आयुष्य का कारण बनता है वैसे ही अ-भोजन भी अकाल मृत्यु या अल्प आयुष्य का कारण बनता है। अ-भोजन का अर्थ भोजन का न मिलना ही नहीं है किन्तु अपोषक भोजन भी है। जैसे भोजन नहीं करने वाला कुछ दिन जीवित रहता है, वैसे ही अपोषक भोजन करने वाला कुछ ही दिन जीवित रहता है। शरीर-निर्वाह के लिए पर्याप्त पोषण आवश्यक होता है। तीन शब्द हैं—पोषण, अपोषण और कुपोषण। ये भोजन की तीन अवस्थाएं बन जाती हैं। एक है अपोषण की अवस्था। जब शरीर-तंत्र को चलाने के लिए पर्याप्त मात्रा में पोषण नहीं मिलता तब वह रोग-ग्रस्त हो जाता

मां की शरण मृत्यु बन गई

एक भाई ने बताया कि एक बड़े डॉक्टर ने उसके बच्चों का ऑपरेशन किया और नई समस्या पैदा हो गई। बीमारी थी पैर की और ऑपरेशन किया एपेन्डिसाइड का। ऑपरेशन से ठीक नहीं हुआ। बड़े से बड़ा डॉक्टर कहता कि दो लाख रुपये खर्च होंगे तब कहीं यह बच्चा ठीक हो सकता है, अन्यथा नहीं। बड़े डॉक्टरों की शरण में जाना भी खतरे से खाली नहीं होता। जहां शरण दूसरे की है, वहां खतरा निश्चित है।

बच्चे को ज्वर आ गया। कई दिन बीत गए। वैद्य ने खाने पर नियंत्रण कर दिया। दूध और रूखी रोटी दी जाने लगी। बच्चा छोटा था। एक दिन उसने दूसरे बच्चों को मिठाई खाते देख लिया। उसका मन मिठाई खाने के लिए ललचा उठा। पिताजी से कहा, भाई और बहन से मिठाई मांगी। किसी ने नहीं दी, तब वह मां के पास पहुंचा। मां का मन पिघल गया। सोचा, बहुत दिनों से बच्चे ने कुछ नहीं खाया। इसका मन मिठाई के खाने लिए ललचा रहा है। एक लड्डू दे दूं तो क्या फर्क पड़ेगा। बच्चे को लड्डू मिल गया। उसने बड़े स्वाद से उसे खाया। ज्वर का प्रकोप बढ़ा और तीन ही दिनों में बच्चा मर गया। मां की शरण भी बच्चे के लिए खतरा बन गई।

शरण-अशरण की सीमारेखा

जहां भी दूसरे की शरण है वहां स्व से व्यवधान पैदा हो जाता है। जब व्यक्ति अपने से हटकर दूसरे के पास चला जाता है वहां खतरे की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह मैं कहना नहीं चाहता कि आप दूसरों की शरण में ही नहीं, क्योंकि सामाजिक बंधनों को तोड़ने की बात मैं कैसे कहूं? मैं आपको सर्वथा असहाय, अत्राण और अशरण होने की बात नहीं कह सकता। किन्तु इस सचाई से अवश्य ही अवगत कराना चाहता हूं कि जहां हम शरण समझते हैं वहां शरण होता भी है और नहीं भी होता। अशरण को शरण मान लेने पर बहुत बड़ी भ्रान्ति होती है।

महावीर ने कहा — 'नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा'—जिस परिवार को मनुष्य त्राण और शरण मानता है, वह परिवार कभी त्राण और शरण नहीं बनता। न तुम उसे त्राण और शरण दे सकते हो और न वह तुम्हें त्राण और [illegible] है। [illegible] सामाजिक [illegible] बात लगती है।

[illegible] ?

[illegible] है। एक है व्यक्ति का आयाम और दूसरा

यहां सब अनुकरण होता है। बहुमत चलता है। यदि बहुमत पागलों का होता है तो समझदार को भी पागल करार दे दिया जाता है और बहुमत यदि चोरों का होता है तो एक ईमानदार को चोर बना दिया जाता है। यह बहुत ही कम संभव है कि जहां हजारों-हजारों लोग बेईमानी और अप्रामाणिकता का जीवन जीते हों, वहां कोई दो-चार आदमी ईमानदारी और प्रामाणिकता का जीवन जी सकें। एक भाई ने बताया। वह आसाम गया, नौकरी की तलाश में। एक सेठ ने कहा—'तुम्हें अच्छा वेतन दूंगा। मेरे यहां काम भी हल्का ही है। केवल दो नम्बर के खाते संभालना है।' उसने कहा—मैं अणुव्रती हूं। यह काम नहीं कर सकूंगा।' सेठ ने कहा—'यहां आए ही क्यों? जाओ, घर में मौज करो।'

वह दूसरे स्थान पर गया। वहां मिलावट का काम होता था। वहां भी उसे नौकरी नहीं मिली। वह घर चला आया।

इसका फलित यह होता है कि जिस समाज में बहुत लोग अप्रामाणिक हों, वहां कुछेक लोग प्रामाणकिता का जीवन जी सकें, यह असंभव बात है। समाज का सारा काम बहुमत के आधार पर चलता है। इसीलिए एक विचारक ने कहा—बहुमत का अर्थ है—नास्तिकता। यह उचित है, क्योंकि जहां बहुमत के आधार पर काम होता है, वहां सत्य नहीं हो सकता। वहां इच्छा का राज होता है, इच्छा चलती है।

समाज का सूत्र है—अनुसरण और अनुसरण का अर्थ है—विस्तार। जहां विस्तार है वहां निर्मलता रह नहीं सकती। निर्मलता अन्तर्मुखता में होती है। जहां बहिर्मुखता है, दूसरों को देखने की प्रवृत्ति है वहां प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का निर्धारण दूसरों के आधार पर करता है, वहां सत्य की बात नहीं हो सकती, वहां मात्र अनुसरण होता है।

व्यक्ति का अर्थ

जीवन का दूसरा पक्ष है—व्यक्ति का जीवन। व्यक्ति का अर्थ है—सिकुड़ना, संकुचन, अनुसरण की समाप्ति, दूसरों को न देखना, स्वयं को देखना, अपना विश्लेषण, अपनी खोज, अपना चिन्तन, अपनी समस्या और अपना समाधान।

ध्यान व्यक्ति : ज्ञान समाज

ध्यान का सूत्र है—व्यक्ति और ज्ञान का सूत्र है—समाज। ज्ञान और ध्यान में बहुत बड़ा अन्तर है। ज्ञान समाज के आधार पर चलता है और ध्यान व्यक्ति के आधार पर चलता है।

चेतना के दो स्तर हैं—चल और स्थिर। जो चेतना चल है वह ज्ञान

आलम्बन के कोई जीव जीवित नहीं रह सकता। इसके अभाव में एक दूसरे को मारना, काटना—यही पनपेगा। जब तक अहिंसा का भाव विकसित नहीं होता तब तक एक प्राणी दूसरे प्राणी के साथ रह नहीं सकता। यह अहिंसा का भाव गांव या समाज के निर्माण का आधार बना। सभी व्यक्तियों ने यह समझौता किया कि हम साथ रहेंगे। किसी को घात नहीं पहुंचायेंगे। किसी को नहीं मारेंगे। गांवों में व्यापार इसी सूत्र पर विकसित हुआ कि कोई विश्वासघात नहीं करेगा, कोई किसी को धोखा नहीं देगा, किसी न किसी की संपत्ति नहीं हड़पेगा, अप्रमाणिकता नहीं बरतेगा। इन सूत्रों के आधार पर व्यवसाय का विकास हुआ। लाखों-करोड़ों का लेन-देन विना लिखा-पढ़ी के होता था। न साक्षी और न और कुछ। सब कुछ जवानी लेन-देन। विश्वास की यह पराकाष्ठा थी। जबान का मूल्य जीवन से बढ़कर था। बात को रखने के लिए मृत्यु-वरण स्वीकार करना सहज-सरल बात थी।

जबान का मूल्य

गुजरात के एक प्रसिद्ध सेठ थे—भैंसाशाह। वे जबान के धनी थे। उनका अपना करोड़ों का व्यवसाय था। एक बार वे व्यापार के निमित्त कहीं अनजाने प्रदेश में चले गए। वहां उन्हें एक लाख रुपयों की जरूरत पड़ी। वहां कोई जान-पहचान वाला नहीं था। वे बाजार में गए। एक साहूकार की पेढ़ी पर चढ़े। साहूकार ने उनका स्वागत किया। भैंसाशाह ने कहा—एक लाख रुपयों की आवश्यकता है। यह लो मेरी मूंछ का बाल। इसे रखो। मैं ब्याज सहित पूरे रुपये चुकाकर यह बाल ले जाऊंगा। सेठ के बाल को रखकर उसने एक लाख रुपये दे दिए।

समाज विकास के सूत्र

आप इस घटना को आज के व्यवहार से मिलाएं। वहां वह सघन विश्वास और प्रामाणिकता और कहां आज सघन विश्वासघात और अप्रामाणिकता। दोनों स्थितियों में रात-दिन का अन्तर है। आज तो सारी मूंछ उखाड़कर दे दें तो भी पांच रुपये मिलना मुश्किल है और यदि कोई विश्वास में दे देता है तो धोखा ही खाना पड़ता है। उस समय सारा व्यवसाय चलता था जबान के आधार पर। गांव का विकास अहिंसा के आधार पर हुआ। गांव में आवश्यक व्यवसाय का विकास सत्य और अचौर्य के आधार पर हुआ। गांव में स्त्री-पुरुष का एक साथ रह पाना ब्रह्मचर्य के आधार पर हुआ। दाम्पत्य-जीवन का भी यही आधार बना। लोगों ने स्वीकार कर लिया कि दाम्पत्य को कोई खंडित नहीं करेगा। अपरिग्रह के आधार पर बहुत सारी सामाजिक व्यवस्थाओं का विकास

नहीं होता। साधु का अर्थ है—अपने जीवन की साधना। साधु के शरण में जाने का अर्थ है—अपने जीवन की साधना की शरण में जाना। जो व्यक्ति साधना की शरण में जाता है वह त्राण पा लेता है और जो साधना की शरण में नहीं जाता वह त्राण नहीं पा सकता। साधना की शरण में जाना भी सरल नहीं है। उसमें बड़ा भय लगता है। बहिनें घंटों तक रसोई घर में बैठने से नहीं घबरातीं। इतना ताप सहन करना उनके लिए सहज-सा बन गया है। पर एक घंटा ध्यान करने में उन्हें अपार कष्ट की अनुभूति होती है। इसीलिए लोग सोचते हैं कि ध्यान अपने आप हो जाए, कुछ करना न पड़े। जब वह सिद्ध होने लगेगा तब हम प्रयत्न करेंगे।

एक व्यक्ति तैरना सीखना चाहता था। वह तालाब पर गया। पानी में उतरा। पैर फिसल गया। डूबने लगा। एक व्यक्ति ने उसे पकड़ लिया। उससे कहा—कल फिर आना। धीरे-धीरे तैरना सीख जाओगे। उसने कहा—जब तक तैरना नहीं सीख जाऊंगा तब तक तालाब पर नहीं आऊंगा।

बड़े आश्चर्य की बात है। तैरना सीखना है और तालाब पर न आने की प्रतिज्ञा है—तब तैरना कैसे सीखा जा सकेगा? बहुत सारे लोग इसी भाषा में सोचते हैं—जब तक ध्यान करना नहीं सीख लूंगा तब तक शिविर में नहीं जाऊंगा। उन्हें साधना करने में भय लगता है। आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है—

'मूढात्मा यत्र विश्वस्तः, ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः॥

मूर्छित चेतना वाला व्यक्ति जहां विश्वास करता है, उससे बड़ा खतरा कोई हो नहीं सकता। जहां त्राण है वहां वह जाना नहीं चाहता और जहां अत्राण है वहां वह निडर होकर जाता है। जिससे वह डरता है उससे बड़ा कोई त्राण नहीं है और जहां त्राण मानता है उससे बड़ा कोई खतरा नहीं है।

मूर्च्छा के कारण जीवन में ऐसे विपर्यय पलते हैं।

अपनी शरण क्या?

- साधना की शरण में जाना दूसरे की शरण में जाना नहीं है।
- धर्म की शरण में जाना दूसरे की शरण में जाना नहीं है।
- यह सब अपनी ही शरण में जाना है।
- अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म—ये हमारे अस्तित्व के ही अंग हैं। इनकी शरण में जाना अपने अस्तित्व की शरण में जाना है। यह दूसरे की शरण में जाना नहीं है।
- अध्यात्म का सूत्र यही है—अपनी शरण में जाओ, दूसरों की शरण में मत जाओ।

३४. काल्पनिक समस्याएं और तनाव

चौंतीस

संयम है अति से बचना

मनुष्य बहुत बार कल्पना के जगत् में जीता है। कल्पना अच्छी भी है और बुरी भी है। जो कल्पना यथार्थ तक पहुंच जाए वह अच्छी है और जो कल्पना केवल कल्पना ही बनी रहे, यथार्थ के आकाश को छू न पाए, वह बुरी है। मनुष्य जितनी कल्पनाएं करता है उतना ही वह उनसे ग्रस्त होता जाता है। स्मृति भी जरूरी है और कल्पना भी जरूरी है, किन्तु अतिस्मृति और अतिकल्पना—दोनों खतरनाक हैं। पता नहीं, मनुष्य को अति में जाना पसन्द क्यों है? वह किसी भी पक्ष में अति से क्यों नहीं बच पाता? वह हर बात में अति करता है, करना चाहता है। मन में एक प्रकार की मूर्च्छा के कारण वह संयम नहीं कर पाता। संयम का अर्थ है—अति से बचना। यह जीवन का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। भोजन का संयम करना—इसका यह अर्थ नहीं है कि भोजन न किया जाए। भोजन के बिना प्राण नहीं टिकते। भोजन के बिना जीवन-यात्रा नहीं चल सकती। भोजन जरूरी है, किन्तु जब उसकी अति होती है, तब समस्याएं उत्पन्न होती हैं। भोजन-संयम का अर्थ है—भोजन की अति से बचना शरीरधारी काम का भी सेवन करता है। इच्छाओं की पूर्ति भी करता है। शरीर और मन की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वह हर संभव प्रयत्न भी करता है। किन्तु जीवन के किसी भी क्षेत्र में जहां अति का प्रयोग होता है वहां कठिनाइयां पैदा होती हैं।

कामवृत्ति : कोणिक सचाई

मानसशास्त्री मानते हैं कि जीवन में काम (sex) आवश्यक है। फ्रायड ने इसका बहुत समर्थन किया। सभी मनोवैज्ञानिकों ने इसकी आवश्यकता महसूस की है। 'काम' मनुष्य की स्वभाविक वृत्ति है। उसकी पूर्ति नहीं होती है तो आदमी पागल हो जाता है। बहुत बार यह प्रश्न आता है कि मनुष्य यदि ब्रह्मचारी बना रहे तो वह पागल हो जाएगा। इस बात में सचाई नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा

शिव कौन नहीं ?

प्रत्येक आदमी शिव है। कोई भी अशिव नहीं है। जिसने अपने शिवत्व को प्रकट कर डाला, जिसने अपने महादेव को जगा दिया, जिसकी आत्मा में सुषुप्त शिव जाग गया, वह आदमी स्वयं शिव बन गया। साधना और ध्यान करने वाला, आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने वाला हर व्यक्ति शिव होता है। जिसने प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों को संयत कर अपने भीतर समाए हुए चैतन्य के स्पन्दनों का थोड़ा-सा साक्षात्कार किया है, उस व्यक्ति ने अपने शिवत्व को जगाने का अभ्यास किया है। जिसका शिवत्व जाग गया, वह हर आत्मा शिव बन गया।

प्रत्येक साधक शिव होता है और वह दर्शन-केन्द्र या तृतीय नेत्र को सक्रिय बनाकर होता है। वह अपनी पिच्यूटरी ग्लैन्ड को सक्रिय कर एड्रीनल को प्रभावित करता है, उसके स्राव को नियन्त्रित करता है। दूसरे शब्दों में, वह स्राव को बदल देता है और काम से अकाम बन जाता है। उसका काम उस तीसरे नेत्र से भस्म हो जाता है, समाप्त हो जाता है।

काम-विजय की प्रक्रिया

काम-विजय की भी एक प्रक्रिया है। जो इस प्रक्रिया को जाने बिना काम-विजय का प्रयत्न करता है वह कभी सफल नहीं होता। परिणाम विपरीत होता है और वह विक्षिप्त बन जाता है। इस एककोणीय सत्य को हम उसी कोण से देखें, समझें। हम यदि यह मान लें कि कोई ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकता या काम की मांग को पूरी किए बिना कोई अपना विकास नहीं कर सकता, पागलपन से मुक्त नहीं हो सकता तो यह बहुत बड़ा भ्रम होगा, असत्य का पोषण होगा। हम इस कोण को न भूलें कि साधना के लिए कामवासना का नियन्त्रण कितना अपेक्षित है।

ऊर्जा का उपयोग कहां ?

ध्यान साधक के लिए आहार का संयम भी बहुत अपेक्षित है। जो व्यक्ति अपनी सारी शक्ति भोजन के पाचन आदि में खपा देता है, वह ध्यान नहीं कर सकता, ध्यानी नहीं हो सकता। ध्यान का लाभ उसे कभी नहीं मिल सकता। ऊर्जा सीमित है। वह जितनी है उतनी ही है। उसका उपयोग चाहे भोजन पचाने में किया जाए या मस्तिष्कीय विकास में किया जाए। अतिरिक्त भोजन करने वाले व्यक्ति की सारी ऊर्जा आंतों में खप जाती है। यदि इतनी ऊर्जा पर्याप्त नहीं होती तो मस्तिष्क में काम आने वाली ऊर्जा भी वहां खप जाती है। मस्तिष्क शरीर का दो प्रतिशत भाग है। किन्तु उसे विद्युत् चाहिए बीस प्रतिशत। इतनी

शिव कौन नहीं ?

प्रत्येक आदमी शिव है। कोई भी अशिव नहीं है। जिसने अपने शिवत्व को प्रकट कर डाला, जिसने अपने महादेव को जगा दिया, जिसकी आत्मा में सुषुप्त शिव जाग गया, वह आदमी स्वयं शिव बन गया। साधना और ध्यान करने वाला, आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने वाला हर व्यक्ति शिव होता है। जिसने प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों को संयत कर अपने भीतर समाए हुए चैतन्य के स्पन्दनों का थोड़ा-सा साक्षात्कार किया है, उस व्यक्ति ने अपने शिवत्व को जगाने का अभ्यास किया है। जिसका शिवत्व जाग गया, वह हर आत्मा शिव बन गया।

प्रत्येक साधक शिव होता है और वह दर्शन-केन्द्र या तृतीय नेत्र को सक्रिय बनाकर होता है। वह अपनी पिच्यूटरी ग्लैन्ड को सक्रिय कर एड्रीनल को प्रभावित करता है, उसके स्राव को नियन्त्रित करता है। दूसरे शब्दों में, वह स्राव को बदल देता है और काम से अकाम बन जाता है। उसका काम उस तीसरे नेत्र से भस्म हो जाता है, समाप्त हो जाता है।

काम-विजय की प्रक्रिया

काम-विजय की भी एक प्रक्रिया है। जो इस प्रक्रिया को जाने बिना काम-विजय का प्रयत्न करता है वह कभी सफल नहीं होता। परिणाम विपरीत होता है और वह विक्षिप्त बन जाता है। इस एककोणीय सत्य को हम उसी कोण से देखें, समझें। हम यदि यह मान लें कि कोई ब्रह्मचारी हो ही नहीं सकता या काम की मांग को पूरी किए बिना कोई अपना विकास नहीं कर सकता, पागलपन से मुक्त नहीं हो सकता तो यह बहुत बड़ा भ्रम होगा, असत्य का पोषण होगा। हम इस कोण को न भूलें कि साधना के लिए कामवासना का नियन्त्रण कितना अपेक्षित है।

ऊर्जा का उपयोग कहां ?

ध्यान साधक के लिए आहार का संयम भी बहुत अपेक्षित है। जो व्यक्ति अपनी सारी शक्ति भोजन के पाचन आदि में खपा देता है, वह ध्यान नहीं कर सकता, ध्यानी नहीं हो सकता। ध्यान का लाभ उसे कभी नहीं मिल सकता। ऊर्जा सीमित है। वह जितनी है उतनी ही है। उसका उपयोग चाहे भोजन पचाने में किया जाए या मस्तिष्कीय विकास में किया जाए। अतिरिक्त भोजन करने वाले व्यक्ति की सारी ऊर्जा आंतों में खप जाती है। यदि इतनी ऊर्जा पर्याप्त नहीं होती तो मस्तिष्क में काम आने वाली ऊर्जा भी वहां खप जाती है। मस्तिष्क शरीर का दो प्रतिशत भाग है। किन्तु उसे विद्युत् चाहिए बीस प्रतिशत। इतनी

ब्रह्मचर्य : प्राण-ऊर्जा का प्रज्ज्वलन

आज एक बड़ा संकट उपस्थित हुआ है। बहुत सारे लोग मनोविज्ञान की ओट लेकर अब्रह्मचर्य को उपादेय बतलाते हैं। उनका कहना है कि काम स्वाभाविक वृत्ति है। उसके सेवन में कोई दोष नहीं है। बाहरी दृष्टि से कोई दोष नहीं है—यह मान भी लें क्योंकि एक अब्रह्मचारी आदमी शरीर से स्वस्थ हो सकता है, वह मांसल और सुन्दर लग सकता है। उसका चेहरा तेजस्वी और दीप्तिमान् हो सकता है। किन्तु आन्तरिक दृष्टि से वह खोखला ही होता है।

आचार्य श्री दिल्ली में थे। पत्रकार गोष्ठी थी। एक पत्रकार ने पूछा—साधु ब्रह्मचारी होते हैं। उन्हें बहुत तेजस्वी होना चाहिए। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट होना चाहिए। चेहरे पर चमक होनी चाहिए। पर आपके साधुओं में यह सब दिखाई नहीं देता। मैंने उस समय कुछ समाधान भी दिया। पर मेरे मन में एक प्रश्न पैदा हो गया कि क्या पत्रकारों का प्रश्न समुचित है? मैंने उसी दिन से खोज प्रारंभ की। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि शरीर पुष्ट होना, रक्त का लाल होना, शरीर में चमक-दमक होना—इन सब में ब्रह्मचर्य का कोई संबंध नहीं है। जो व्यक्ति इन सब का संबंध ब्रह्मचर्य के साथ जोड़ता है, वह बहुत बड़ी भ्रान्तियां पैदा करता है। मेरा यह कथन सुनने में अटपटा-सा लगता हो, पर है यह एक सचाई। मैं महावीर को उद्धृत करूं, बुद्ध और कबीर को उद्धृत् करूं, आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी को उद्धृत करूं—इन सब महात्माओं ने साधक का लक्षण जो बतलाया है, वह विचित्र है। महावीर ने ब्रह्मचारी के लिए एक विशेषण प्रयुक्त किया है—**'भासचछन्नेव जायतेजसे'**—ब्रह्मचारी राख से ढकी अग्नि की भांति होता है। कबीर ने कहा **'बाहर से तु कछुअ न दीखे, भीतर जल रही ज्योत।'** ऐसा होता है साधक। बाहर से कुछ नहीं दीखता, भीतर में ज्योति प्रज्वलित रहती है। आचार्य भिक्षु ने कहा—**'दुर्बल शरीर हुवै तपसी तणों।'** शरीर दुबला होता है, पर भीतर ज्योति जलती है। ब्रह्मचारी वह होता है जिसके भीतर प्राण की ज्वाला प्रज्वलित होती है और ऊपर से वह रूखा-सूखा-सा लगता है। ठीक इससे उल्टा होता है भोगी आदमी। वह बाहर से चमक-दमक वाला होता है और भीतर से सर्वथा शून्य। उसकी प्राण-ज्वाला बुझ जाती है। सारी प्राण-विद्युत् चुक जाती है।

प्राण-ऊर्जा का प्रभाव

जीवन का मूल आधार है—प्राण-शक्ति, वाइटेलिटी। जीवन का आधार रक्त और मांस नहीं है। लोगों ने यह मान रखा है कि शरीर में रक्त अच्छा रहेगा तो चमक रहेगी, अन्यथा नहीं। किन्तु इसका शक्ति के साथ सीधा संबंध

ब्रह्मचर्य : प्राण-ऊर्जा का प्रज्ज्वलन

आज एक बड़ा संकट उपस्थित हुआ है। बहुत सारे लोग मनोविज्ञान की ओट लेकर अब्रह्मचर्य को उपादेय बतलाते हैं। उनका कहना है कि काम स्वाभाविक वृत्ति है। उसके सेवन में कोई दोष नहीं है। बाहरी दृष्टि से कोई दोष नहीं है—यह मान भी लें क्योंकि एक अब्रह्मचारी आदमी शरीर से स्वस्थ हो सकता है, वह मांसल और सुन्दर लग सकता है। उसका चेहरा तेजस्वी और दीप्तिमान् हो सकता है। किन्तु आन्तरिक दृष्टि से वह खोखला ही होता है।

आचार्य श्री दिल्ली में थे। पत्रकार गोष्ठी थी। एक पत्रकार ने पूछा—साधु ब्रह्मचारी होते हैं। उन्हें बहुत तेजस्वी होना चाहिए। उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट होना चाहिए। चेहरे पर चमक होनी चाहिए। पर आपके साधुओं में यह सब दिखाई नहीं देता। मैंने उस समय कुछ समाधान भी दिया। पर मेरे मन में एक प्रश्न पैदा हो गया कि क्या पत्रकारों का प्रश्न समुचित है? मैंने उसी दिन से खोज प्रारंभ की। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि शरीर पुष्ट होना, रक्त का लाल होना, शरीर में चमक-दमक होना—इन सब में ब्रह्मचर्य का कोई संबंध नहीं है। जो व्यक्ति इन सब का संबंध ब्रह्मचर्य के साथ जोड़ता है, वह बहुत बड़ी भ्रान्तियां पैदा करता है। मेरा यह कथन सुनने में अटपटा-सा लगता हो, पर है यह एक सचाई। मैं महावीर को उद्धृत करूं, बुद्ध और कबीर को उद्धृत् करूं, आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी को उद्धृत करूं—इन सब महात्माओं ने साधक का लक्षण जो बतलाया है, वह विचित्र है। महावीर ने ब्रह्मचारी के लिए एक विशेषण प्रयुक्त किया है—'**भासच्छन्नेव जायतेजसे**'—ब्रह्मचारी राख से ढकी अग्नि की भांति होता है। कबीर ने कहा '**बाहर से तु कछुअ न दीखे, भीतर जल रही ज्योत।**' ऐसा होता है साधक। बाहर से कुछ नहीं दीखता, भीतर में ज्योति प्रज्वलित रहती है। आचार्य भिक्षु ने कहा—'**दुर्बल शरीर हुवै तपसी तणों।**' शरीर दुबला होता है, पर भीतर ज्योति जलती है। ब्रह्मचारी वह होता है जिसके भीतर प्राण की ज्वाला प्रज्वलित होती है और ऊपर से वह रूखा-सूखा-सा लगता है। ठीक इससे उल्टा होता है भोगी आदमी। वह बाहर से चमक-दमक वाला होता है और भीतर से सर्वथा शून्य। उसकी प्राण-ज्वाला बुझ जाती है। सारी प्राण-विद्युत् चुक जाती है।

प्राण-ऊर्जा का प्रभाव

जीवन का मूल आधार है—प्राण-शक्ति, वाइटेलिटी। जीवन का आधार रक्त और मांस नहीं है। लोगों ने यह मान रखा है कि शरीर में रक्त अच्छा रहेगा तो चमक रहेगी, अन्यथा नहीं। किन्तु इसका शक्ति के साथ सीधा संबंध

उसका प्रवाह व्यर्थ न जाए। वह वाहर न जाए। खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करते समय हाथों की अंगुलियों को शरीर से सटा कर रखें, जिससे की अंगुलियों से निकलने वाली विद्युत् पुनः शरीर में चली जाए। यदि हाथ को शरीर से सटा कर नहीं रखते हैं तो विद्युत् वाहर चली जाती है, व्यर्थ हो जाती है। प्राण-ऊर्जा का संचय वहुत महत्त्व का है। उससे हम अतिरिक्त कार्य कर सकते हैं। प्राण-ऊर्जा का काम इतना ही नहीं है कि व्यक्ति अपना जीवन जी सके। महत्त्वपूर्ण वात यह है कि प्राण-ऊर्जा से कोई विशेष कार्य किया जाए। वही आदमी जीवन में बड़ा काम कर सका है जिसने हाथ और पैरों का संयम साधा है, जिसने कान जौर आंख का संयम साधा है, जिसने जीभ और प्राण का संयम साधा है, जिसने मन और वाणी का संयम साधा है और जिसने इस संयम की प्रक्रिया से प्राण-ऊर्जा को वाहर जाने से रोका है और उसका अतिरिक्त संचय किया है, ऐसे व्यक्ति के मन में नई स्फुरणाएं होती हैं और वही व्यक्ति अनूठा काम करने में सफल हो पाता है। यह है संयम का एक मूल्य। इसी संदर्भ में संयम की वात अच्छी तरह समझ में आ सकती है।

यथार्थ का धरातल

संयम की साधना का सूत्र यथार्थ के जगत् में जीने का सूत्र है। यह सूत्र व्यक्ति को कामना और कल्पना से ऊपर उठाकर यथार्थ के धरातल पर ला खड़ा करता है। जिस व्यक्ति में प्राण-ऊर्जा प्रवल होती है, जिसका मनोबल वहुत दृढ़ होता है वह व्यक्ति काल्पनिक समस्याओं में नहीं उलझता। काल्पनिक समस्याएं उसी व्यक्ति को सताती हैं जिसका मनोवल दुर्वल होता है और मनोवल उसी व्यक्ति का दुर्वल होता है जिसकी प्राण-ऊर्जा न्यून होती है, संयम कम होता है।

आशंका : आशंका

आज का पढ़ा-लिखा आदमी संयम और त्याग को मखौल मानता है। जिसने जीवन की गहराइयों में उतरकर जीवन को पढ़ने का प्रयत्न नहीं किया, वह संयम का मूल्य नहीं समझ सकता। आप स्वयं अनुभव करें कि व्यक्ति कितनी काल्पनिक समस्याएं खड़ी कर लेता है और उसमें उलझ जाता है। व्यक्ति संदेहों का पुतला है। वह अनेक प्रकार के काल्पनिक संदेहों को पालता है और उनका शिकार होता है। वेटा वाप को और पति पत्नी को संदेह की दृष्टि से देखती है। भाई भाई को संदेह की दृष्टि से देखता है। इस संदेह से अनेक कल्पनाएं उभरती हैं। वुढ़ापे में क्या होगा? वीमार हो जाऊंगा तो क्या होगा? वेटा मर जाएगा तो क्या होगा? पत्नी मर जाएगी तो क्या होगा? इतनी कल्पना! इतनी आशंका! इतना भय! ऐसा लगता है कि जीवन में आश्वासन जैसा कुछ भी नहीं है। यह क्यों है? यह

उसका प्रवाह व्यर्थ न जाए। वह बाहर न जाए। खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करते समय हाथों की अंगुलियों को शरीर से सटा कर रखें, जिससे की अंगुलियों से निकलने वाली विद्युत् पुनः शरीर में चली जाए। यदि हाथ को शरीर से सटा कर नहीं रखते हैं तो विद्युत् बाहर चली जाती है, व्यर्थ हो जाती है। प्राण-ऊर्जा का संचय बहुत महत्त्व का है। उससे हम अतिरिक्त कार्य कर सकते हैं। प्राण-ऊर्जा का काम इतना ही नहीं है कि व्यक्ति अपना जीवन जी सके। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राण-ऊर्जा से कोई विशेष कार्य किया जाए। वही आदमी जीवन में बड़ा काम कर सका है जिसने हाथ और पैरों का संयम साधा है, जिसने कान जौर आंख का संयम साधा है, जिसने जीभ और प्राण का संयम साधा है, जिसने मन और वाणी का संयम साधा है और जिसने इस संयम की प्रक्रिया से प्राण-ऊर्जा को बाहर जाने से रोका है और उसका अतिरिक्त संचय किया है, ऐसे व्यक्ति के मन में नई स्फुरणाएं होती हैं और वही व्यक्ति अनूठा काम करने में सफल हो पाता है। यह है संयम का एक मूल्य। इसी संदर्भ में संयम की बात अच्छी तरह समझ में आ सकती है।

यथार्थ का धरातल

संयम की साधना का सूत्र यथार्थ के जगत् में जीने का सूत्र है। यह सूत्र व्यक्ति को कामना और कल्पना से ऊपर उठाकर यथार्थ के धरातल पर ला खड़ा करता है। जिस व्यक्ति में प्राण-ऊर्जा प्रबल होती है, जिसका मनोबल बहुत दृढ़ होता है वह व्यक्ति काल्पनिक समस्याओं में नहीं उलझता। काल्पनिक समस्याएं उसी व्यक्ति को सताती हैं जिसका मनोबल दुर्बल होता है और मनोबल उसी व्यक्ति का दुर्बल होता है जिसकी प्राण-ऊर्जा न्यून होती है, संयम कम होता है।

आशंका : आशंका

आज का पढ़ा-लिखा आदमी संयम और त्याग को मखौल मानता है। जिसने जीवन की गहराइयों में उतरकर जीवन को पढ़ने का प्रयत्न नहीं किया, वह संयम का मूल्य नहीं समझ सकता। आप स्वयं अनुभव करें कि व्यक्ति कितनी काल्पनिक समस्याएं खड़ी कर लेता है और उसमें उलझ जाता है। व्यक्ति संदेहों का पुतला है। वह अनेक प्रकार के काल्पनिक संदेहों को पालता है और उनका शिकार होता है। बेटा बाप को और पति पत्नी को संदेह की दृष्टि से देखती है। भाई भाई को संदेह की दृष्टि से देखता है। इस संदेह से अनेक कल्पनाएं उभरती हैं। बुढ़ापे में क्या होगा ? बीमार हो जाऊंगा तो क्या होगा ? बेटा मर जाएगा तो क्या होगा ? पत्नी मर जाएगी तो क्या होगा ? इतनी कल्पना ! इतनी आशंका ! इतना भय ! ऐसा लगता है कि जीवन में आश्वासन जैसा कुछ भी नहीं है। यह क्यों है ? यह

चिन्तन है पंगु

एक भाई ने पूछा—'हम प्रेक्षा-ध्यान में देखने का अभ्यास कर रहे हैं। इस प्रक्रिया में हमारी चिन्तन शक्ति ही समाप्त न हो जाए।

हमने चिन्तन को ही सब कुछ मान लिया है। चिन्तन बहुत छोटी बात है। इसे हमने अधिक मूल्य दे डाला। इसे ही जीवन का सर्वस्व मान लिया। कहां चिन्तन और कहां दर्शन ! बेचारा चिन्तन इतना पंगु है कि वह दर्शन के ऊंचे शिखर तक पहुंच ही नहीं सकता, उसकी तलहटी को भी नहीं छू पाता। विशिष्ट ज्ञान दर्शन '(इन्टयूसन) के द्वारा होता है। जब जीवन में दर्शन और उसके साथ-साथ प्राण-ऊर्जा के उन्नयन की बात आती है तब चिन्तन पीछा करता हुआ चला जाता है। जहां चेतना जाती है वहां प्राण-धारा जाती है। जो व्यक्ति चेतना को देखने का प्रयत्न करता है, वह प्राण-शक्ति को विकसित करने का प्रयास करता है। जो व्यक्ति चैतन्य को देखने का प्रयत्न नहीं करता, उसकी प्राण-शक्ति चुक जाती है।

हम इस सचाई को मानकर चलें कि संदेह, आशंका और भय के कारण पैदा होने वाली जितनी काल्पनिक समस्याएं हैं, वे सब मन में तनाव उत्पन्न करती हैं और तनाव हजारों कठिनाइयां पैदा करता है। हम काल्पनिक समस्याओं में न उलझें, और प्राण-ऊर्जा को अधिक से अधिक विकसित करने की दिशा में प्रस्थान करें।

पैंतीस

घर का जगत् : सड़क का जगत्

हम दो जगत् के बीच जीते हैं। एक है—घर का जगत् और दूसरा है—सड़क का जगत्। हर मनुष्य का यही क्रम है। वह घर का जीवन भी जीता है और सड़क का जीवन भी जीता है। मनुष्य ने मकान इसीलिए बनाया कि वह भीतर का जीवन जी सके। वह जीवन एक प्रकार का होता है और खुले आकाश में जीना, दूसरे प्रकार का होता है। बाहर के जीवन में और भीतर के जीवन में बहुत बड़ा अन्तर होता है। जब हम इन्द्रियों को बाहर व्यापृत करते हैं तब बाहर का जीवन प्रारंभ हो जाता है और जब हम उन्हें अन्दर व्यापृत करते हैं तब भीतर का जीवन प्रारंभ हो जाता है। बाहर का जीवन कभी-कभी मन को लुभाने वाला होता है तो कभी-कभी मन में घृणा पैदा करने वाला भी होता है। हम कान से सुनते हैं और बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं, तब भी ऐसा ही घटित होता है। कुछ प्रिय सुनाई देता है, कुछ अप्रिय सुनाई देता है। कुछ कानों को लुभावना लगता है, कुछ अलुभावना लगता है। कुछ शब्द प्रमोद भावना पैदा करते हैं और कुछ शब्द ईर्ष्या जगाते हैं। जब हमारी इन्द्रियां बाहर से संपर्क स्थापित करती हैं और हमारे व्यक्तित्व को बाह्य जगत् का व्यक्तित्व बनाती हैं, तब वे बाहर से कुछ लेती हैं और भीतर तक पहुंचा देती हैं। इनसे हमारे विचार बनते हैं, भावनाएं और संस्कार निर्मित होते हैं। इनके आधार पर हम किसी को मित्र और किसी को शत्रु मान लेते हैं; किसी को अच्छा और किसी को बुरा मान लेते हैं; किसी का कल्याण और किसी का अकल्याण चाहने लग जाते हैं। अनेक प्रकार की भावनाएं बनती हैं, बिगड़ती हैं। यह सारा होता है बाह्य जगत् के संपर्क के द्वारा। मनुष्य ने अपनी सारी शक्ति बाह्य जगत् के साथ लगा रखी है। वह बाह्य जगत् का ही परिष्कार और सुधार करने में लगा हुआ है। वह अपने आपको अच्छा-बुरा या सुखी-दुःखी अनुभव करता है तो वह भी बाह्य जगत् के परिप्रेक्ष्य में और बाह्य साधनों के कारण। प्रश्न होता है—क्या जीवन के साथ जुड़ी हुई सारी समस्याएं

इसीलिए यह अन्तर है। एक व्यक्ति का आन्तरिक जगत् वहुत कमजोर है और दूसरे व्यक्ति का आन्तरिक जगत् वहुत शक्तिशाली है। जिसकी प्राण-ऊर्जा सवल होती है उसका आन्तरिक जगत् वहुत शक्तिशाली होता है, और वह परिस्थिति पर हावी होकर उसको कुचल डालने में समर्थ होता है। जिसकी प्राण-शक्ति कमजोर होती है, वह परिस्थिति से दव जाता है। परिस्थिति उसे कुचल डालती है।

वाह्य परिस्थितियों के आधार पर सारी समस्याओं का समाधान ढूंढ़ना एक अंधेरे से दूसरे अंधेरे में भटकना है। इससे समाधान प्राप्त नहीं होता, भ्रांतियां प्राप्त होती हैं। परिस्थिति भी एक सचाई है। इसे हम अस्वीकार न करें, किन्तु वही सव कुछ है, यह कभी न मानें। हमारी आन्तरिक शक्ति वहुत प्रवल है। उसके समक्ष परिस्थिति की शक्ति नगण्य है, तुच्छ है।

अन्तर क्यों ?

हम सड़क के जीवन को भी समझें और मकान के जीवन को भी समझें। दोनों को सामने रखकर समस्याओं का समाधान ढूंढें। एक व्यक्ति सामान्य अप्रिय वात को सुनकर तमतमा उठता है। दूसरा व्यक्ति कठोर अप्रिय वचन सुनकर भी शान्त रहता है। यह अन्तर क्यों ? दोनों के समक्ष अप्रियता की परिस्थिति है। दोनों के समक्ष क्रोध करने के निमित्त हैं, किन्तु एक गुस्से से लाल हो जाता है और दूसरा शान्त रहता है। यह क्यों ? इसका कारण स्पष्ट है। जिस व्यक्ति ने अपने आन्तरिक भावों का परिमार्जन कर लिया वह अप्रिय वात सुनकर भी उत्तेजित नहीं होता और जिस व्यक्ति ने अपने अन्तर्-मन का शोधन नहीं किया, वह थोड़ी-सी अप्रिय परिस्थिति में उत्तेजित हो जाता है। वाह्य परिस्थिति तव तक आदमी को प्रभावित नहीं कर सकती जव तक उसके साथ भीतर की परिस्थिति या भाव न जुड़ जाए।

शास्त्र भार भी, दीप भी

विद्वान् लोग एक ही शास्त्र के अनेक अर्थ करते हैं। दो व्यक्ति एक ही शास्त्र को पढ़ते हैं। पर अर्थ-ग्रहण दोनों का भिन्न हो सकता है। दोनों में वहुत वड़ा अन्तर हो जाता है। ऐसा क्यों होता है ? 'भारोऽविवेकिनः शास्त्रम्'— जिसका अन्तर्विवेक जागृत नहीं होता उसके लिए शास्त्र भार वन जाता है। जिसका अन्तर्विवेक जागृत होता है उसके लिए शास्त्र मार्ग-दर्शक होता है। जिसका अन्तश्चक्षु जागृत नहीं है, उसके लिए शास्त्र अन्धकार बन जाता है और जिसका अन्तश्चक्षु जागृत है, उसके लिए शास्त्र दीप वन जाता है।

एक व्यक्ति काशी गया। वहां वारह वर्षों तक पढ़ता रहा। पंडित होकर वहां से गांव आया। गांव के वाहर श्मशान भूमि थी। वहां एक गधा खड़ा था।

विद्युत्प्रवाह से रूपान्तरण

वैज्ञानिकों ने कुछ प्रयोग किए। उन्होंने बिल्ली के संवेदन-केन्द्रों पर इलेक्ट्रोड लगा दिए और उनमें से विशेष प्रकार का विद्युत्-प्रवाह प्रवाहित किया। बिल्ली के वे केन्द्र निष्क्रिय हो गए। अब चूहे आते हैं। बिल्ली के सिर पर चढ़ते हैं, कूदते हैं, फांदते हैं। बिल्ली शान्त बैठी रहती है। न क्रोध आता है और न आक्रमण की भावना होती है। विद्युत्-प्रवाह के इस परिवर्तन से आश्चर्यकारी रूपान्तरण होता है।

आभामंडल का प्रभाव

प्राचीन साहित्य में चर्चा आती है कि वीतराग या तीर्थंकर के समक्ष नित्य-वैरी भी मित्र बन जाते हैं। उनके आभामंडल से विकीर्ण होने वाली रश्मियां सारे वातावरण को प्रभावित कर देती हैं। प्राणी वैर को भूल जाते हैं। इसका कारण है कि उन विशिष्ट साधकों की प्राण-ऊर्जा, प्राण-विद्युत् इतनी शक्तिशाली होती है कि उसकी परिधि में आने वाला प्रत्येक प्राणी शान्त और सहज हो जाता है। जो मारने या लड़ने की भावना से आता है वह भी शान्त हो जाता है। यह इसलिए कि उस प्राणी का ग्रन्थि-स्राव बदल जाता है। जिस स्राव के कारण उत्तेजना या बुरी वृत्ति पनपती थी, वह स्राव रुक जाता है और शान्त वृत्ति को पनपाने वाला स्राव उदित हो जाता है।

अध्यात्म : प्रतिरोधात्मक शक्ति

अध्यात्म और धर्म को मानने वाले लोग बाह्य परिस्थिति में ही न उलझे रहें। वे उसे ही अन्तिम सचाई न मानें। 'परिस्थिति ही सब कुछ है'—यह तब तक सत्य है, जब तक व्यक्ति आन्तरिक स्रावों को बदलना नहीं जानता। जब वह आन्तरिक स्रावों को बदलना जान जाता है तब वह परिस्थिति को सार्वभौम सत्ता नहीं सौंपता। उसे सचाई का पता लग जाता है। जो आन्तरिक स्रावों को बदलना नहीं जानता वह परिस्थिति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। जिस व्यक्ति को यह सूत्र मिल गया कि ध्यान-साधना द्वारा स्रावों को बदला जा सकता है, फिर परिस्थितियां उसके लिए व्यर्थ हो जाती हैं। परिस्थितियां तभी प्रभावकारी बनी रहती हैं जब उन्हें भीतर में पुष्ट होने का अवसर मिलता है। रोग उसी शरीर में वृद्धिगत होता है जिसकी प्रतिरोधात्मक शक्ति दुर्बल हो जाती है, रोग-निरोधक शक्ति कमजोर हो जाती है। शरीर में रोग के असंख्य कीटाणु हैं। किन्तु वे सक्रिय तभी बनते हैं जब रोग-निरोधक शक्ति दुर्बल हो जाती है। वे कीटाणु पनपते हैं और तब शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है। आप यह न मानें कि इस शरीर

लोभ, उत्तेजना करना सीखता है, वासनाओं को जन्म देता है। यह सचाई है, पर अधूरी है, पूरी नहीं। वह समाज के संपर्क में सीखता है, समाज में प्रगट करता है, किन्तु प्रगट करने का जो मूल कारण है वह समाज के संपर्क में नहीं आता। वह कारण अपने भीतर में है। वह कारण है—ग्रन्थियों का स्राव। यदि एड्रीनल ग्रन्थि को पिच्यूटरी ग्रन्थि से प्रभावित कर दिया जाए तो भयंकर से भयंकर परिस्थिति आने पर व्यक्ति का मन दूषित नहीं होता। चंडकोशिक सर्प भगवान् महावीर को डस रहा है। यह क्रोध उत्पन्न होने की स्थिति है। पर भगवान् महावीर की आंखों से करुणा की धारा वरस रही है। ऐसा क्यों? इसका कारण है कि भगवान् महावीर में वह तत्त्व ही समाप्त हो गया जो कपायों और वृत्तियों को उत्तेजित करने वाला था। जव स्राव ही वदल गया तो क्रोध कैसे आए?

महाराष्ट्र के एक महान् सन्त थे—एकनाथ। वे नदी से स्नान कर आ रहे थे। एक झरोखे के नीचे से गुजरना पड़ता था। ऊपर एक व्यक्ति बैठा था। उसने एकनाथ पर थूक दिया। एकनाथ पुनः स्नान करने नदी की ओर लौट गए। स्नान कर वापस आए। उस व्यक्ति ने पुनः थूक डाला। एकनाथ पुनः स्नान करने चले गए। इक्कीस वार ऐसा हुआ। पर उनको उत्तेजना नहीं आई। वे शान्त वने रहे। अन्त में वह व्यक्ति नीचे उतरा और एकनाथ के चरणों में गिर पड़ा। सदा उसी व्यक्ति को पैरों में गिरना पड़ता है जो उत्तेजना का जीवन जीता है। वह वोला—महाराज! मैंने धृष्टता करने में कोई कसर नहीं की तो आपने शान्ति और क्षमा की पराकाष्ठा ही दिखा दी। सन्त वोले—मैंने कोई विशेष काम नहीं किया है। तुम्हारे जैसा सहायक कभी-कभी ही मिल पाता है, क्योंकि आज मुझे इक्कीस वार नदी-स्नान करने का अवसर मिला। जीवन में ऐसा अवसर पहला ही था।

प्रश्न होता है, क्या यह कल्पनामात्र है या यथार्थ? क्या ऐसा संभव हो सकता है? हां, यह संभव है। जब उत्तेजना पैदा करने वाली ग्रन्थि सक्रिय रहती है तब तक ऐसा आचरण असंभव है किन्तु जब भीतर का स्राव वदल जाता है तव यह स्थिति संभव वन जाती है।

एक मुनि था। उसका नाम था कुगड्डुक। उसको भूख बहुत सताती थी। वह उपवास आदि तपस्या करने में असमर्थ था। उसके साथी मुनि तपस्या करते, आचार्य स्वयं तपस्या करते, पर वह प्रतिदिन भोजन करता। भूख को सहना उसके लिए असंभव सा हो गया था। आचार्य कहते—मुने! तपस्या किया करो। रोज खाना अच्छा नहीं है। हम सब उपवास करते हैं। तुमको भी करना चाहिए। वह अपनी दुर्बलता व्यक्त करता।

एक दिन सूर्योदय होते ही वह गुरु से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए गया। खिचड़ी मिली, घी नहीं मिला। भिक्षा लेकर वह अपने स्थान पर लौट आया।

अच्छी तरह से रह सकता है। जिसने अन्तर् जगत में रहना नहीं सीखा, वह व्यवहार के जगत् में होने वाली समस्याओं के भार को ढ़ोता चला जाता है, कभी समाधान नहीं पाता। धर्म का एक सूत्र है—वाह्य जगत् और आन्तरिक जगत् में संतुलन स्थापित करना। वाहरी परिस्थितियों और आन्तरिक परिस्थितियों में सामञ्जस्य स्थापित करना। वाहर को देखें तो भीतर को भी देखने का प्रयत्न हो। जव मुनि कहते हैं—दिन-रात का अधिकांश समय दूसरों के लिए वीतता है। थोड़े क्षण अपने लिए, केवल स्व के लिए, भी वीतने चाहिए। लोग सीधा उत्तर देते हैं—समय नहीं है। यह उत्तर सुनकर आश्चर्य होता है। चौवीस घंटों का समय क्या कम समय है? इस समय में आदमी वुहारी के काम से लेकर धन कमाने तक का सारा काम करता है। निरंतर हाथ-पैर हिलाता रहता है। गालियां देने और लड़ाई-झगड़े करने के लिए समय मिल जाता है। खेल-कूद, ऐश-आराम के लिए समय की तंगी नहीं है। वहुत समय है। किन्तु अन्तर् जगत् में जाने के लिए उसके पास समय नहीं है। क्या यह इतना व्यर्थ का काम है? क्या इसका जीवन में कोई प्रयोजन ही नहीं है? कुछ लोग कहते हैं—अध्यात्म की ओर प्रेरित करने के लिए वार-वार क्यों कहा जाता है? इसका सीधा उत्तर है कि आदमी करुणा से प्रेरित होकर ही ऐसा उपदेश देता है। जिस व्यक्ति ने देखा कि यहां प्रकाश है, वह दूसरों को भी उस प्रकाश का अनुभव कराना चाहता है। दूसरा व्यक्ति यदि नहीं मानता है, फिर भी उसका यही प्रयत्न रहता है कि वह भी उस प्रकाश का अनुभव करे, जिसका वह स्वयं अनुभव कर चुका है। यह इसीलिए कि उसमें करुणा का सागर हिलोरें ले रहा है। वह चाहता है कि सारे मनुष्य उस प्रकाश को पाकर शान्ति का अनुभव करें, आनन्द का अनुभव करें।

समय और समय

'समय नहीं है' यह तभी कहा जाता है जब तक व्यक्ति इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर लेता। एक बार भी जिस व्यक्ति ने ध्यान के आनन्द का अनुभव कर लिया, वह फिर उस कारा से मुक्त नहीं हो सकता। इस पिंजरे में फंसने वाला व्यक्ति बाहर जाना नहीं चाहता। पिंजरे का दरवाजा चाहे खुला ही क्यों न रहे, वह उड़ेगा नहीं। वह उस आनन्द को छोड़ना नहीं चाहेगा। जो व्यक्ति अन्तर् जगत् की थोड़ी भी झांकी पा लेता है, उसके पास अध्यात्म के लिए समय ही समय है। जब तक यह झांकी उपलब्ध नहीं होती, तब तक समय के अभाव की वात आदमी कहता चला जाता है। जब तक आदमी घरेलू झंझटों में फंसा रहता है तब लगता है कौन शिविर में जाकर कैद भोगे। न खाने-पीने की स्वतन्त्रता और न घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता। वड़ा ही अटपटा जीवन होता है शिविर का। किन्तु जव व्यक्ति एक वार आ जाता है, फिर यहां से जाते उसे कठिनाई महसूस

अच्छी तरह से रह सकता है। जिसने अन्तर् जगत में रहना नहीं सीखा, वह व्यवहार के जगत् में होने वाली समस्याओं के भार को ढ़ोता चला जाता है, कभी समाधान नहीं पाता। धर्म का एक सूत्र है—वाह्य जगत् और आन्तरिक जगत् में संतुलन स्थापित करना। वाहरी परिस्थितियों और आन्तरिक परिस्थितियों में सामञ्जस्य स्थापित करना। वाहर को देखें तो भीतर को भी देखने का प्रयत्न हो। जव मुनि कहते हैं—दिन-रात का अधिकांश समय दूसरों के लिए वीतता है। थोड़े क्षण अपने लिए, केवल स्व के लिए, भी वीतने चाहिए। लोग सीधा उत्तर देते हैं—समय नहीं है। यह उत्तर सुनकर आश्चर्य होता है। चौवीस घंटों का समय क्या कम समय है? इस समय में आदमी बुहारी के काम से लेकर धन कमाने तक का सारा काम करता है। निरंतर हाथ-पैर हिलाता रहता है। गालियां देने और लड़ाई-झगड़े करने के लिए समय मिल जाता है। खेल-कूद, ऐश-आराम के लिए समय की तंगी नहीं है। वहुत समय है। किन्तु अन्तर् जगत् में जाने के लिए उसके पास समय नहीं है। क्या यह इतना व्यर्थ का काम है? क्या इसका जीवन में कोई प्रयोजन ही नहीं है? कुछ लोग कहते हैं—अध्यात्म की ओर प्रेरित करने के लिए वार-वार क्यों कहा जाता है? इसका सीधा उत्तर है कि आदमी करुणा से प्रेरित होकर ही ऐसा उपदेश देता है। जिस व्यक्ति ने देखा कि यहां प्रकाश है, वह दूसरों को भी उस प्रकाश का अनुभव कराना चाहता है। दूसरा व्यक्ति यदि नहीं मानता है, फिर भी उसका यही प्रयत्न रहता है कि वह भी उस प्रकाश का अनुभव करे, जिसका वह स्वयं अनुभव कर चुका है। यह इसीलिए कि उसमें करुणा का सागर हिलोरें ले रहा है। वह चाहता है कि सारे मनुष्य उस प्रकाश को पाकर शान्ति का अनुभव करें, आनन्द का अनुभव करें।

समय और समय

'समय नहीं है' यह तभी कहा जाता है जब तक व्यक्ति इस क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर लेता। एक बार भी जिस व्यक्ति ने ध्यान के आनन्द का अनुभव कर लिया, वह फिर उस कारा से मुक्त नहीं हो सकता। इस पिंजरे में फंसने वाला व्यक्ति बाहर जाना नहीं चाहता। पिंजरे का दरवाजा चाहे खुला ही क्यों न रहे, वह उड़ेगा नहीं। वह उस आनन्द को छोड़ना नहीं चाहेगा। जो व्यक्ति अन्तर् जगत् की थोड़ी भी झांकी पा लेता है, उसके पास अध्यात्म के लिए समय ही समय है। जव तक यह झांकी उपलब्ध नहीं होती, तव तक समय के अभाव की वात आदमी कहता चला जाता है। जब तक आदमी घरेलू झंझटों में फंसा रहता है तव लगता है कौन शिविर में जाकर कैद भोगे। न खाने-पीने की स्वतन्त्रता और न घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता। वड़ा ही अटपटा जीवन होता है शिविर का। किन्तु जव व्यक्ति एक वार आ जाता है, फिर यहां से जाते उसे कठिनाई महसूस